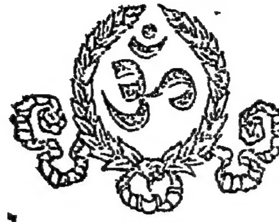


❀ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❀

भवाम्बुधिकर्णधाराय नमः ।

भक्तजनहृदयहाराय नमः ।

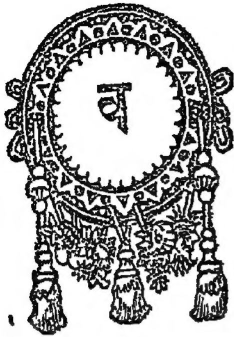
अथ




## उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

# * अष्टमोऽध्यायः *

ॐ शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्याः ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! ( ऋ० अ० ५ मं० ३ व० २८ मं० १ )



न्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं,
कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेशम् ।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं,
वृन्दवनालयमहं वसुदेवसूनुम् ॥ १ ॥

जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोयं,
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः ।
जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलांगो,
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥ २ ॥

नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः,
कुंभीपाकं गुरुमपि हरे! नारकं नापनेतुम् ।
रम्या रामा मृदुतनुलता नन्दनेनापि रन्तुम्,
भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम् ॥ ३ ॥

क्षीरसागरतरंगसीकरासारतारकितचारुमूर्त्तये ।
भोगिभोगशयनीयशायिने माधवाय मधुविद्विषे नमः ॥ ४ ॥

अपराधसहस्रसंकुलं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे! कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥ ५ ॥

अहा! प्रभातका समय है, यह फटरही है और रात्रिकी बची बचायी अंधियाली कर्पूरके समान संसारसे उडी चली जारही है।

अहा ! जगत् हृदयहर्ष बढानेवाली ऊषा कैसी सुहावनी दीखपडती है ! जहां शीतल-मन्द-सुगन्ध-समीरके झोंके मत्त हो झूम—झूमकर चल- रहे हैं और उन लोगोंपर जो प्रातःकालके कुक्कुटोंका शब्द सुनकर सुहावनी सेजको त्यागना चाहते थे, जादूका प्रभाव डालकर पुनः उनकी आंखें बन्द करारहे हैं। पृथ्वीकी हरी-भरी लहलहातीहुई बन- स्पतियोंपर शीतकण ऐसे जान पडते हैं मानो किसी प्रेमीने विरहव्यथामें रातभर रो-रोकर अपने अश्रुवृन्दरूपी मोतीकी लडियोंको किसी प्रीतमके हृदयरूप हंसके चुगनेकेलिये सर्वत्र बिखेरदिया है। विचारे दो चार तारे रात्रिभरके थकेथकाये आकाशमें धीमे-धीमे जगमगातेहुए देख पडते हैं जिनपर कुम्हलायेहुए पुष्पोंके समान उदासीनता छायी हुई है। चतुर सोनेवाले अपने—अपने कार्य्योंकी पूर्त्तिके ध्यानमें अंगडाइयां ले-लेकर उठरहे हैं और निकम्मे अभी ऐसे खर्राटे लेरहे हैं मानो प्रलयकालतक जगेहींगे नहीं। एवम्प्रकार देखते—देखते थोडी देरके पश्चात् त्रिलोकीके प्रकाश करनेवाले दिनमणिने रक्तरंजित-तेजसे तमतमायेहुए मुखमण्डलको पूर्वदिशासे निकाल क्षणभरमें देखते-देखते उस घोर तमको समूल नाश करदिया है।

ऐसा अनुमान होता है, कि आजही युद्धका समय उपस्थित होनेवाला है। क्योंकि कटकके प्रसिद्ध—प्रसिद्ध योद्धागण, सेनापति, रथी, महारथी इत्यादि अपनी प्रातःकालकी क्रियाओंको बडी शीघ्र- तासे पूर्ण करतेहुये युद्धके सब वस्त्र, शस्त्र और अस्त्रोंसे अपनेको सुसज्जित कररहे हैं। नाना प्रकारके धनुष अपने कंधोंपर और विविध-

प्रकारके बाण अपने तूणीरों ( तरकसों ) में भररहे हैं। चमचमाती हुई तलवारोंकी सुतीक्ष्ण धारोंपर अंगुलियां रखकर उसकी पहचान कररहें हैं और कहरहे हैं, हे मेरे प्राणप्रिय खड्ग! आज ही मुझे तुम्हारी तीक्ष्णताकी कला देखनी है इतना कह झट काठियोंमें बन्दकर परतलोंसे लटकालेते हैं। कटारियां बांधी जारही हैं, ढालें लटकायी जारही हैं अर्थात् युद्धकी पूर्ण सामग्रियोंसे अलंकृत अपने २ स्वरूपोंको निर्भय वीरोंके समान बनाकर रणभूमिमें गमन करनेकी बाट जोरहे हैं।

अर्जुन अपने पटमण्डप ( तम्बू ) में अपने सहायकोंके साथ बैठाहुआ युद्धकी बातें कररहा है और कह रहा है, कि अये! मेरे! वीरशिरोमणियो! बहादुरो! आज ही आपलोगोंकी वीरताकी परीक्षा है। देखिये! डरियेगा मत! क्योंकि हमलोगोंके परमसहायक यदुकुलनायक श्रीपरब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्र सारथीका शृंगार कियेहुए अभी इधर चलेही आरेहेहोंगे। इतना कहनाही था, कि मन्द-मन्द मुसकानके साथ अनाथोंके नाथ दयासागर नटनागर वहां पहुंच, अर्जुनका हाथ पकड और रथपर बिठाल मुसकरातेहुए बातें करने लगे।

अहा! वह पुण्यपुञ्जपूर्णमूहूर्त्त—दिन कौन होगा? जिस दिन वह सांवला बिहारी मदनमुरारी हमलोगोंके शरीररूप तंबूके भीतर आकर ईसी प्रकार अपने हाथोंसे मोक्षके रथपर बिठाल हमलोगोंसे मधुर—मधुर बातें करेगा। चलो अब अपने विषयकी ओर चलें!

अर्जुनउवाच ।

मू०— किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ! ।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २

पदच्छेदः— [ हे ] पुरुषोत्तम ! ( सर्वपुरुषेभ्य उत्तम सर्वज्ञ ! ) तद्ब्रह्म ( ज्ञेयत्वरूपेणोक्तं मायाधिष्ठानं शुद्धं निर्मलं परमानन्दस्वरूपम ) किम्, ? अध्यात्मम् ( आत्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीति ) किम् ? कर्म ( लौकिकवैदिकाचरणम ) किम् ? अधिभूतम ( पंचभूतान्यधिकृत्य यत्किञ्चित्तिष्ठतीति ) च, किम ? प्रोक्तम ( विवक्षितमं ) अधिदैवम् ( देवमाश्रित्य यत्किंचित्तिष्ठतीति ) किम ? उच्यते ( कथ्यते ) [ हे ] मधुसूदन ! ( मधुदानवनिकन्दनवासुदेव ! ) कः ? अधियज्ञः ( यज्ञमाश्रित्य यत्किंचित्तिष्ठतीति यज्ञमधिगतो वा ) [ सः ] कथम ( केन रूपेण ) [ चीन्तनीयः ] अस्मिन् देहे च ( तथा ) प्रयाणकाले ( मरणसमये सर्वकरणवैयग्र्याच्चञ्चलदशायाम ) नियतात्मभिः ( समाहितचित्तैः ) कथम् ? ( केन प्रकारेण ) ज्ञेयः ( ज्ञानविषयः ) असि ॥ १, २ ॥

पदार्थः— ( पुरुषोत्तम ! ) हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ! ( तत् ब्रह्म किम् ? ) वह ब्रह्म क्या है ? ( अध्यात्मम किम ? ) अध्यात्म अर्थात् इस आत्माके भीतर क्या है ? ( कर्म किम् ? ) कर्म

क्या है ? ( च, अधिभूतम् किम् ? ) और पंचभूतोंके आश्रय कौनसा पदार्थ ( प्रोक्तम् ) कहागया है ? ( च ) और ( अधिदैवम् ) अधिदैव ( किम ? ) क्या ( उच्यते ) कहलाता है ( अत्र ) यहां ( अधियज्ञः कः ? ) अधियज्ञ कौन है ? अर्थात् यज्ञके आश्रय कौन-कौन पदार्थ हैं ? सो अधियज्ञ ( कथम् ) किस रूपसे ( अस्मिन्देहे ) इस देहमें स्थित है ? ( च ) फिर ( प्रयाणकाले ) मरणके समय ( नियतात्मभिः ) समाहितचित्तवाले प्राणियोंसे ( कथम् ? ) किस प्रकार ? ( ज्ञेयः, असि) तुम जानेजाते हो ? ॥१,२॥

अर्थात अर्जुनने इन दो श्लोकोंमें सात प्रश्न किये— १. तत्‌-ब्रह्म किम्, २. अध्यात्मं किम्, ३. कर्म किम्, ४. अधिभूतं किम्, ५. अधिदैवं किम, ६. अधियज्ञं किम्, ७. प्राणकाले नियतात्मभिः कथं ज्ञेयोऽसि ।

**भावार्थः**— श्यामसुन्दरने जो अर्जुनके प्रति सातवें अध्याय में यों कहदिया है, कि जो मेरे भक्त हैं वे कई तत्त्वोंके जाननेके कारण मृत्युके समय साधारण जीवोंके समान क्लेश नहीं पाते । आनन्दपूर्वक माकी गोदमें सोजानेवाले बच्चोंके समान मेरी गोदमें सोजाते हैं । इतना सुनकर अर्जुनके चित्तमें मुख्य सात विषयोंके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी और भगवान्‌से यों प्रश्न किया, कि [ किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ! ]

१. तत ब्रह्मकिम् ? — वह ब्रह्म क्या है ? अर्थात् जिस ब्रह्मके विषय भगवान् सातवें अध्यायके २६ वें श्लोकमें कहचुके हैं, कि

" जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये । ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम् "

अर्थ— मेरे आश्रित होकर जो जरामरणसे छूटनेका यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको जानते हैं। सो ब्रह्म क्या है ? सोपाधिक है वा निरुपाधिक ?

२. अध्यात्मं किम्— अध्यात्म क्या है ? अर्थात् इस सम्पूर्ण शरीरके बाहर और भीतर आत्माके व्यापनेके कारण जैसे घटके बाहर और भीतर आकाश व्यापता है अथवा समुद्र वा सरिताके जलमें लोटा वा ग्लास इत्यादि किसी जलपात्रके डुबादेनेसे जैसे वह जल उस पात्रके बाहर और भीतर व्यापताहुआ देख पडता है इसी प्रकार सर्वत्र यह शरीर आत्मामें डूबाहुआ देख पडता है। इसीलिये इसको अध्यात्म कहते हैं। सो अर्जुनके पूछनेका यह तात्पर्य है, कि अध्यात्म क्या है ? अर्थात् इस शरीरमें जो आंख, नाक, कान, इत्यादि दशों इन्द्रियां हैं, मन, बुद्धि, इत्यादि चारों अन्तःकरण हैं, प्राण अपानादि पांचों प्राण हैं तथा रोम, चर्म इत्यादि सप्त धातु हैं ये सब मिलकर अध्यात्म कहेजाते हैं । अथवा केवल प्रत्यक्चैतन्य जो सब शरीरमें जीवनका कारण है जिसके स्पन्द होनेसे सब कार्य होरहे हैं सो अध्यात्म कहाजाता है अर्थात् पंचभूतका पिण्ड वा आत्मा इन दोनोंमें अध्यात्म कौन है ? ।

३. कर्मकिम् ? कर्म क्या है ? अर्थात अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम और वाजपेय यज्ञादिसे तात्पर्य है अथवा जिसके विषय भगवान् पहले

कहआये हैं, कि " कर्म चाखिलम् " (अ० ७ श्लो० २९ ) अर्थात् मेरे भक्त अखिल कर्मोंको जानते हैं। अर्जुनके पूछनेका तात्पर्य यहां यह है, कि कर्म कहनेसे यज्ञादि कर्मोंके जाननेका तात्पर्य है? अथवा नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मोंसे तात्पर्य है? और [ अधिभूतञ्च किम्प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ] ॥

४. अधिभूतं च किम्— अधिभूत क्या है? अर्थात् इन पांचों भूतोंके आश्रयसे जो यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर स्थित है वह अधिभूत कहलाता है? अथवा इनसे इतर कुछ पांचभौतिक कार्य्य है सो अधिभूत कहलाता है?।

५. अधिदैवञ्च किम्— देवताओंको आश्रय करके जो कुछ कार्य्य होता है उसे अधिदैव कहते हैं? अथवा इनसे कुछ इतर है जो अधिदैव कहलाता है? और [ * अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहे ऽस्मिन् + मधुसूदन ! ]

---

* यज्ञका आश्रय करके जो कुछ वर्त्तमान रहे उसे अधियज्ञ कहते हैं।

+ अर्जुनने जो हे पुरुषोत्तम ! और हे मधुसूदन ! इन दो विशेषणोंसे भगवान्को पुकारा है इसका तात्पर्य्य यह है, कि भगवान् सब पुरुषोंमें उत्तम और सर्वज्ञ हैं इसलिये इन प्रश्नोंका उत्तर भगवान्से होसकता है अन्य कोई इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ नहीं होसकता। मधुसूदन इस कारण कहा, कि जैसे भगवान्ने मधु नाम दैत्यका नाश किया इसी प्रकार मेरी अज्ञानताको इन प्रश्नोंके उत्तर द्वारा नाश करेंगे।

६. अधियज्ञः किम्— अधियज्ञ क्या है ? कोई देवता विशेष है ? अथवा परब्रह्मको ही अधियज्ञ कहते हैं ? तथा सो अधियज्ञ किस प्रकार चिन्तनकरने योग्य है ? अपने साथ एकता करके अथवा अपनेसे भिन्न चिन्तन करने योग्य है ? सो अधियज्ञ जीवोंके शरीरके अन्तर्गत है ? अथवा कहीं बाहरकी ओर है ? यदि ऐसा कहो, कि यह अधियज्ञ देहके अन्तर्गत है तो कौन है ? मन, बुद्धि इत्यादि रूपकरके है ? अथवा इनसे भी कुछ इतर है ? ।

७. [प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः] मरण-समय तुम नियतात्माओंसे कैसे जाने जाते हो ? अर्थात् मृत्युके समय तो प्राणियोंकी अत्यन्त दुर्दशा होजाती है, सब इन्द्रियां व्याकुल होजाती हैं और मन अत्यन्त व्यग्र होजाता है ऐसे कठोर समयमें जो नियतात्मा प्राणी हैं जिन्होंने अपने मनको तुम्हारे स्वरूपमें स्थिर कररखा है वे कैसे मृत्युके क्लेशको न प्राप्त होकर तुमको जानते हैं सो हे भगवन् ! इन सबको स्पष्टकरके मुझे बतादो ।

अर्जुनके इन सातों प्रश्नोंका उत्तर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस आठवें अध्यायमें विलग २ कर कहेंगे इसलिये पाठकोंको चाहिये, कि सावधान होकर इस आठवें अध्यायके तात्पर्योंको पूर्णप्रकार समझें ॥ १, २॥

अब भगवान् इन प्रश्नोंका उत्तर देना आरम्भ करते हैं। अर्जुनके हृदयके भावोंको जाननेवाले भगवान् वासुदेव जानगये, कि अर्जुनको इन विषयोंके जाननेकी यथार्थ अभिलाषा है इसलिये मन्द-मन्द मुसकाते हुए इन प्रश्नोंका उत्तरदेना आरम्भ करते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मू०—अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— परमम् ( निरतिशयम् ) अक्षरम् ( विनाशरहितम् ) ब्रह्म, उच्यते ( अभिधीयते ) स्वभावः ( ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः ) अध्यात्मम् [ कथ्यते ] भूतभावोद्भवकरः ( सर्वेषां भवनधर्मकाणां स्थावरजंगमानामुत्पत्तिकरः ) विसर्गः ( देवतोद्देशेन चरुपुरोडाशादिद्रव्यत्यागात्मको यागः ) कर्मसंज्ञितः ( शब्दितः । उक्तः ) ॥ ३ ॥

पदार्थः— ( परमम् ) सबसे उत्कृष्ट ( अक्षरम् ) विनाशरहितको ( ब्रह्म ) सच्चिदानन्द पूर्णपरमात्मा ( उच्यते ) कहते हैं और ×( स्वभावः ) उस ब्रह्मका प्रतिदेहमें प्रवेशकरके जो तदाकार होना तिस तदाकारताको ( अध्यात्मम् ) अध्यात्म कहते हैं और ( भूतभावोद्भवकरः ) भूतोंके भावोंको उत्पन्नकरनेवाला ( * विसर्गः ) जो विसर्ग है वह ( कर्मसंज्ञितः ) कर्मके नामसे उच्चारण किया जाता है ॥ ३ ॥

× परमेवहि ब्रह्म देहादौ प्रविश्य प्रत्यगात्मभावमनुभवतीति स्वभावः ( आनन्दगिरिः )

* चरुपुरोडाशादि द्रव्योंके द्वारा यज्ञकरनेको " विसर्ग " कहते हैं ।

भावार्थः— बडे शोककी वार्त्ता है, कि वर्त्तमान कालमें सत्संगके अभावसे तथा गुरुशिष्यकी प्रणालीके नष्ट-भ्रष्ट होजानेसे गीता ऐसे गम्भीर शास्त्रका समझना, समझाना अत्यन्त क्लिष्ट होरहा है साधारण भाषामें समझानेसे भी बहुतेरे प्राणी इस शास्त्रके मर्मोंको नहीं समझ सकते जो लोग षट्शास्त्रवेत्ता हैं, श्रोत्रिय हैं तथा ब्रह्मनिष्ठ हैं वे ही इसके मर्मोंको यथार्थरूपसे समझ सकते हैं।

यद्यपि इस शास्त्रके भिन्न २ विषय अत्यन्त गूढ हैं तथापि मैंने अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार इनके आशयोंको अत्यन्त सरल करके सलिल भाषामें समझानेका साहस किया है।

अब इस श्लोकमें भगवान् अर्जुनके सात प्रश्नोंमें तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि [ अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ] जो परम अक्षर है वही ब्रह्म है और स्वभावको अध्यात्म कहते हैं। नाशहोनेवाले पदार्थको क्षर कहते हैं इसलिये " न क्षरतीत्यक्षरः " जो नाश न हो उसे अक्षर कहते हैं अर्थात जो तीनों कालमें एकरस वर्त्तमान रहे वही अक्षर कहाजाता है।

तहां परम अक्षर कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि नहीं नाश होने वालोंमें जो सबसे परम ( श्रेष्ठ ) है वही परम ब्रह्म कहलाता है। तहां यह सिद्धान्त है, कि जीव, माया और ब्रह्म तीनों अविनाशी हैं क्योंकि ये तीनों अनादि कहेजाते हैं पर इन तीनों नहीं नाश होनेवालोंमें भी प्रकृति जो (परामाया) और जीव जो ( अपरामाया) इन दोनोंका नाश होजाता है पर ब्रह्मका नाश नहीं होता। इसी

कारण ब्रह्मको अक्षरोंमें अर्थात नहीं नाश होनेवालोंमें श्रेष्ठ अर्थात् परम अक्षर कहा जिसका कभी नाश न होवे ।

तो और भी सुनो ! अभी कह आये हैं, कि जो किसी कालमें नाश न हो उसे अक्षर कहते हैं । सो केवल वह ब्रह्म है जो कभी नाश नहीं होता सदा वर्त्तमान रहता है । सो भगवान् कहते हैं, कि नहीं नाश होनेवालोंमें जो सबसे श्रेष्ठ अतिशयकरके कभी नाश न हो उसे परम अक्षर कहते हैं । यहां परम शब्द लगानेका दूसरा तात्पर्य्य यह है, कि जैसे मर्त्यलोकके मनुष्यकी अपेक्षा देवतादि अक्षर हैं पर वे यथार्थमें अक्षर नहीं । इसी प्रकार देवोंकी अपेक्षा बृहस्पतिलोक-निवासी अक्षर कहे जासकते हैं और उनकी अपेक्षा प्रजापतिलोक वाले प्रजापतिके सहित अक्षर कहेजासकते हैं पर यथार्थ पूछो तो इनमें भी कोई सदाकेलिये अक्षर नहीं । कुछ कालकेलिये अक्षर हों तो हों पर वे सबके सब महाप्रलयमें नाश होजाते हैं इसलिये इनको परम अक्षर नहीं कहसकते । क्योंकि " कालेनानवच्छेदात् " वे सब कालकरके अवच्छिन्न होनेके कारण नाशवान् हैं, पातालतो-कसे लेकर ब्रह्मलोकपर्य्यन्त सब एकके पीछे दूसरे नाश होते चलेजाते हैं । इनमें कोई ऐसा नहीं जो परमअक्षर कहाजासके । इसलिये परम-अक्षर वही एक ब्रह्म है जो किसी प्रकार किसी कारणसे नाश नहीं होता है अर्थात काल, संख्या, देश, ज्ञान तथा वस्तु जो अग्नि, जल, वायु इत्यादि किसीके द्वारा नाश न हो वही परमअक्षर कह-लासक्ता है, सो केवल वही एक ब्रह्म है ।

अब काल, संख्या इत्यादि करके नाश होना क्या है ? सो दिखलाया जाता है— मनुष्योंके दिनसे छः महीनोंका देवताओंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है। इस हिसाबसे ३६० दिनका एक दिन अर्थात् मनुष्योंके ३६० सालका देवताओंका एक साल हुआ। इसी लेखेसे मनुष्योंके ३६००० सालका देवताओंका एक साल हुआ देवताओंके दिनसे ब्रह्माकी आयु २०००००००००००००००-००० वर्षोंकी होती है। जो मनुष्योंकी आयुसे बहुत अधिक है। क्योंकि परार्ध ब्रह्माकी आधी आयुको कहते हैं। उसे दो गुणा करने से ऊपर लिखी हुई संख्या होती है। "परार्धमष्टादशांकपर्यन्तम्" अर्थात् १८ अंकों तक गणना करनेसे परार्द्ध कहाजाता है। जैसा, कि ऊपर अंकित है।

"निजेन तस्य मानेन चायुर्वर्षशतं स्मृतम्।
तत् पराख्यं तदर्द्धं च परार्द्धमभिधीयते॥ (कौर्मी० अ० ५)

"शतं हि तस्यवर्षाणां परमित्यभिधीयते।
पंचाशद्भिस्तथा वर्षैः परार्द्धमिति कीर्त्यते।
एवमस्य परार्द्धन्तु व्यतीतं द्विजसत्तम!।
यस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पद्म इत्यभिविश्रुतः॥"
(मार्क० अ० ४६ श्लो० ४२, ४३) (अर्थ स्पष्ट है)

एवम्प्रकार मनुष्यकी आयुकी अपेक्षा ब्रह्माकी आयु अत्यन्त अधिक होनेसे ब्रह्माको भी अक्षर कह सकते हैं। और इसी प्रकार अन्य देवताओंको भी अक्षर कहसकते हैं। क्योंकि ये भी बहुत दिनों

तक नाश नहीं होते हैं। पर इनमें किसीको परमअक्षर नहीं कहसकते। क्योंकि कहीं न कहीं जाकर इनका नाश होही आता है । इसीको काल करके नाश होना कहते हैं। ऐसी विशाल ब्रह्माकी आयु भी जिसके एक पलकसे कम है वही परमअक्षर कहाजाता है जिसका कभी नाश नहीं होसकता।

अब संख्या करके नाशहोना दिखाते हैं। चार युग हैं, पांच तत्त्व हैं, तीन गुण हैं इत्यादि इनमें एकके पीछे दूसरेका नाश होता-हुआ अन्तमें सबका नाश होजाता है इसलिये संख्या करके इनका नाश हुआ। पर एक ( १ ) संख्यावाला जो ब्रह्म उसका नाश नहीं होता। इसी कारण संख्याकरके भी वह ब्रह्म ही परमअक्षर कहा-जाता है ।

अब देशकरके नाश दिखलाते हैं भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ये सात लोक हैं। इनमें एकके पीछे दूसरेका नाश होजाता है । यद्यपि मर्त्यलोक जो भूलोक तिसकी अपेक्षा अन्य लोकोंको अक्षर कहसकते हैं पर यथार्थमें इन लोकोंमें कोई लोक अक्षर नहीं है । किसी न किसी समय इन सबोंका नाश हो ही जाता है इसलिये इनको परम अक्षर नहीं कह-सकते । केवल वही एक ब्रह्म जो सब देशोंमें व्यापक है परम अक्षर है।

फिर वायुसे अग्निका, अग्निसे जलका, जलसे पृथ्वीका नाश होजाता है। यद्यपि इनकी स्थिति महाप्रलयकालतक रहती है इस-

लिये इनको थोडी देरकेलिये अक्षर कहसकते हैं पर ये भी परम अक्षर नहीं कहे जासकते। महाप्रलयमें इनका भी नाश होजाता है इसलिये वस्तु करके भी वही एक परमात्मा है जो नाश नहीं होता। अतएव वह परम अक्षर कहाजाता है, यदि यह शंका हो, कि ॐकार प्रणव भी तो अक्षर है। क्योंकि " **ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव** "

माण्डूक्योपनिषद्की इस प्रथम श्रुतिसे यह सिद्ध होता है, कि ॐकारही सब कुछ है तथा भूतकालमें जो कुछ होचुका है और वर्त्तमानकालमें जो कुछ होरहा है तथा भविष्यत्कालमें जो कुछ होगा सब ॐकारही है तथा इन तीनों कालोंसे अतीत (भिन्न) भी यदि कहीं कुछ हो सो भी ॐकारही है। इससे सिद्ध होता है, कि ॐकार ही अक्षर है अर्थात् अविनाशी है। क्योंकि तीनों कालोंसे जो अतीत हुआ उसका तो कभी नाश ही नहीं होसकता। फिर जो तीनों कालोंमें वर्त्तमान रहता है वही अविनाशी और सत्य कहाजाता है। अतएव ॐकारको भी परम अक्षर क्यों नहीं कहेंगे? भगवान् भी अपने मुखसे आगे इसी अध्यायके १३ वें श्लोकमें कहेंगे, कि " **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्** " अर्थात् ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मके उच्चारणपूर्वक जो मुझको स्मरणकरताहुआ शरीरका त्याग करता है वह उत्तम-गतिको प्राप्त होता है। इससे भी सिद्ध होता है, कि ॐकार एकाक्षर-ब्रह्म है। फिर ॐकारको परम अक्षर कहनेमें क्या सन्देह रहा?

दूसरी बात यह है, कि अक्षर शब्दका अविनाशी अर्थ करना यौगिक-शक्ति है और अक्षरका अक्षरही अर्थ करना अर्थात् अ, आ, इ, ई, क, ख, ग, घ इत्यादि अर्थ करना अक्षरकी रूढि-शक्ति है पर "रूढिर्योगमपहरति" इस वचनके अनुसार अक्षरकी रूढि-शक्ति यौगिक-शक्तिका नाश करदेती है । इसलिये यह ॐकार कहनेसे ॐ इस अक्षरकाही तात्पर्य है। इसी कारण जब यह ॐकार भी भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालमें इसका नाश नहीं हुआ तो यह ॐकार भी परम अक्षर क्यों नहीं कहाजावेगा ? । फिर ॐकारको भी परमअक्षर और उस ब्रह्मको भी परमअक्षर कहना कैसे बने ? क्योंकि दो वस्तु जब एक गुणकर्मस्वभावके हों तो दोनोंमें किसीको परम नहीं कहसकते । इसलिये ब्रह्मको परमअक्षर कहना नहीं बनता । "प्रतिवादी कहता है, कि ॐकार जो अक्षर है उसीको तद्ब्रह्म कहो।"

भगवान् अर्जुनके प्रथम प्रश्न "तद्ब्रह्म किम्" का उत्तर यही देरहे हैं, कि ॐकार प्रणवही परम अक्षर है इसलिये यही ब्रह्म है अन्य कुछ भी नहीं पर प्रतिवादीका ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि ॐकार प्रणव यद्यपि रूढिशक्तिकरके अक्षर कहाजासकता है तथापि यह परमअक्षर नहीं कहाजासकता वरु एकाक्षर-ब्रह्म कहाजाता है ।

पातंजलसूत्रके अनुसार यह प्रणव ॐकार उस परब्रह्मका वाचक है क्योंकि वाचकसे ही वाच्यका बोध होजाता है । जैसे कोई प्राणी काशी नगरीमें देवदत्त नामके एक पुरुषको तबतक ढूंढता

रहता है, जबतक उस पुरुषको नहीं पाता अर्थात् वाचकका तबही तक उच्चारण करतारहता है जबतक वाच्यको नहीं पाता। इसी प्रकार प्रणवका उच्चारण तबहीतक है जबतक परब्रह्मको नहीं पाया है। इसलिये यह सिद्ध होगया, कि वाच्यके मिलजानेपर वाचककी कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। अतएव प्रणवको परम अक्षर ब्रह्म मत कहो! वह तो वाचकमात्र है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि प्रणव भी परम अक्षर नहीं कहाजासकता। क्योंकि इसका भी कहीं न कहीं जाकर नाश होही जाता है। तहां "तस्य प्रकृतिभिन्नस्य" इस श्रुतिके वचनानुसार प्रणवका भी प्रलय कथन कियागया है। इसी कारण प्रणवको परमअक्षर न कहकरे परम अक्षर जो अविनाशी ब्रह्म उसका वाचकमात्र कह सकते हैं।

यदि किसी विद्वान् महात्मा ब्रह्मनिष्ठने अथवा श्रुतिने प्रणवको अक्षर कहा है तो उसकी नित्यता करके अक्षर नहीं कहा है। वरु सृष्टिकी रचना और संहारकी अपेक्षा इस ॐकार प्रणवको अक्षर कहा है। क्योंकि जब उस परब्रह्म जगदीश्वरको संसार रचनेकी इच्छा होती है तब वह सबसे प्रथम ॐकार नादको ही रचता है। अर्थात् ॐ ऐसा शब्द उच्चारण करता है। इस ॐकारके कहनेहीसे सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होजाता है। और इसी ॐकार प्रणवमें स्थिर रहकर फिर इसीमें लय होजाता है। एवम्प्रकार रचनाके पश्चात् जबतक प्रकृति रचना, पालन और संहार करती रहती है तबतक प्रणव वर्त्तमान रहता

है और जब प्रकृति स्वयं ब्रह्ममें लय होने लगती है तब उसके साथ-साथ यह प्रणव भी लय होजाता है। क्योंकि प्रणव अक्षर प्राणोंके द्वारा उच्चारण होता है सो प्राण प्रलयकालमें शरीर छोडकर ब्रह्ममें लय होजाता है तो प्रणव कैसे रहसकता है? इसलिये इसे परम अक्षर नहीं कहसकते।

यदि कहो, कि मायाको परमअक्षर कहना चाहिये! क्योंकि यही माया त्रिगुणात्मिका होकर सारे ब्रह्माण्डकी रचना करती है और अनादि है तथा ब्रह्मके साथ-साथ इसकी स्थिति है इसलिये इसे परम अक्षर कहनेमें क्या हानि है?

उत्तर यह है, कि यह माया सृष्टिकी अपेक्षा अक्षर है पर परम अक्षर नहीं। जैसे मकरा अपने शरीरसे सूत निकालकर एक घर बनाकर उसके बीचमें रहजाता है पर फिर जब उसे इच्छा होती है तब सारे घरको निगलकर बैठजाता है। इसी प्रकार वह ब्रह्म अपनेसे मायारूप सूतको निकालकर अपनी इच्छा पर्य्यन्त स्थिर रखकर उसमें विहारकर फिर सम्पूर्ण मायाको संहार करजाता है। तहां श्रुतिका प्रमाण है— "स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" ( बृह० अ० २ ब्रा. १ श्रु० २० )

टिप्पणी— प्रणवमें अ, उ, म तीन अक्षर देखेजाते हैं पर ये यथार्थमें एक ही अक्षर है। इसका पूर्ण व्याख्यान इस अध्यायके १३ वें श्लोकमें कियाजावेगा।

अर्थ— जैसे ऊर्णनाभि ( मकरा ) अपने शरीरसे तन्तुओंको निकाल, घर बना कुछ दिन उसमें निवासकर फिर सबको निगलजाता है। अथवा जैसे अग्निसे बहुतसी चिनगारियां निकलती हैं फिर उसी अग्निमें लय होजाती हैं । इसी प्रकार परमअक्षर उस परमात्मदेवसे अर्थात् परब्रह्मसे सब इन्द्रियां, सर्वलोक, सर्व देवता और ब्रह्मासे लेकर स्तम्भ पर्य्यन्त सब जड चेतन जीवोंकी रचना होती है और फिर सबोंका संहार होजाता है ।

श्रुतिका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मायाका भी नाश होजाता है इसलिये मायाको भी परमअक्षर नहीं कहसकते ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि जो परम अक्षर है वही ब्रह्म है। क्योंकि " अश्नुते सर्वमित्यक्षरम् " ।

अब श्रुतियोंके प्रमाणोंसे यह दिखलाया जाता है, कि यह ब्रह्म परम अक्षर है जिसकी आज्ञामें ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त सब वर्त्तमान रहते हैं। जिसकी सत्तापर सारा ब्रह्माण्ड खडा है ।

" ॐ स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

ॐ एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिव्यौ विधृते

तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरा-त्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः सम्वत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्व-तेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानन्देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

ॐ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतद-क्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

ॐ तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोतृमतं मन्त्राविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरेगार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥" ( बृ० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० ८, ९, १०, ११ )

अर्थ— गार्गीके प्रश्न करनेपर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, कि हे गार्गि ! जो ब्रह्मवेत्ता हैं जिन्होंने कई जन्मोंमें परिश्रम करनेके पश्चात् अपने अन्तिम जन्ममें ब्रह्मको साक्षात्कार किया है वे यह कहते हैं, कि वह अक्षर ब्रह्म अस्थूल है अर्थात् स्थूलता रहित है । जब स्थूल नहीं हुआ तो यह कहना पड़ेगा, कि अणु है अर्थात् सूक्ष्म है तो श्रुति कहती है, कि वह सूक्ष्म अर्थात् अणु भी नहीं है । यदि कहो, कि वह ह्रस्व है अर्थात् वामनरूप है तो सो भी नहीं अथवा अत्यन्त हौला है तो सो भी नहीं है। यदि कहो, कि न वामन है और न हौला है

तो बहुत लम्बा, विशाल और भारी होगा तो कहते हैं, कि अदीर्घ है न विशाल है न भारी है। फिर कहते हैं, कि वह "लोहित" अर्थात् अग्निके समान अत्यन्त तप्त होगा ? तो श्रुति कहती है, कि नहीं वह अलोहित है अर्थात तप्त भी नहीं है। यदि कहो, कि तप्त नहीं है तो जलके समान शीतल होगा तो श्रुति कहती है, कि वह 'अस्नेहम्' जल भी नहीं है फिर वह छाया भी नहीं है और तम (अन्धकार) भी नहीं है।

फिर वह वायु भी नहीं आकाश भी नहीं अर्थात् सबसे असंग है तथा वह रस भी नहीं, गन्ध भी नहीं, रूप भी नहीं, श्रोत्र भी नहीं, वचन भी नहीं मन भी नहीं, तेज भी नहीं, भीतर भी नहीं, बाहर भी नहीं, प्राण भी नहीं, मुख भी नहीं और किसी प्रकारकी मात्रा भी नहीं। अर्थात सब इन्द्रियोंसे और सब ठौरसे रहित है। तात्पर्य यह है, कि सर्वत्र व्यापकर भी असंग है। इसलिये वह अक्षर ब्रह्म "तदश्नाति किंचन" किसी भी विषयको भोगता नहीं और न कोई लोक उस अक्षरब्रह्मको भोगता है। अर्थात न वह कुछ भोगता है और न भोगाजाता है। क्योंकि जो किसीको भोगेगा वह आप भी किसीसे अवश्य भोगाजावेगा ॥ ८ ॥

हे गार्गि! इसी अक्षर ब्रह्मकी आज्ञासे सूर्य और चन्द्र अपने-अपने नियमोंमें वर्तमान हैं। इसी अक्षरब्रह्मकी आज्ञासे हे गार्गि! ये द्यु लोक और पृथिवी लोक अपने-अपने नियमोंमें वर्त्तमान हैं। हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्मकी आज्ञासे पल, मुहूर्त, दिन, रात, आधा मास,

पूर्ण मास, छवों ऋतु और साल अपने-अपने समयपर पूर्णरीतिसे सुशोभित हैं । अर्थात ज्योतिषियोंकी गणना इनके अनुसार आदि सृष्टिसे आजतक नियम पूर्वक चली आरेही है । हे गार्गि! इसी अक्षर ब्रह्मकी आज्ञासे पूर्व दिशाको बहनेवाली गंगा तथा यमुना आदि अन्य नदियां भी श्वेत पर्वतसे अर्थात श्वेत हिमसे भरेहुए हिमालय पर्वतसे निकल-निकल बहरेही हैं तथा बहुतसी नदियां पश्चिमकी ओर निकल कर बहती हैं । इसी प्रकार अन्य नदियां जिस-जिस ओर उनकी बहाव ( बारिधारा ) आदि सृष्टिमें नियमित करदी गयी हैं उसी ओर आजतक बहरही हैं। हे गार्गि! इसी अक्षरब्रह्मकी आज्ञासे हिरण्य, गो, महिषी इत्यादि दान देनेवालोंकी प्रशंसा कीजाती है तथा देवता और पितर इनके होमको स्वीकार कर इनको फल देते हैं ॥ ९ ॥

हे गार्गि ! जो प्राणी इस अक्षर ब्रह्मको न जानकर इस संसारमें हवन, यजन और तपस्या करता है चाहे वह सहस्रों वर्ष क्यों न करता रहे पर उसका फल अन्तवाला होता है अर्थात कहीं न कहीं जाकर समाप्त होजाता है । फिर जो प्राणी हे गार्गि ! इस अक्षर ब्रह्मको न जानकर इस शरीरको त्यागता है वह कृपण कहा जाता है । पर हे गार्गि ! जो प्राणी इस अक्षर ब्रह्मको जानकर अर्थात ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर शरीरको छोड चला जाता है वही ब्राह्मण है अर्थात ब्रह्मवेत्ता कहाजाता है ॥ १० ॥

एवम् प्रकार अक्षर ब्रह्मकी स्तुति करते-करते अन्तमें याज्ञवल्क्य गार्गीसे कहते हैं, कि हे गार्गि ! इस अक्षर ब्रह्मको आजतक किसीने

न देखा, न सुना क्योंकि यह स्वयम् अदृश्य, अश्रोत्र और ज्ञानस्वरूप है इसी कारण इस अक्षर ब्रह्मसेइतर कोई देखनेवाला नहीं, सुननेवाला नहीं, मनन करनेवाला नहीं, और यजन करनेवाला नहीं। हे गार्गि ! इसी अक्षर ब्रह्ममें यह आकाश ओत-प्रोत है अर्थात् इस आकाशमें जितने ये तारागण, सूर्य्य, चन्द्रादि १४ भुवन हैं और इनसे भी इतर जो कुछ रचना है, जिसे वेद भी नहीं जानता उन सब रचनाओंको संगलिये यह आकाश इस अक्षर ब्रह्ममें इस प्रकार गुथा हुआ है जैसे अनन्त मणिकाओंकी मालामें एक मणि अपनी गुंजा तथा कोंढे इत्यादिको लिये हुये गुथा होवे ॥ ११ ॥

ये वृहदारण्यक उपनिषद्की चारों श्रुतियां उस अक्षर ब्रह्मको पूर्ण प्रकार निरूपण करती हैं।

शंका— इन श्रुतियोंकी प्रथम श्रुतिमें जो यह कहा, कि वह ब्रह्म न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न ह्रस्व ( छोटा ) है, न दीर्घ ( वडा ) है और न अग्नि है, न जल है, न वायु है, न चक्षु है और न श्रोत्र है इत्यादि २।

ऐसा कहनेसे अन्य श्रुतियोंका खण्डन होता है। क्योंकि कठोपनिषद् अ० १ बल्ली २ श्रु० २० में कहा है, कि "अणोरणीयान् महतो महीयान" अर्थात् वह ब्रह्म अणुसे भी अणु और दीर्घसे भी दीर्घ है अर्थात् सम्पूर्ण विराट्रूप भी वही है। और अब कहते हैं, कि वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न ह्रस्व है, और न दीर्घही है सो श्रुतियोंमें ऐसा परस्पर विरोध

कैसे बने ? फिर वेदका वचन है, कि " तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रन्तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः " अर्थ— वह ब्रह्म अग्नि है, सूर्य्य है, वायु है, वही चन्द्रमा है, वही प्रजापति है और अब इस श्रुतिमें कहते हैं, कि न अग्नि है, न जल है ऐसा विरोध क्यों ? फिर वेदके पुरुषसूक्तमें कहागया है, कि " सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात " अर्थात् वह पुरुष अनन्त शिर, अनन्त नेत्र और अनन्त पांववाला है और अब कहते हैं, कि न वह आंख है, न कान है इत्यादि ऐसा क्यों ?

समाधान— ये वृहदारण्यककी श्रुतियां जो उस अक्षर ब्रह्मको निषेध-मुख शब्दोंसे पुकारती हुई यह कहती हैं, कि न वह स्थूल, न सूक्ष्म है इत्यादि सो निरुपाधिक ब्रह्मके विषय कहती हैं। और जो कठोपनिषद्की श्रुतियां तथा वेदकी ऋचाएँ विधिमुख शब्दोंसे पुकारती हुई यों कहती हैं, कि वह स्थूलसे भी स्थूल और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा नानाप्रकारके उपर्य्युक्त गुणोंसे विशिष्ट है सो सोपाधिक ब्रह्मके विषय कहती हैं। अर्थात् जब ब्रह्म अपनी सत्ताओंको स्वीकारकर अपनी प्रकृतियोंको प्रकटकर संसार रचता है तब वह सोपाधिक कहलाता है। और जब सबोंको अपनेमें लयकर केवल आपही आप रहजाता है तब वह निरुपाधिक कहेलाता है।

यहांतक तो आनन्दकन्द व्रजचन्दने अर्जुनके प्रथम प्रश्न " किं तद्ब्रह्म " का उत्तर दिया।

अब दूसरे प्रश्न "अध्यात्मं किम"का उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि "स्वभावोध्यात्ममुच्यते" अर्थात् स्वभावको ही अध्यात्म कहते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ब्रह्मलोकसे लेकर पताल पर्य्यन्त जो कुछ आत्माका चमत्कार देखाजाता है अर्थात् तेतीसकोटि देव तथा चौरासी लक्ष योनियोंमें आत्माके प्रवेश करनेसे नाना प्रकारके भिन्न स्वभाव देखपडते हैं उनहीं प्रत्येक स्वभावको अध्यात्म कहते हैं। अर्थात् प्रत्येक चैतन्य जो देहोंको आश्रय करके भोक्तारूप होकर विलग–विलग चेष्टा करने लगजाता है उसे ही अध्यात्म कहते हैं। तहां ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिये, कि प्रत्येक देहमें जो आंख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियोंका समूह है वही अध्यात्म है। क्योंकि ये तो सबमें समान ही हैं पर भिन्न २ जीवोंमें जो अपने शरीरके अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टा करना है वही स्वभाव है और वेही एक ठौर सिमटकर अध्यात्म कहेजाते हैं। जैसे शाखामृग ( वानर ) और मृगपति ( व्याघ्र ) की ओर देखिये! यद्यपि इनकी इन्द्रियांसब एक समान हैं पर उनका अपना-अपना स्वभाव भिन्न है।

वानरका उछलकर एक डालसे दूसरे डालपर जाना और अपने बच्चेको एक हाथसे पेटमें लगाये उछलजाना, कन्द, मूल, फल तथा चांवल, मूंग, मटर इत्यादि अनाजोंका खाना, मनुष्योंकी ओर घुड़-

टिप्पणी— अध्यात्म शब्दका अर्थ है–"आत्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीति अध्यात्मम्" आत्मा अर्थात् जीवसहित देहको अपने अधिकारमें करके तिस अधिष्ठानमें स्थिर रहे उसे कहिये अध्यात्म।

श्रुतिः– "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्"।

कना तथा किलकिलाकर भागजाना एक प्रकारका स्वभाव है । और व्याघ्रका मांस खाना तथा एक ठौर किसी स्थानमें निर्भय पडारहना, कभी किसी अपने समीप आये मृगको उछलकर मारडालना दूसरे प्रकारका स्वभाव है।

पक्षियोंका आकाशमें उडना और सुरीली ध्वनिसे गान करना तीसरे प्रकारेका स्वभाव है ।

सर्पका पृथ्वीके नीचे घुसकर रहना और कभी कुछ नहीं बोलना चौथे प्रकारका स्वभाव है । एवम्प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरोंमें जो भिन्न–भिन्न स्वभाव देखेजाते हैं उन्हींको एक शब्दमें " अध्यात्म " कहते हैं।

शंका— जब एवम्प्रकार वह आत्मा स्वभावसे बद्ध हुआ तो उसका निर्लेप और निःसंग होना कैसे कहेंगे ?

समाधान— आत्मा तो सर्वप्रकारके स्वभावोंका साक्षीमात्र ही है और सबोंमें रहताहुआ भी निःसंग है । जैसे किसी गृहमें दीपक जलरहा है तहां प्रथम प्रहर रात्रिमें वेश्या नाचकरगयी, फिर द्वितीय प्रहर आरंभ होतेही किसी धर्मोपदेष्टाने धर्म्म उपदेश करना आरंभ करदिया, फिर तीसरे प्रहरमें एक बधिकने किसी बालकको गला घोंटकर मारडाला, अब चौथे प्रहरमें उसी स्थानपर ब्राह्मणोंने वेदोच्चारण आरंभ करदिया । अब विचारने योग्य है, कि चारों प्रहर रात्रिमें जो दीपक बलता रहा जिसके प्रकाशमें चार प्रकारके कार्य्य होतेरहे पर न उस दीपकको गान सुननेका कुछ आनन्द हुआ, न उपदेशसे किसी शिक्षाका ग्रहण हुआ, न बालकके मारे जानेका कोई

शोक हुआ और न वेदध्वनि सुननेका कुछ धर्म्म हुआ । क्योंकि वह तो चारों अवस्थाओंमें साक्षीमात्र रहा और निर्लेप रहा ।

इसी प्रकार यह आत्मा राजस, सात्विक और तामस तीनों प्रकारके शरीरोंके स्वभावका साक्षीमात्र है, किसी स्वभावसे बद्ध नहीं होता, निर्लेप रहता है । शंका मत करो !

इसी स्वभावके विषय भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "स्वभावस्तु प्रवर्त्तते" (अ० ५ श्लो० १४) स्वभावही वर्त्तमान रहता है । और फिर आगे कहेंगे, कि "स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा" (अ० १८ श्लो० ६०) अर्थात् स्वभावसे ही जो-जो कर्म इस जीवसे बन आता है उसीसे बद्ध यह जीव रहताहै ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यह स्वभाव दो प्रकार है— "बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोथ प्रकीर्त्तितः । निसर्गश्च स्वरूपं चेत्येषोऽपि भवति द्विधा" । (उज्वलमणिः) बाह्यहेतु जो बाहरका कारण उसकी अपेक्षा न करके स्वभावहीसे सदा वर्त्तमान रहता है सो निसर्ग और स्वरूप करके दो प्रकारका है— "निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यसंस्कार उच्यते" अर्थात् किसी प्रकार अभ्यासके दृढ होजानेसे जो उसका संस्कार अन्तःकरणपर जमजाता है तदनुसार यह प्राणी जो कुछ करने लगजाता है वह निसर्ग कहलाता है । जैसे संखिया जो +सात्म्य-

+ सात्म्य— उन पदार्थोंको कहते हैं जिनको स्वयं यह आत्मा बिना अभ्यास स्वीकार करता है । जैसे मीठा एक रस है जिसे बच्चाभी रुचिपूर्वक खाने लगता है पर लाल मिरच सात्म्य नहीं है ।

खाद्य नहीं है। खाते-खाते कोई पुरुष एक छटांक संखिया खाने लग-जावे अर्थात् उसे संखिया खानेका अभ्यास पडजावे तो इसी प्रकारके अभ्यस्त स्वभावको " निसर्ग " कहते हैं।

अब स्वरूप करके स्वभाको दिखलाते हैं— 'अजन्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपं भाव इष्यते " जो अजन्य हो अर्थात् किसी विशेष अभ्याससे उत्पन्न नहीं हुआ हो, स्वतः सिद्ध हो उसे स्वरूपस्वभाव कहते हैं। जैसे पक्षियोंका आकाशमें उडना। सो स्वरूप-जन्य स्वभाव अनगिनत हैं। कोकिल, कीर, कपोत, कुक्कुट, कीट, केंकडा, कच्छप, कुत्ता, कनखजूरा, खञ्जन, खर, गौ, गन्धर्व, गिरगट, गृद्ध, गेंडा, घोडा, घुग्घु, चील, चूहा, चकोर, चैंटे, छुछुन्दर, जम्बुक, जोंक, टिट्टिभ, टेंगी, ढोंढ, तीतर, ततैया, तितली, दादुर, दुमिक, दहियल, नेवला, दाग, नील-कण्ठ, पतंग, पाण्डुक, पिपरी, फेकार, वीरवहूटी, मोर, मेंढा, मछली, मैना, जुगनू, शूकर, श्याल, हस्ती (हाथी) इत्यादि जन्तुओंकी ओर देखनेसे इनके स्वरूपकी भिन्नता तथा उस स्वरूपके अनुसार स्वभावकी विचित्रता बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें आश्चर्य्यजनक है। इसीसे सिद्ध होता है, कि वह महाप्रभु स्वयं सहस्रों प्रकारके रूपोंको बनाकर आप उनमें प्रवेशकर भिन्न २ स्वभावोंका प्रेरक और साक्षी होगया है।

यह स्वभाव ही अत्यन्त प्रबल है। मनुष्य अथवा किसी प्राणीके शरीरमें चाहे कितने भी गुण भले बुरे क्यों न हों पर सब गुणोंको बाध-कर स्वभावहीकी सदा प्रबलता रहती है।

इसी कारण विष्णुशर्म्मा हितोपदेशमें कहते हैं, कि " यादृशी प्रकृतिर्यस्य न जहाति कदाचन। अंगारः शतधौतेन मलिनत्वं

न मुञ्चति । सर्वस्यहि परीत्त्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः । अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते । अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव होता है वह छूटता नहीं । जैसे अँगारा सहस्रोंवार धोनेसे भी उजला नहीं होता । जहां देखो तहां सर्वत्र स्वभावहीकी प्रवलता देखी जाती है । चाहे गुण लाख क्योंन हों पर सबको बाधकर केवल स्वभावही सिरपर वर्त्तमान रहता है ।

इसी कारण श्रीगोलोकविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि स्वभाव ही अध्यात्म है अर्थात् प्रत्येक चैतन्यात्मामें स्वभाव ही इस प्रकार चिपटा हुआ है जैसे नील-मणिमें नीलत्व । इसी कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राणियोंमें इस स्वभावहीको अध्यात्म कहते हैं । यह भगवान्ने अर्जुनके दूसरे प्रश्न 'अध्यात्मम् किम्' का उत्तर दिया ।

अब भगवान् अर्जुनके तीसरे प्रश्न 'किं कर्म्म' का उत्तर देते हुये कहते हैं, कि [ भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ] अर्थात् भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धिको करनेवाला जो विसर्ग है वही कर्म नामसे कहा जाता है तात्पर्य यह है, कि भिन्न २ यज्ञोंमें अन्न और घृतादि द्रव्योंका जो विसर्जन ( त्याग ) है सो ही कर्म्म है । अथवा हिरण्य, गो, महिषी इत्यादि दान देनेमें जो इन द्रव्योंका विसर्ग ( त्याग ) है उसको भी कर्म कहते हैं । सो ही भूतभावोद्भवकर है अर्थात् भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धिका कारण है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यज्ञादिमें घृतादि द्रव्योंके छोडनेसे मेघमाला, तिससे वृष्टि, तिससे सर्वप्रकारके अन्न तृणादि उत्पन्न होते

हैं फिर तिनसे प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है। ( देखो अ० ३ श्लो० १४ में )

इसलिये यह सिद्धान्त है, कि किसी भी प्रकारसे होम, यज्ञ, दान इत्यादिमें जो नाना प्रकारके द्रव्योंका त्याग है सो ही कर्म्म है और इस त्यागको " भूतभावोद्भवकर " भी इसी कारण कहा।

श्रुतिः— अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति " ( तैत्तिरी० व० ३ अनु० २ ) फिर कहा है, कि

श्रुतिः— " अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते "

( तैत्ति० अ० २ ब्रह्मानन्दवल्ली श्रु० २६ )

अर्थ— अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है और जितनी प्रजाएँ उत्पन्न होजाती हैं सब इस अन्न ही को खाकर जीती हैं सो अन्न पर्जन्यसे और पर्जन्य विसर्जनसे अर्थात् द्रव्यादि त्यागरूप कर्मसे उत्पन्न होता है। इसीलिये कर्मको " भूतभावोद्भवकरविसर्ग " कहते हैं। तिस भूतभावोद्भवकरविसर्गकर्मका अर्थ यों भी होसकता है, कि भूतोंके राजस, सात्विक और तामसादि जो भाव तिनका उद्भव अर्थात् उत्पत्तिका करनेवाला इत्यादि।

प्रश्न— इस श्लोकमें जो तीन प्रश्नोंका उत्तर भगवान्ने दिया उनमें दो प्रश्नोंके उत्तर तो सर्वमतावलम्बियोंको स्वीकार हैं पर तीसरे प्रश्नका उत्तर स्वीकार नहीं है अर्थात् यज्ञोंमें हवनीय द्रव्योंका छोडना ही कर्म है ऐसा स्वीकार नहीं है। इसलिये उचित है, कि उस तीसरे प्रश्नके उत्तरको भी सार्वभौम और सर्वग्राह्य-कर्मके रूपमें दिखलाना चाहिये।

उत्तर— भगवानका मुख्य अभिप्राय यह है, कि ज्ञानकी अग्निमें सर्व इन्द्रियोंके विषयरूप द्रव्यको त्याग करदेना ही यथार्थ ' विसर्ग ' है अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके साथ जो उसका विषयसुख है उसे परित्याग कर देना ही यथार्थ ' विसर्जन ' है। इसी कारण मोक्षमार्गानुगामियोंकेलिये अपनी शरीर यात्रामें विषयोंका त्याग ही कर्तव्य है और यही यथार्थ-कर्म मोक्षका सम्पादन करनेवाला है इसीको यथार्थ कर्म कहना चाहिये जो सर्वमतावलम्बियोंको स्वीकार हैं। क्योंकि जिससे भूतोंके भावकी वृद्धि हो, अर्थात् जीव वृद्धि करते-करते और उन्नति करते-करते मोक्ष तक पहुंचजावे उसीको ' भूतभावोद्भवकरकर्म ' कहते हैं सो केवल इन्द्रियोंके सुखका परित्याग करना ही है। जिसने इन्द्रियोंके सुखका परित्याग किया वह वृद्धि करते-करते कैवल्य-परमपद तक पहुंच जाता है।

पाठकोंके बोधार्थ अब विसर्गका तीसरा अर्थ कियाजाता है— विसर्ग कहते हैं दो विन्दुओंको ( : ) जिनमें एकको कुंडलिनी और दूसरीको महाकुंडलिनी कहते हैं। इनमें एक विन्दु जो महा कुण्डलिनीका स्थान है वह ऊपर है वही इस शरीरमें ब्रह्मरन्ध्रका स्थान है जिसे परम शिवका स्थान भी कहते हैं और दूसरी विन्दु जो नीचे है वह कुण्डलिनीका स्थान है जो जीवका निवासस्थान कहाजाता है। योगी लोग योगक्रिया द्वारा कुण्डलिनी ( जीव ) को महाकुण्डलिनीसे मिला देते हैं अतएव प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनीका जो उत्थापनक्रम है उसे भी ' विसर्ग ' कहते हैं।

यहां भगवानके कहनेका भी यही अभिप्राय है, कि उक्त योग-कर्मको भी ' भूतभावोद्भवकरविसर्ग ' कहते हैं जो जीवको ब्रह्मसे मिलादेता है ।

अब कुण्डलिनीको महाकुण्डलिनीसे मिलादेनेका प्रमाण योग-शास्त्रसे दियाजाता है—

" नीत्वा तां कुलकुण्डलीं नवरसां जीवेन सार्द्धं सुधीः । मोक्षे धर्मविशुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनीम् ॥ ध्यायेदिष्टफल-प्रदां भगवतीं चैतन्यरूपां पराम । योगीशो गुरुपादपद्मयुगला-लम्बी समाधौ युतः " ( षट्चक्र कुलकुण्डलिनीऊत्थापनक्रम श्लोक १ )

अर्थ— सुधी अर्थात् ज्ञानवान् योगी श्री गुरुदेवके चरणार-विन्दोंके सेवन करने वाले समाधि क्रियाके साधनमें लगेहुए नवरसों को प्रगट करनेवाली कुण्डलिनीको जीवके साथ लेकर मोक्ष देनेवाले निर्मल श्रेष्ठ सहस्रदल कमलके बीच परम शिवके समीप पहुंचाकर इष्टफलकी देनेवाली चैतन्यरूपा अति श्रेष्ठा सहस्रदलपद्माधिष्ठात्री श्री परमेश्वरी महाकुण्डलिनी देवीका ध्यान करते हैं । इसे भी कर्म कहते हैं । इस गीताके प्रथम षट्कमें भगवानने जितने कर्मोंका वर्णन तथा चौथे अध्यायमें जो बारह प्रकारके यज्ञ वर्णन किये हैं उनमें सबोंसे श्रेष्ठ इस योगकर्मको ही कहा है । जिसके अन्तर्गत ही कुण्डलिनी-उत्थापनक्रम है । इसी कारण योगेश्वर भगवान् कृष्ण-चन्द्रने इस गीताके छठवें अध्यायमें ज्ञान, ध्यान, जप, तप सबोंसे श्रेष्ठ योगको कहा है— " तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि

सतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाऽधिको योगी तस्माद्योगी भवाऽर्जुन!"
( अध्याय ६ श्लोक ४६ ) ॥ ३ ॥

यहां अक्षरब्रह्म, अध्यात्म और कर्म तीनोंका स्वरूप बतला कर भगवान्‌ने अर्जुनके प्रथम तीनों प्रश्नोंका उत्तर देदिया । अब अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके दूसरे तीनों प्रश्नोंका अर्थात् चौथे, पांचवें और छठेका उत्तर देंगे ।

मू०— अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर! ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] देहभृतांवर! ( देहधारिणां श्रेष्ठ ) क्षरः ( विनश्वरः ) भावः ( जन्मवद्वस्तु । देहादिपदार्थो वा ) अधिभूतम् ( प्राणिजातमधिकृत्य यत्किंचिद्भवतीति ) पुरुषः ( पूर्णमनेन सर्वमिति सर्वासु पुरुषु शेत इति सर्ववर्णानुग्राहको हिरण्यगर्भो वा ) च ( तथा ) अधिदैवतम् ( वैराजं देहमासाद्यादित्यमण्डलादिषु दैवतेषु योऽन्तरेवस्थितो व्यष्टिवर्णानुग्राहकः ) अत्र (अस्मिन्) देहे ( शरीरे ) अहम् ( वासुदेवः ) एव, अधियज्ञः ( यज्ञादिकर्म प्रवर्तकस्तत्फलदानयज्ञाभिमानीविष्णुरन्तर्यामी ) ॥ ४ ॥

पदार्थः— [ हे ] ( देहभृतांवर! ) देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! ( क्षरः, भावः ) जो नाशवान् वस्तु है उसे ( अधिभूतम् ) अधिभूत कहते हैं ( च ) तथा ( पुरुषः ) हिरण्यगर्भ जिससे सम्पूर्ण जगत् पूर्ण होरहा है और देहधारियोंके शरीरमें शयन कियेहुआ

है सो ही ( अधिदैवतम् ) अधिदैव कहाजाता है ( अत्र देहे ) इस शरीरमें ( अहमेव ) मैं वासुदेव ही निश्चयकरके ( अधियज्ञम ) अधियज्ञ कहाजाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः—अर्जुनके तीन प्रश्नोंका उत्तर भगवान् पूर्वश्लोकमें देचुके हैं। अब फिरे अगले तीन अर्थात् चौथे, पांचवें और छठवें प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [ अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ] जितनी वस्तु इस पंचभूतसे उत्पन्न हो नाश होजाया करती हैं वे सब अधिभूत कहलाती हैं और जो पुरुष है वह अधिदैवत कहाजाता है। इन पंचभूतोंका पंचीकरण होकर किस प्रकार नाश होनेवाले और उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंकी रचना और नाश हुए? तिनका पूर्ण वर्णन अ० ७ श्लो० १२ में करआये हैं। पुरुष शब्दका अर्थ "पूर्णमनेन सर्वमिति" जिससे ब्रह्माण्डमात्र पूर्ण हो अथवा 'सर्वासु पूर्षु शेत इति' जो सब पुरियोंमें निवासकरे अर्थात पंचभूतके बनेहुए जितने ये पांच-भौतिक शरीर हैं सबमें जो निवास करता है वही पुरुष कहाजाता है। प्रमाण—श्रु०—"ॐ पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते॥" ( कठो० अ० २ व० २ श्रु० १ )

अर्थ— वह ब्रह्म जो "अवक्रचेतस" है अर्थात् शुद्ध निर्म्मल सूर्य्यके प्रकाशवत् है, छल कपटादिसे रहित है और अजन्मा है यह ग्यारह द्वारका शरीर तिसीका घर है अथवा राजधानी है सो जो प्राणी इसका अनुष्ठान करता है सो सब बन्धनोंसे छूटकर मुक्त होजाता है फिरे श्रीमद्भागवतका प्रमाण है, कि "पुरोरायनेन

सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः । शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषोऽह्यसौ ॥ ( श्रीमद्भागवत स्कं० ७ अ० १४ श्लो० ३७ )

अर्थ— नारद युधिष्ठिरसे कहरहे हैं, कि हे राजन् ! उसी अच्युत भगवानने मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि और देवता इन सब पुरोंको अर्थात् शरीरोंको उत्पन्न करके इनमें अन्तर्य्यामीरूपसे तथा प्रत्येकमें जीवरूपसे यह स्वयं निवास करते हैं इसी कारण पुरुष नाम करके प्रसिद्ध है ।

अथवा " पिपर्त्ति पूरयति वलं यः " जो सबमें वल अर्थात् अद्भुत कार्योंके करनेकी शक्ति प्रदान करे सो कौन है ? वही पुरुष है । अर्थात् 'भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः ॥ " अर्थात भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु और अविद्या येही आठ पुरियां हैं जो मरणके पश्चात् एक शरीरसे दूसरे शरीरकी ओर जाती हैं सो जो इन आठोंमें अर्थात् इस पुर्य्यष्टकामें निवास करके इन आठोंको शक्तिमान बनाता रहता है वही पुरुष है । उसी पुरुषकी स्तुति वेद पुरुषसूक्तमें यों कररहा है, कि " ॐ पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् " अर्थात् ये सब रचनाएं जो भूतकालमें होचुकी हैं, वर्त्तमानकालमें होरही हैं और भविष्य कालमें होंगी सब पुरुषही हैं सो पुरुष ब्रह्मही है इतर कुछ नहीं इसलिये वही " अधिदैव " कहाजाता है ।

बहुतेरे विद्वानोंकी यह भी सम्मति है, कि ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुवेर, सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि देवोंको भी अधिदैव कहसकते हैं तो इनको भी अधिदैव कहनेमें कोई हानि नहीं है । क्योंकि जो लोग

सकाम-भक्त हैं अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी हैं वे इन देवताओंकी भी उपासना और पूजा करते हैं पर सबोंका फल देनेवाला तो वही अधिदैवरूप महाप्रभु है। तहां भगवान स्वयं अपने मुखसे कह आये हैं, कि " कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः " ( अ० ७ श्लो० २० ) जो लोग कामनावश होकर अज्ञानी होरहे हैं वे भगवत्को छोड अन्य क्षुद्र देवताकी पूजादि करते हैं पर फिर उसीके साथ यह भी कहा है, कि " यो यो यां यां तनुं भक्तः.... " तथा " लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् " ( अ० ७ श्लोक २१, २२ ) अर्थात् जो-जो प्राणी जिस-जिस मूर्तिकी श्रद्धासे पूजा करते हैं मैं स्वयं उनको उनही—उनही देवताओंकी मूर्त्तिविशेषसे उनकी श्रद्धाको दृढ करदेता हूं। तब वह भक्त उसी श्रद्धासे युक्त होकर उसकी आराधना करता है तदनन्तर मुझहीसे दी हुई कामनाएँ उसे प्राप्त होती हैं। अर्थात कोई प्राणी किसी भी बडे वा छोटे देवताकी आराधना क्यों न करे सबको अपना ही रूप समझकर उन सब पूजाओंको मैं ही स्वीकार करता हूं और मैं ही देवताओंके द्वारा उन भक्तोंकी मनःकामनाओंको पूर्ण करता हूं। इसीलिये भगवान्के इन वचनोंके अनुसार यदि कोई विद्वान् अन्य देवताओंको भी अधिदैव कहदेवे तो कोई हानि नहीं पर यथार्थमें अधिदैव केवल इसी ब्रह्मको कहना चाहिये। यह अर्जुनके चौथे और पांचवें प्रश्न " अधिदैवं किम् " और " अधिभूतम् किम् " का उत्तर हुआ।

अब भगवान अर्जुनके छठवें प्रश्न ' अधियज्ञः कः ' का उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [ अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर!]

हे देह भृतांवर ! देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! मैं ही अधियज्ञ हूं और इसी देहमें स्थिर रहता हूं। अर्थात् यज्ञका अधिष्ठातृदेव मैं ही हूं।

भगवान्‌ने अपने मुखारविन्दसे इस गीताके चौथे अध्यायमें १२ प्रकारके यज्ञ कथन किये। "दैवमेवापरं यज्ञ ........" इस २५वें श्लोकसे आरम्भ करके साढे पांच श्लोकोंमें १२ प्रकारके यज्ञोंका कथन किया है। ( देखो अ० ४ श्लो० २५ से ३० तक ) इन बारहों प्रकारके यज्ञ करनेवालोंके विषय भगवान्‌ने कहा है, कि " सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः " अर्थात् ये सर्व प्रकारके यज्ञ करनेवाले इन यज्ञोंके द्वारा अपने-अपने कल्मषोंको नाश करके उस सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और मेरे स्वरूपमें आमिलते हैं।

---

टिप्पणी— **देहभृतांवर !** देहधारियोंमें श्रेष्ठ। यहां देहधारियोंमें श्रेष्ठ कहनेसे भगवान्‌का अभिप्राय यह है, कि जितने अयोनिज अथवा योनिज शरीरधारी हैं तिनमें इस समय अर्जुनकी ही श्रेष्ठता है। यद्यपि बडे-बडे पुण्यवान् नरेश योद्धा श्रेष्ठकुलोंमें उत्पन्न इस महाभारतके युद्धमें आकर उपस्थित हैं वे भी साधारण प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं पर इन सबोंमें अर्जुनकी ही अधिक श्रेष्ठता है। क्योंकि इस रणमें कोई भी श्रेष्ठ नहीं है, कि जिसका रथवान क्षुद्र देवताओंमेंसे कोई भी हो और तहां अर्जुनके रथपर साक्षात् श्री हरि रथवान होकर आबैठे हैं और अर्जुनके कर्णपुटोंको उपदेश सुना कर संतृप्त कर रहे हैं। तहां अर्जुन ही इस महाभारतको विजय भी करेगा। इसलिये यह कहना ही पडेगा, कि इस समय देहधारियोंमें अर्जुनसे बढकर कोई दूसरा भाग्यवान् नहीं है। इसी कारण भगवान् **देहभृतांवर !** कहकर अर्जुनका उत्साह बढारहे हैं।

यहां इन यज्ञोंका विषय स्मरण करानेका तात्पर्य यह है, कि इन सर्व प्रकारके यज्ञोंका अधिष्ठातृदेव जो इन यज्ञोंमें अधिगत है केवल एक वही महाप्रभु वासुदेव भगवान है। क्योंकि श्रुतिका वचन है, कि 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञस्वरूप ही विष्णु है अन्य कुछ नहीं इसलिये सब यज्ञ करनेवालोंको वही विष्णु भगवान सच्चिदानन्द आनन्दघन प्राप्त होता है। क्योंकि वही इस देहमें अन्तर्यामीरूपसे निवास करता है अर्थात् सर्व प्राणियोंके हृदयमें वसकर उनके सब व्यवहारोंको अपनी आज्ञाके भीतर रखता है। यदि वह इन देहधारियोंमें निवास न करे तो यह शरीर एक पलमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता। इसलिये इष्ट, अनिष्ट, विधि, निषेध, स्वार्थ, परमार्थ इत्यादि सर्व प्रकारके कार्योंके करते समय वही अधियज्ञ अन्तर्यामी रूपसे सहायता करता रहता है।

शंका— इस शरीरमें जैसे दस इन्द्रियां तथा चार अन्तःकरण हैं इसी प्रकार यह 'अधियज्ञ भी इसमें निवास करता हो तो ये जो इन्द्रियोंके सहित १४ भिन्न २ करणोंकी गणना कीजाती है। इसी प्रकार अधियज्ञ भी कोई एक करण ही होगा तो उचित है, कि १५ करणोंकी गणना एक साथ होनी चाहिये।

समाधान— अधियज्ञ करणोंके समान नहीं है। क्योंकि करण तो उसे कहते हैं जिससे केवल एक प्रकारका कार्य साधन होवे और एक ही प्रकारका विषय ग्रहण होवे। जैसे आंख केवल देखनेका कार्य

करसकती है सुनना, बोलना इत्यादि अन्य करणोंका कार्य नहीं कर सकती इसी प्रकार अन्य करणोंको भी जानना चाहिये। अतएव अधियज्ञ जो विष्णुदेव इस देहके साथ निवास करता है वह अकेला ही चौदहों करणों (दश इन्द्रिय और चार अन्तःकरण) का कार्य सम्पादन करता है। इसलिये यह करण नहीं कहा जासकता वरु करणाधिपति और हृषीकेशके नामसे पुकारा जासकता है। इसलिये करणोंका प्रेरक तो वह अवश्य है पर स्वयं करणरूप नहीं है। पाठकोंके बोधार्थ इसे और भी स्पष्ट करदिया जाता है। जैसे चतुर्दश ( चौदह ) पहलवाले लालटेनके भीतर जो वत्ती जलती है वह चौदहों पहलमें अपना प्रकाश करती है। इसी प्रकार वह वासुदेव प्रकाशरूप होकर चौदहों करणोंको प्रकाशित करता है पर स्वयं करण नहीं है। शंका मत करो!

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ये इन्द्रियां जो कुछ भी करती हैं सब यज्ञ हीके नामसे पुकारा जाता है। क्योंकि यह शरीरयात्रा ही यज्ञ है। जो प्राणी नियमपूर्वक वेद और शास्त्रोंकी आज्ञानुसार अपने वर्ण और आश्रमका धर्म सम्पादन करता है वह मानो! यज्ञ ही करता है। इसलिये प्राणी अपनी शरीरयात्राके आरंभसे समाप्ति तक जो कुछ करता है सब यज्ञ ही है, तिन यज्ञोंका प्रकाशक वही एक महाप्रभु है। इसीलिये वही अधियज्ञ कहाजाता है।

प्रश्न— ऐसा जो कहा, कि " देहेऽस्मिन " अर्थात् शरीरके भीतर मैं हूं सो क्या वह वासुदेव शरीरके बाहर नहीं है ?

उत्तर— यद्यपि वह शरीरके बाहर भीतर दोनों ओर है पर बाहर सामान्यरूपसे व्यापक है। क्योंकि पंचभूतसंस्कारके नहीं मिलनेसे लौकिक व्यवहारमें कुछ नहीं करसकता। पर जो वह भीतर विशेषरूपसे विराज रहा है उसीके द्वारा सब व्यवहार होरहे हैं।

प्रश्न— जैसे शरीरके भीतर देखने, सुनने तथा मनन करने और विचारनेकी शक्ति अनुभव होती है। ऐसे इस अधियज्ञका अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर—श्रु० "ॐ न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" ( बृह० अ० ३ ब्रा० ४ श्रु० २ )

अर्थ— इस लौकिक दृष्टिसे उस अलौकिक द्रष्टाको तू नहीं देखसकता! इसी प्रकारे इस लौकिक कान, मन तथा विज्ञानसे तू उस अलौकिक सुननेवाले मननकरनेवाले और सब कुछ जाननेवालेको नहीं सुनसकता! नहीं मनन करसकता और नहीं जानसकता! इसी कारण वह अधियज्ञ शरीरमें वर्त्तमान रहता हुआ भी अनुभव नहीं होता गुप्त ही रहता है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि वह सबोंका ज्ञाता है पर उसका ज्ञाता कोई भी नहीं है। सो भगवान् अ० ७ श्लो० २६ में अर्जुनसे कह आये हैं कि "मान्तु वेद न कश्चन" अर्थात् मैं भूत, वर्त्तमान भविष्य सब जानता हूं पर मुझको कोई नहीं जानता। तात्पर्य यह है,

कि वह वासुदेव ही स्वयम् अधियज्ञ है जिसके अधीन सब कर्म होरहे हैं। सूर्य्य, चन्द्र, तारागण, देव, देवी, पितर, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग सब जिसके अधीन होकर शरीरयात्रारूप यज्ञको पूर्णकरते चलेजारहे हैं इसी कारण उस दयासागरको अधियज्ञ कहते हैं।

बहुतेरे टीकाकारोंने यह लिखदिया है, कि यह अधियज्ञ केवल मनुष्यहीके शरीरमें निवास करता है अन्यमें नहीं। सो ऐसा कहना अधियज्ञ शब्दको संकुचित करदेना है और एकदेशीय बनाना है तथा उसकी व्यापकतामें भी दोष लगाना है। क्योंकि वह अपने सामान्य वा विशेषरूपसे सब शरीरधारियोंके भीतरे और बाहर व्यापरहा है ॥४॥

यहांतक भगवान अर्जुनके ६ प्रश्नोंका उत्तर देचुके, अब "प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोसि" इस सातवें प्रश्नका उत्तर अगले श्लोकमें देते हैं—

**मू०— अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥**

**पदच्छेदः—** यः (पुरुषः) अन्तकाले (प्राणप्रयाणकाले) च (अपि) माम (भगवन्तम वासुदेवम्) एव, स्मरन् (चिन्तयन) कलेवरम (शरीरम्) मुक्त्वा (परित्यज्य) प्रयाति (गच्छति। प्रकर्षेणार्चिरादि मार्गेण याति) सः, मद्भावम् (मद्रूपताम। वैष्णवं तत्त्वम् वा) याति (प्राप्नोति) अत्र (अस्मिन्नर्थे) संशयः (संदेहः) न, अस्ति (नैव विद्यते) ॥ ५ ॥

पदार्थः—( यः ) जो प्राणी ( अन्तकाले ) मरणके समय ( च ) भी ( माम् ) मुझ भगवान् वासुदेवको ( एव ) निश्चयकरके ( स्मरन् ) चिन्तमन करताहुआ ( कलेवरम् ) अपने शरीरको ( मुक्त्वा ) छोड़कर ( प्रयाति ) अर्चिरादि मार्ग होकर जाता है ( सः ) सो प्राणी ( मद्भावम् ) मेरे भावको वा ब्रह्मतत्त्वको ( याति ) प्राप्त करता है ( अत्र ) इस बातमें तनक भी ( संशयः ) सन्देह ( नास्ति ) नहीं है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो सातवें प्रश्नमें पूछा है, कि हे भगवन् ! मरणके समय तुम प्राणियोंसे किस प्रकार जानेजातेहो ? इसीका उत्तर देतेहुये भगवान् कहते हैं, कि [ **अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्** ] मरणकालमें जो प्राणी मुझ भगवान् वासुदेवको स्मरण करताहुआ शरीर त्यागता है वही मुझको प्राप्त करता है अर्थात् मरणकालमें बडी व्याकुलता होती है, इन्द्रियां व्यग्र होजाती हैं, बुद्धि स्थिर नहीं रहती, घोर मूर्छा लग पडती है और वृत्तियां विखरजाती हैं। ऐसे समयमें भी जो शरीर छोड-नेवाला अपनी मनोवृत्तिको स्थिरेकर मेरे स्वरूपमें लगाता है, चाहे वह मेरा स्वरूप निर्गुण हो वा सगुण हो किसीमें भी अपने मनको स्थिर करता है। एवम्प्रकार स्थिरकर सर्वत्र मेरे ही स्वरूपको देखताहुआ अन्य सर्व प्रकारके संकल्पोंसे वर्जित हो अपने शरीरके " अहं मम " भावको त्यागकर पुत्र, कलत्र, धनादि सबोंसे स्नेह तोडकर [ **यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः** ] जो प्राणी चलाजाता है अर्थात् देवयान, पितृयान, इत्यादि मार्गोंसे जाता है वह मुझको प्राप्त

होजाता है अथवा जहां शरीर छोडता है वहां ही वह प्राणी अवश्य मेरे भावको प्राप्त होता है, अर्थात् क्रममुक्ति वा साक्षान्मुक्ति दोनोंमें एकको लाभ करता है ।

जो साकार उपासनावाले हैं जिनने भगवान्की साकारमूर्त्तियोंसे स्नेह किया है वे कीट—भृंगी—न्यायसे भगवत्के साकारस्वरूपको प्राप्तकर उनकी साकार—मूर्त्तिके साथ गोलोक इत्यादि लोकोंमें नित्य विहार करते हैं जिन लोकोंका कभी भी नाश नहीं होता । क्योंकि मेरा जो स्वरूप गोलोकमें है वह मेरा नित्य-स्वरूप है । जैसे मेरा निराकार-स्वरूप नित्य है ऐसे गोलोक इत्यादि निवासी साकार भी नित्य हैं ।

**प्रश्न—** महाप्रलयमें जब ब्रह्मलोक नाश होजाता है तब तो गोलोकादिका भी नाश होजाता होगा ?

**उत्तर—** महाप्रलयमें ब्रह्मलोकतक तो नाश होजाता है पर गोलोकादि जो भगवत्-क्रीडाके निज स्थान हैं नाश नहीं होसकते । यदि गोलोकका नाश मानाजावेगा तो साकारब्रह्मका भी नाश मानना पडेगा । पर ब्रह्म साकार हो वा निराकार किसीका भी नाश नहीं होसकता । क्योंकि नाशकरनेवाला औरोंको नाश करसकता है पर अपने स्वरूपको नाश नहीं करसकता ।

जो लोग विद्वान्, बुद्धिमान, योगी वा ज्ञानी हैं वे भगवान्के दोनों स्वरूप अर्थात् साकार और निराकारको नित्य मानते हैं । ब्राह्मणभाग वेदका वचन है, कि " द्वावेव ब्रह्मणो रूपे यन्मूर्तं चामूर्तं चेति "

अर्थ— उस परब्रह्मके दो रूप हैं, मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् इसलिये दोनों नित्य हैं। अतएव भगवान यहां यों कहरहे हैं, कि "मद्भावं याति" मेरे भावको प्राप्त होता है इससे दोनों तात्पर्य्य हैं। अर्थात् साकार भाव और निराकार भाव।

साकार-भक्तोंके कल्याणनिमित्त यहां गोलोकका वर्णन करदिया जाता है। गोलोकः ( गोभिस्तेजोभिरुपलक्षितो लोको ब्रह्मस्वरूप-ज्योतिर्मयलोक इत्यर्थः ) यह श्रीकृष्णका नित्य धाम है।

"निराधारश्च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डानां परो वरः।
तत्परश्चापि गोलोकः पंचाशत्कोटियोजनात्॥
ऊर्ध्वं निराश्रयश्चापि रत्नसारविनिर्मितः।
सप्तद्वारः सप्तसारः परिखासप्तसंयुतः॥
लक्षप्राकारयुक्तश्च नद्या विरजया युतः।
वेष्टितो राजशैलेन शतशृंगेण चारुणा॥
योजनायतमानं च यस्यैकं शृंगमुज्ज्वलम्।
शतकोटियोजनश्च शैल उच्छ्रित एव वै॥
दैर्ध्यं तस्य शतगुणं प्रस्थे च लक्षयोजनम्।
योजनायुतविस्तीर्णस्तत्रैव रासमण्डलः॥
अमूल्यरत्ननिर्माणो वर्तुलश्चन्द्रबिम्बवत्।
पारिजातवनेनैव पुष्पितेन सुवेष्टितः॥
कल्पवृक्षसहस्रेण पुष्पोद्यानशतेन च।
नानाविधैः पुष्पवृक्षैः पुष्पितेन च चारुणा॥

त्रिकोटिरत्नाभरणैर्गोपीलक्षैश्च रक्षितः ।
रत्नप्रदीपयुक्तश्च रत्नतल्पसमन्वितः ॥
नाना भोगसमायुक्तो मधुवापीशतैर्वृतः ।
पीयूषवापीयुक्तश्च कामभोगसमन्वितः ॥

( ब्रह्मवैवर्तपुराणे कृष्णखण्डे ) अर्थ स्पष्ट है ।

यह भगवनका नित्य धाम है इसका कभी नाश नहीं होता। अर्थात अनगिनत कोटि महाप्रलय क्यों न होजावें पर इसका नाश नहीं होता । फिर जो भक्तजन मरणकालमें गोलोककी ओर जाते हैं उनको भगवान आप लेजाते हैं ।

शंका— ऊपर जो गोलोककी नित्यता वर्णन कीगयी सो गोलोक किस तत्त्वका बनाहुआ है ? जिसका महाप्रलयमें भी नाश नहीं होता । यदि पंचभूतसे बना हो तबतो उसका नाश ही होजाना चाहिये । क्योंकि भगवनकी जो अपरा प्रकृति ये पंचभूतादि हैं सब नाशवान् हैं । फिर गोलोक यदि पंचभूतका हो तो क्यों नाशको प्राप्त नहीं होगा ?

समाधान— गोलोक पंचभूतका बनाहुआ नहीं है और जो उसके वर्णनमें यह कहागया है, कि वह रत्नसारसे निर्मित है तथा बहुतसे उसमें महल और बहुतसी अटारियां हैं और विरजा नदी बहती है, तहां एक पर्वतपर रासमण्डलका भी स्थान है, पारिजातादि पुष्प हैं, सहस्रों कल्पवृक्ष लगेहुये हैं तथा मधु और अमृतकी वापियां हैं सो ये सब हमलोगोंके इस मर्त्यलोकके वृक्ष वा वापिओंके सदृश

पांचभौतिक नहीं है। ये ज्योतिर्मय हैं सो ज्योति भी ऐसी नहीं जिसे हमलोग इस अपने भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोकादिमें स्थित सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा विद्युतमें देखते हैं। इस सूर्यको जिसे हमलोग देखते हैं ऐसे-ऐसे करोडों सूर्योंकी ज्योतिको एकत्र करदीजावे तो भी उस परमज्योतिके सम्मुख ऐसी देखपडेगी जैसे सूर्यके सम्मुख छोटी चिनगारी।

इसलिये मनुष्योंकी शक्ति ऐसी नहीं है, कि ज्योतिर्मय-लोकका कुछ भी अनुमान करसकें फिर जिसका अनुमान ही नहीं होसकता अर्थात् जो वस्तु अपने विचारसे बाहर है उसको यदि प्रतिवादी जो केवल निराकारका माननेवाला है मिथ्या वा गप्प कहे तो कहे पर यथार्थमें जे विचारवान् हैं वे ऐसा समझते हैं, कि ईश्वरत्व परिमित नहीं है। वरु यों कहना पडेगा, कि जो कुछ हमलोग देख सकते हैं वह उस की महिमाका बहुत ही अल्प है।

इसी कारण पुरुषसूक्तमें वेदने कहा है, कि ' एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ' ( पुरुषसूक्त मंत्र ३ ) जिसका भाष्य सायणाचार्य यों करते हैं, कि " अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावद्यस्यैतावान् सर्वोप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम् वास्तवस्तु पुरुषः। अतो महिम्नोऽपि ज्यायानतिशयेनाधिकः। एवं च सया स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रय

वर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपादस्वरूपममृतं विनाशरहितं सद्दिवि द्योतनात्मकस्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठतेति विशेषः। यद्यपि सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्मेति परब्रह्मण इयत्ताया अभावात्पादचतुष्टयं निरूपयति यशक्यं तथापि जगदिदम्ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः ॥ ३ ॥ ”

जिसका अर्थ यह है, कि जो कुछ चराचर जगत् है सब उस महापुरुषकी महिमा और सामर्थ्य है पर यह जितनी हमलोग देखते हैं उतनीही उसकी महिमा नहीं है वरु इससे बहुत अधिक है । इस वार्त्ताको स्पष्टरूपसे दिखाते हैं, जिसे दिखानेकेलिये चार पाद मानकर कहते हैं, कि यह जो कुछ रचना देखनेमें आती है सो उस महाप्रभुकी महिमाका एक पाद है शेष तीन पाद दिव्य हैं और अमृतस्वरूप हैं । इसी मंत्रसे सिद्ध होता है, कि वह जो गोलोक सो ही उसके दिव्य तीन पादोंके अन्तर्गत है, इसमें सन्देह नहीं होसकता ।

रामोपासनावाले इसी लोकको साकेतलोक मानते हैं । और कोई २ कहते हैं, कि गोलोक साकेतलोकके अन्तर्गत है । पर ये बातें तो केवल अपनी-अपनी उपासनाका रहस्य है तथा खींचातानी है । उसी दिव्य ज्योतिर्मय-स्थानको गोलोक कहिये चाहे साकेतलोक कहिये कुछभी हानि नहीं है यहां तात्पर्य्य केवल साकारोपासनासे है ।

इसी गोलोकके समीप ब्रह्मादि देव आकर इसकी स्तुति कर लौटजाते हैं । ( देखो ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णखण्ड ) इसी धामके विषय भगवान् आगे कहेंगे, कि “यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं

मम" (श्लो० २४) साकार-उपासक सगुण-ब्रह्मसे स्नेह करनेवाले शरीर छोडनेके पश्चात् किस प्रकार किस-किस मार्ग होकर शनैः शनैः गोलोक पहुंचजाते हैं? सो भिन्न-भिन्न मार्ग आगे इसी अध्यायके श्लो० २४, २५में दिखलाये जावेंगे।

यह तो उन प्राणियोंके लिये कहागया जो मरणकालमें सगुण ब्रह्मका चिन्तन करतेहुए शरीर छोडते हैं।

इस श्लोकमें "मद्भावं याति" कहनेसे भगवान्का तात्पर्य साकार और निराकार दोनों भावोंसे है जिनमें साकार भावका वर्णन होचुका अब निराकार भावका वर्णन कियाजाता है।

जो निराकार उपासक हैं जिनने अनेक जन्मोंमें वैराग्यके अभ्यास द्वारा अन्तःकरणको शुद्धकर अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञको पूर्णप्रकार जाना है, द्वन्द्व मोहसे छुटकारा पाकर जिनके पापोंका पूर्ण प्रकार क्षय होगया है भगवान्के अव्यक्तस्वरूपको जानतेहुए उदार-बुद्धिसे " वासुदेवः सर्वमिति " ऐसा अनुभव करतेहुए अपने ज्ञानबलसे भगवत्के निराकार-स्वरूपमें नित्ययुक्त अपने आत्माके समान सबोंको देखनेवाले आत्मवत् अर्थात् सबको अपनेमें और अपनेको सबमें देखनेवाले सर्वत्र समदर्शी, सर्वकामनाओंसे रहित शीतोष्ण, दुःख, सुख, लोहा, काञ्चन, ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय और कुत्तीको एक समान देखनेवाले ज्ञानविज्ञानसे तृप्त, कूटस्थ, विजितेन्द्रिय और त्यक्त-सर्व परिग्रह हैं वे जब मरणकालमें प्राण छोडते हैं तब उनको कहीं भी किसी मार्ग होकर आनाजाना नहीं होता। वे तो जहां शरीर त्यागते हैं

यहां ही ब्रह्मस्वरूप होजाते हैं । ऐसे निराकार उपासकोंका उत्क्रमण अर्थात् ऊपरको उठना नहीं होता। तहां श्रुतिका प्रमाण है— " न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते " ।

अर्थ— निराकार-उपासनासिद्धिवालोंके प्राण उत्क्रमण नहीं करते किन्तु यहां ही इस शरीरके भीतर ही भीतरे ब्रह्ममें लय होजाते हैं। क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है तथा छोटेसे भी छोटा अत्यन्त सूक्ष्म एक अणुमात्र स्थानमें भी फैल रहा है। इसलिये ज्ञानी सर्वत्र जहां ही शरीर छोडता है तहां ही भगवत्स्वरूपमें लय होजाता है।

गोलोक निवासी साकार उपासक जो गोलोक तक पहुंचने वाले और निराकार उपासक जो यहां ही ब्रह्ममें लय होजाने वाले हैं इन दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। क्योंकि दोनों नित्यस्वरूप नित्यानन्दके भोगने वाले होजाते हैं।

अब भगवान इसी विषयको पुष्ट करनेके तात्पर्यसे इस श्लोकके अन्तमें कहते हैं, कि " नास्त्यत्र संशयः " इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। अर्थात् मेरी उपासना करनेवाले अवश्य ही मेरे भावको प्राप्त होते हैं निर्गुण हो वा सगुण। यदि पूछो, कि साकार उपासना करने वाले निराकारस्वरूपकी उपासना क्यों नहीं करते ? तो कारण यह है, कि " रुचिवैचित्र्यात् " मनुष्योंकी रचनामें रुचिकी विचित्रता है सो स्वाभाविक है । इसी कारण ऐसा भेद भान होरहा है नहीं तो यथार्थमें कोई भेद नहीं।

शंका— निराकार उपासनावाला जब एकाकी होगया तब उसे रमण और विहारका आनन्द कहां रहा ? क्योंकि " एकाकी न रमते "

यह वृहदारण्यककी श्रुतिका वचन है। जब आनन्द ही नहीं तब जडवत् होगया ऐसा कहना पडेगा।

समाधान— श्रुति जो यों कहती है, कि 'एकाकी न रमते' यह सत्य है पर रमण क्या है? और किस तत्त्वको रमण करना कहते हैं? सो जानना अति ही आवश्यक है। रम धातुसे भावार्थमें ल्युट् प्रत्यय करनेसे रमणका अर्थ महासुख होता है।

तहां उस महासुखकी प्राप्तिकेलिये दो प्रकारकी गतियां हैं। आन्तरिक और बाह्य। प्रमाण श्रुतिः— "द्वा वा एता अस्य पन्थाना अन्तर्बाह्यश्च"। अर्थ— इसके दो मार्ग हैं अन्तर और बाह्य।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि श्रुतिने बाह्यगतिवालोंके लिये "एकाकी न रमते' कहा। जैसे जाग्रत्में बिना स्त्री और पुरुषके रमण नहीं होसकता। पर अन्तर्गति वालोंके लिये तो एकाकी भी रमण होसकता है। जैसे स्वप्नमें बिना स्त्री ही के एकाकी रहनेपर भी सुख प्राप्त होजाता है। तहां वह स्त्री स्वप्न देखने वाले पुरुषकी स्मृति मात्रमें रहती है। इससे सिद्ध होता है, कि यदि शुद्ध स्मृति बनी रहे तो एकाकी भी रमण होसकता है। निराकार ब्रह्मसुख को लाभ करनेवाला जो एकाकी होगया है उसकी स्मृतिमें ब्रह्मके साथ रमण करनेका सुख बनाहुआ है इसलिये उसको जडवत् मत कहो क्योंकि ब्रह्म स्वयं चेतन है। इसलिये उसका सुख भी चेतन ही होगा। क्योंकि निराकार-उपासना वाला जिस समय साकार उपासनाका अभ्यास कररहा था उस समय उसके अन्तःकरणपर साकार

उपासनाके महासुखकी स्मृति जमगयी सो निराकार-उपासना तक भी नित्य बनी रहती है। शंका मत करो!

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि 'नास्त्यत्र संशयः' इसमें तनक भी संशय न करना ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह तो तुमने उन लोगोंकी गति कही जो तुम्हारे उपासक हैं पर तुमने जो पहले क्षुद्रदेवताओंकी उपासनाकरनेवालोंके विषय कहा, कि उनके उपासकोंकी कामनाओंकी पूर्ति तुमही करते हो सो इन उपासकोंकी गति मरणकालमें कैसी होती है? कृपाकर कहो।

इतना सुन भगवान बोले अर्जुन सुन!

**मू०— यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥**

**पदच्छेदः—** [ हे ] कौन्तेय! ( कुन्तिपुत्रार्जुन! ), यम्, यम् अपि, वा, भावम् ( देवताविशेषम्। यत्किञ्चिदन्यदपि वा ) अन्ते ( प्राणप्रयाणकाले ) स्मरन् ( चिन्तयन् ) कलेवरम् ( देहम् ) त्यजति ( जहाति ) सदा ( सर्वदा ) तद्भावभावितः ( भावाकार-वासनया रंजितः ) तम्, तम् ( स्मर्य्यमाणं भावम् ) एव ( निश्चयेन ) एति ( प्राप्नोति ) ॥ ६ ॥

**पदार्थः—** हे (कौन्तेय!) कुन्तीकापुत्र अर्जुन! (यंयमपि वा) कोई प्राणी जिस किसी भी ( भावम् ) देवता विशेषको अथवा किसी

भी अन्य वस्तु–तस्तुको ( अन्ते ) अन्तकालमें ( स्मरन् ) स्मरण करताहुआ ( कलेवरम् ) शरीरको ( त्यजति ) परित्याग करता है सो ( सदा ) सर्वकालमें ( तद्भावभावितः ) तद्भावभावितहोकर अर्थात् उसी भावके बार-बार अभ्यास करनेके कारण उसी वासनाके अनुसार संस्कारयुक्त होकर अर्थात् वही स्वरूप होकर ( तन्तम् ) उसी-उसी भावको अर्थात् अपने स्मरण कियेहुए देवता विशेषको अथवा किसी अन्य भावको ( एव ) निश्चयकरके ( एति ) प्राप्त होता है ॥ ६॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले प्रश्न किया है, कि मृत्युके समय अन्य देवताओंकी उपासनावालों की क्या गति होती है? उसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ] प्राणी जिस-जिस भावको चाहे वह किसी देवता विशेषका हो अथवा किसी अन्य भी अपने प्रिय वस्तु-तस्तु वा प्रिय कुटुम्बियोंमें किसीका हो अथवा किसी अन्य लोकलोकान्तर निवासी अप्सरादिका हो चाहे किसी पशु पक्षीका हो वा फूल फलका हो, चाहे वह प्रिय हो वा अप्रिय हो चाहे वह सजातीय हो वा विजातीय हो स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है तो निश्चयकर जानो, कि [ तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः ] हे कौन्तेय ! वह प्राणी उसी २ भावसे भावित होकर उसी-उसी भावको प्राप्त होता है अर्थात् मरणके समय देवताके ध्यानके अभ्याससे देवता, प्रेतके ध्यानके अभ्याससे प्रेत, मनुष्यके ध्यानके अभ्याससे मनुष्य तथा पशु पक्षीके स्मरणके अभ्याससे पशु पक्षी होजाता है ।

शंका— कोई-कोई ऐसा कहता है, कि " अन्ते या मतिः सा गतिः " अन्तकालमें जैसी मति होगी वैसीही गति भी होगी। तो क्या ऐसा कभी होसकता है, कि जीवनपर्य्यन्त जिसने श्रेष्ठ देवताओंका ध्यान किया है यदि मरण कालमें उसके ध्यानमें किसी प्रेतका भाव स्मरण होजावे तो क्या उसे प्रेत होना पडेगा ? और इसीके प्रतिकूल जिसने जन्मभर भूत-प्रेतकी उपासनाकी है, नाना प्रकारके अशुद्ध और निषिद्ध आचरण किये वह यदि मरणकालमें किसी देवताका ध्यान करलेवे तो क्या वह देवता होजावेगा ?

समाधान— कदापि ऐसा नहीं होसकता, कि आजन्म तो भूत प्रेतका ध्यान करता रहे पर मरणकालमें देवताका ध्यान स्मरणमें आजावे जिससे देवता बनजावे । और इसीके प्रतिकूल ऐसा भी नहीं होसकता कि, जन्मभर तो देवताओंका ध्यान करता रहे और अन्तमें प्रेतका ध्यान आजानेसे प्रेत होजावे । क्योंकि जो अभ्यास प्राणी के अन्तःकरणपर आयुष्पर्य्यन्तपडा रहता है अन्तकालमें भी उसीकी स्मृति सम्मुख खडी होजाती है ।।

इसी कारण भगवान इस श्लोकमें अर्जुनसे कहते हैं, कि— " सदा तद्भावभावितः " इसका भाष्य करतेहुए अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं— " येनैव वस्तुना सदा भावितान्तःकरणभावस्तदेव मरणसमये स्मर्यते तद्भाव एव च प्राप्यते " अर्थ यह है, कि प्राणीका अन्तःकरण जिस वस्तुसे सदा जन्मभर भावित रहता है उसी प्रकारका भाव मरणकालमें स्मरण होआता है । ऐसा नहीं होसकता, कि जीवनभर अभ्यासकरे अन्य भावोंको और मरणसमयमें

स्मरण होआवे अन्य भाव यह अटल सिद्धान्त है । इसलिये ऐसा निश्चय करलेना चाहिये, कि जो भाव आयुपर्य्यन्त दृढ होरहा है मरणकालमें चाहे कैसे भी कूस्थानमें डालदो वह कदापि नहीं बदल सकता। यदि ऐसा होता तो जितने ज्ञानी, योगी, तपस्वी, महात्मा, सिद्ध और तत्त्वोंके वेत्ता हैं मरणकालमें इन्द्रियोंके और अंगोंके बिगड़ते समय व्याकुल होकर सब सुधि भूल, जडताको प्राप्त होजाते पर ऐसा नहीं होसकता। जो भगवत्के ज्ञानीभक्त अहर्निश भगवत्में ही प्रीति लगानेवाले हैं वे चाहे काशीविश्वनाथके मन्दिरमें, चाहे एक श्वपच ( डोमरे ) के घरमें शरीरका परित्यागकरें उनको तो दोनों ठौरमें भगवत्स्वरूपकी ही प्राप्ति होगी। प्रमाण श्रुति " ॐ तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः "।

अर्थ— तीर्थमें अथवा श्वपच ( डोमरे ) के गृहमें नष्टस्मृति होकर यदि ज्ञानी शरीरको छोडे तो शोकरहित होकर कैवल्यको प्राप्त होता है। लो और सुनो— " ॐ तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगतज्वरः ॥ काशीमें अथवा श्वपचके घरमें ज्ञानी कहीं भी शरीरको छोडे ज्ञान-प्राप्तिके समय वह प्राणी विगतज्वर है और मुक्त है।

मुख्य तात्पर्य्य इन श्रुतियोंका यह है, कि जीवनपर्य्यन्तके संस्कारानुसार जैसी वासनाकी दृढता रहेगी तदाकार ही भाव उत्पन्न होगा। इसी कारण भगवान्ने " सदा तद्भावभावितः " वाक्यका प्रयोग

किया है। इस वाक्यका अर्थ भगवान् शंकराचार्य्य यों करते हैं, कि "तस्मिन्भावः तद्भावः स भावितः स्मर्यमाणस्तथाऽभ्यस्तो येन स तद्भावभावितः" अर्थात् जीवनपर्य्यन्त प्राणी सदा जिस भावका स्मरण करता रहता है तिस भावनाजन्य संस्कारको 'तद्भाव' कहते हैं तिसी भावसे जो सम्भावित हो उसी प्राणीको 'तद्भावभावितः' कहते हैं।

प्रत्यक्ष देखाजाता है जब, कि कीट भृङ्गीके ध्यानमें भृङ्गी बनजाता है तो इस कीट-भृङ्गी-न्यायके देखनेसे कौन प्राणी इतना नहीं समझसकता ? कि मरनेवाला भी जिस भावसे भावितहोकर जिस भावको स्मरण करताहुआ शरीर छोडेगा वह क्यों नहीं उसी भावको प्राप्त होगा ? अवश्य उसी भावको प्राप्त होगा।

इसी कारण भगवानका तात्पर्य्य यह है, कि इन्द्रका ध्यान करने वाला इन्द्रको, वरुणका ध्यान करने वाला वरुणको, कुवेरका ध्यान करने वाला कुवेरको, बृहस्पतिका ध्यान करने वाला बृहस्पतिको, प्रजापतिका ध्यान करने वाला प्रजापतिको, शिवका ध्यान करने वाला शिवको, विष्णुका ध्यान करने वाला विष्णुको तथा मेरा ध्यान करने वाला मुझको प्राप्त होता है इसमें तनक भी संदेह नहीं है।

देखो! नन्दी शिवका ध्यान करते २ शिवस्वरूप होगया। जडभरत मृगाके ध्यानमें मृगा बनगये। इसलिये यह सिद्धान्त श्लोक है, कि जो जिसको अपने ध्यानमें बसाता है वह तदाकार होजाता है ॥६॥

इसलिये मनुष्योंको क्या करना चाहिये ? सो भगवान्
अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— तस्मात् ( अतः ) सर्वेषु कालेषु, ( भूतभविष्यद्वर्त्तमानेषु ) माम् ( महेश्वरम् ) अनुस्मर ( चिन्तय ) युध्य ( स्ववर्णधर्मं युद्धं कुरु ) च, मयि ( वासुदेवे ) अर्पितमनोबुद्धिः ( मदेकनिष्ठतां नीते मनोबुद्धी येन सः ) [ त्वम् ] माम्, एव ( निश्चयेन ) असंशयम् ( निःसन्देहम ) एष्यसि ( प्राप्स्यसि ) ॥७॥

पदार्थः— ( तस्मात् ) इसलिये ( सर्वेषु, कालेषु ) निरन्तर आठों याम ( माम् ) मुझ महेश्वर सच्चिदानन्दघनको ( स्मर ) स्मरण कियाकर ( च ) और ( युध्य ) युद्ध भी कर क्योंकि ( मयि ) मुझमें ( अर्पितमनोबुद्धिः ) अपने अर्पण कियेहुए मन और बुद्धि जो ( त्वम् ) तू है सो ( माम ) मुझ वासुदेवको ( एव ) निश्चयकरके ( असंशयम् ) निःसन्देह ही ( एष्यसि ) प्राप्त होजावेगा ॥ ७ ॥

भावार्थः—अब इस श्लोकमें 'तद्भावभावित' के अर्थको उत्तम रीतिसे दृढ करनेके तात्पर्य से भगवान् कहते हैं, कि जब ऐसा सिद्धान्त होचुका, कि जो प्राणी जीवनभर जिसकी भावना वा स्मरण करेगा उसीकी स्मृति अन्तकालमें उसके सामने आजावेगी [ तस्मात् सर्वेषु

**कालेषु मामनुस्मर युध्य च** ] इसलिये हे अर्जुन! तू सदा मेरा स्मरण करता रह और युद्ध भी कर अर्थात् युद्ध करता हुआ भी मेरा ध्यान मत छोड !

यहां भगवान्‌ने पहले ही जान लिया, कि अर्जुन मेरी बात सुन कर अवश्य यह शंका करेगा, कि जब तुम आठों याम अपने स्वरूप हीका ध्यान बताते हो तबतो मैं तुम्हारी ही आज्ञानुसार इस संग्राम-भूमिको छोड चला जाऊंगा। इसी कारण भगवान् पहलेहीसे अर्जुनके मनकी गति जानकर बोल उठे, कि " युध्य च " युद्ध भी कर !

**शंका**— भगवत्स्वरूपका निरन्तर स्मरण और युद्ध कलाका सम्पादन ये दोनों कार्य्य एक समय एकही मनसे कैसे होसकते हैं ? क्योंकि जब भीष्म और द्रोणके विकराल बाणोंसे बिद्ध होकर अर्जुन व्याकुल हो क्रोधसे ग्रसित होगा तो फिर भगवत्स्वरूपकी स्मृति कहां रहेगी ? तबतो अर्जुनको यही सूझेगा, कि भीष्म द्रोणके बाणोंको काटकर भूमिपर गिराऊं अपने शरीरको बचाकर अपने बाणोंसे उक्त वीरोंको रणभूमिमें सुला दूं। फिर ऐसे क्रोधके बेगके समय भगवत्की स्मृति कहां रहेगी ?

**समाधान**— जिस प्राणीकी दृष्टिमें प्रपंच अर्थात् सृष्टि और ब्रह्म इन दोनोंमें द्वैतका भान होरहा है अर्थात् जो प्राणी विश्व और विश्वरचयिताको विलग २ दो देख रहा है वह अवश्य एक समय एक ही मन और बुद्धिसे दो वस्तुओंका ग्रहण नहीं करसकता। क्योंकि उसकी प्रकृतिमें दुःख, सुख, हानि, लाभ, मान, अपमान, अहम्, त्वम्, हर्ष, विषाद, इत्यादिका भेद बना हुआ है।

फिर यह भी सर्वसम्मत है, कि भेदबुद्धिवालेको एकाग्रताका लाभ होही नहीं सकती। इसलिये जिस प्राणीने अनेक जन्मोंके अभ्यास-द्वारा अभेद तत्वका लाभ किया है अर्थात जिसने ऐसा समझा है, कि सब वासुदेवही हैं कहीं भी एक सुईकी नोक मात्र स्थान वासुदेवसे रहित नहीं है। जैसा, कि भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कह आये हैं– "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्ल्लभः" ( अ० ७ श्लोक १६ ) अर्थात इस चराचर जगतमें वासुदेवसे इतर कुछ भी नहीं है ऐसा जाननेवाला महात्मा दुर्लभ है।

फिर कहते हैं, कि "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" ( अ० ७ श्लोक ७ ) अर्थात जैसे सूतमें मणिकाएं पिरोयी रहती हैं ऐसे इस सम्पूर्ण जगत्के पदार्थ लोकलोकान्तर सहित मुझ वासुदेवमें पिरोये हुए हैं। फिर भगवान कहचुके हैं, कि "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" ( अ० ६ श्लोक ३० ) अर्थात् जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है मैं उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और वह भी मुझको अदृश्य नहीं है।

भगवान्की इस सर्वव्यापकताको श्रुतियां भी बार-बार वर्णन कररही हैं श्रुतिः– "ॐ यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः" ( मुण्ड० २ खं० २ श्रु० ५ में देखो ) अर्थात जिसमें द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोकादि लोकलोकान्तर तथा मन अपने सब प्राण अथवा इन्द्रियोंके साथ-साथ पिरोयेहुए हैं उसी एकको जान!

फिर इसी उपनिषद्का वचन है, कि " यस्मिंल्लोका निहितलोकिनश्च " जिस पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरमें सब लोक और लोकनिवासी स्थित हैं। फिर श्रुति कहती है—

श्रुतिः— " ॐ अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषक्तो व्याप्यते व्यापयते" ( नृसिंहपूर्वता० उप० २ श्रुति ४ में देखो )

अर्थ— उस महाप्रभुको महाविष्णु क्यों कहते हैं ? उत्तर यह है, कि " विश प्रवेशने " धातुसे विष्णु बना है इसलिये जो सर्वत्र सब ठौर सब लोकोंमें व्यापरहा है उसे विष्णु कहते हैं। जैसे मांसके पिण्डमें अथवा तिलकुटा मिठाईमें बाहर भीतर सर्वत्र स्नेह जो ( घी ) व्यापता है इसी प्रकार वह ब्रह्म इस सृष्टिरूप पंचभूतपिंडमें भीतर बाहर सर्वत्र व्यापरहा है। अतएव ज्ञानी पुरुष अपनेमें तथा अपने आसपासके सब पदार्थोंमें परमब्रह्मको व्यापक जानता है।

इसीलिये युद्ध करताहुआ अर्जुन अपने रथमें, बाणमें, गांडीवनामक धनुषमें, भीष्ममें, द्रोणमें तथा सम्पूर्ण महाभारतके योद्धाओंमें केवल एक ही महाप्रभुको व्यापताहुआ देखेगा तो कदापि व्याकुल नहीं होगा तथा भगवत्स्मृति भी उसके ध्यानमें बनी ही रहेगी।

इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, कि "मामनुस्मर युध्य च" मेरा भी स्मरण कर! और युद्ध भी कर! ये दो बातें नहीं हुईं एकही हुईं।

दूसरी बात यह है, कि जो वासुदेवका भक्त है उसको आगसे जलने, जलसे गलने, वायुसे सूखने, शस्त्रोंसे कटने इत्यादिकी पीडा नहीं होती, भगवान उसे अपने चारों भुजाओंसे बचाते रहते हैं ।

यही तो भगवद्भजनकी सिद्धि और महिमा है, कि भक्तोंके सम्मुख प्रकृति निर्बल होजाती है, आग पानी सब डरते हैं । जैसे जिसपर स्वयं किसी देशके नरेश ही की कृपा होजाती है फिर उसे मंत्री, सिपाही इत्यादि क्या करसक्ते हैं ? इसी प्रकार भगवतका प्यारा होनेहीसे बाणादिके दुःख नहीं व्यापसकते । इसलिये युद्धमें अर्जुनको किसी प्रकारकी व्याकुलता नहीं होगी, वासुदेव ही वासुदेव दीखता रहेगा । शंका मतकरो !

फिर भगवान् कहते हैं, कि **[ मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ]** जब तू अपने मन और बुद्धिको मुझमें ही अर्पण करडालेगा अर्थात् मनसे मेरे ही स्वरूपको मनन करता रहेगा और बुद्धिसे मेरा ही विचार करता रहेगा अन्य सब वृत्तियोंका परित्याग करदेगा तो हे अर्जुन ! तू अवश्य मुझको ही प्राप्त होजावेगा । इसमें तनक भी संशय करनेका स्थान नहीं है । क्योंकि मैं तुझसे पहले ही कहचुका हूं, कि " मद्भक्ता यान्ति मामपि " ( अ० ७ श्लो० १३ ) मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ।

मुझे स्मरण रखकर युद्ध करते-करते जो कदाचित् तेरा शरीर भी पात होजावे तो भी तेरा कल्याण ही होगा । क्योंकि मैं तुझसे अभी कहचुका हूं, कि "अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम"

( श्लो० ५ ) जो प्राणी अन्तकालमें मुझको स्मरण करताहुआ शरीर छोडता है वह मुझको प्राप्त होता है। इसलिये तेरे दोनों हाथ लड्डू हैं तू किसी प्रकारकी चिन्ता न करके केवल मुझको ध्यानमें रखेहुए आनन्दपूर्वक युद्ध सम्पादन कर !

श्रुतिः— " ॐ क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविंदाय गोपीजनवल्लभाय बृहन्मानव्यासकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गतिः स्यादिति। भक्तिरस्य भजनम्। तदिहामुत्रोपाधि नैराश्येनामुस्मिन्मनःकल्पनम्। एतदेव च नैष्कर्म्यम् "

( गोपा० पूर्वता० श्रुति ३ में देखो )

अर्थ— कृष्ण नामसे पहले क्लीम इस वशीकरण मंत्रको उच्चारण कर कृष्ण नामके साथ इसका योग करके फिर गोविन्द तथा गोपीजनवल्लभ ऐसे नामोंको उच्चारण करताहुआ जो बृहद्घन-श्याम-स्वरूपको स्मरण करता रहता है उसकी शुभ-गति होती है उस की गति ( मङ्क्षु ) शीघ्र होती है इससे इतर किसीकी नहीं।

" कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते भिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णं हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥ "

अर्थ— जो प्राणी कृष्णहीमें रत हैं और कृष्णहीको दिन रात निरन्तर स्मरण करते हैं तथा रात्रिमें नींदसे उठकर श्रीकृष्ण नामका ही उच्चारण करते हैं वे शरीर छूटनेपर कृष्णहीमें प्रवेश करजाते हैं कैसे प्रवेश करजाते हैं ? सो कहते हैं— जैसे अग्निमें मन्त्रित हवि प्रवेश करजाता है। तात्पर्य यह है, कि जैसे आगमें घृतादि हवनके

पदार्थ जब एक बार प्रवेश करजाते हैं फिर उससे पृथक् नहीं होसकते। इसी प्रकारसे भक्तजन कृष्णमें प्रवेश करजाते हैं।

इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि तू मेरा स्मरण करताहुआ युद्ध करनेसे अवश्य मेरे स्वरूपमें आमिलेगा ॥ ७ ॥

फिर इसी विषयको दृढ करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं—

**मू०— अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।**
**परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥**

**पदच्छेद—** [ हे ] पार्थ ! ( पृथापुत्राऽर्जुन ! ) अभ्यासयोगयुक्तेन ( विजातीयप्रत्ययान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहः स एव योग उपायस्तेन युक्तेन ) नान्यगामिना ( नान्यं विषयं गन्तुशीलं यस्य तेन ) चेतसा [ तं परमात्मानम् ] अनुचिन्तयन् ( शास्त्राचार्योपदेशानुकूलमात्मस्वरूपमनुध्यायन् ) परमं, दिव्यम् ( द्योतनात्मकम् ) पुरुषम् ( परमेश्वरम् ) याति ( गच्छति ) ॥ ८ ॥

**पदार्थः—** हे ( पार्थ ! ) पृथाका पुत्र अर्जुन ! ( **अभ्यासयोगयुक्तेन** ) अभ्यासयोगसे युक्त होकर ( **नान्यगामिना** ) भगवत्स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयकी ओर नहीं जानेवाले ( **चेतसा** ) चित्तसे ( **अनुचिन्तयन्** ) शास्त्र और गुरुकी आज्ञानुकूल परमात्मस्वरूपको निरन्तर चिन्तन करताहुआ प्राणी ( **परमम्** ) अतिशय ( **दिव्यम्** ) प्रकाशात्मक ज्योतिस्वरूप ( **पुरुषम्** ) परमात्माको ( **याति** ) प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥

**भावार्थः—** भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि हे ( पार्थ ! ) पृथाका पुत्र अर्जुन ! [ **अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना** ] जिस प्राणीका चित्त अभ्यास-योगसे युक्त है तथा किसी अन्य वस्तुकी ओर नहीं जानेवाला है अर्थात् एक बार जिस ध्येय-वस्तुका चिन्तन करना आरम्भ कियाजावे उसकी सजातीय वस्तुओंका निरन्तर चित्तमें चिन्तन बनारहे और उसीमें अन्तःकरणके स्थिर रहने का अर्थात् एकाग्र रहनेका जो बार-बार यत्न कियाजावे उसके मध्य किसी प्रकारकी विजातीय वस्तुकी चिन्ता चित्तमें न आनेपावे उसीको अभ्यासयोग कहते हैं। तहां पतंजलिने भी अपने सूत्रमें कहा है, कि— " **तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः** " ( समाधिपाद सू० १३ ) इस विषयका वर्णन अ० ६ श्लो० ३५ में होचुका है देखलेना।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसे अभ्यासयोगसे जिसका चित्त युक्त है अर्थात् जिसने अहर्निश निरन्तर आठों याम दुःखमें, सुखमें, हर्षमें, शोकमें, उठते, बैठते चलते, फिरते अपने चित्तको उस भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिके यत्नमें लगा रखा है। फिर उसका चित्त कैसा है ? " **नान्यगामिना** " भगवत्स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयकी ओर

---

टिप्पणी— यहां किसी पाठकको ऐसी शंका न उत्पन्न हो, कि भगवान् कभी अर्जुनको ( कौन्तेय ! ) कुन्तीका पुत्र और कभी ( पार्थ ! ) पृथाका पुत्र कहकर क्यों पुकारते हैं ? यहां शंकाका स्थान नहीं है मुख्य नाम वसुदेवकी भगिनीका पृथा ही है सो पृथा कुन्ती भोजराजाके घर पालीगयी थी इसी कारण उसी पृथाका दूसरा नाम कुन्ती भी है।

नहीं जानेवाला है चाहे कोई प्राणी ब्रह्मलोकादि लोकोंका सुख भी उसके सम्मुख क्यों न ला रखे पर वह नेत्र उठाकर भी नहीं देखता। ऐसे नान्यगामी चित्तसे [ **परमम् पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिन्तयन्** ] चिंतन करताहुआ परम ज्योतिर्मय-पुरुषको प्राप्त होता है अर्थात् गुरु और शास्त्र द्वारा जो कुछ गुप्त और प्रकट रहस्योंको जाना है उसीके अनुसार भगवत्स्वरूपका चिन्तन करताहुआ भगवत्स्वरूपको प्राप्त होता है। तात्पर्य्य यह है, कि वह जो सर्वेश्वर अतिशयकरके प्रकाशमान जिससे सूर्य्य आदि अन्य दिव्य पदार्थोंको प्रकाश पहुंच रहा है और " पुरुषश्चाधिदैवतम " इस भगवद्वाक्यके अनुसार जो सब देवोंका अधिपति महादेव है उसे प्राप्त होजाता है।

श्रुतिः— " **ॐ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः** " ( मुं० २ खं० १ श्रु० २ )

अर्थ— जो पुरुष है, जो दिव्य अर्थात् स्वयं ज्योतिःस्वरूप है और अपनी ज्योतिसे सूर्य्यादि सब लोकलोकान्तरोंको प्रकाशित कररहा है तथा अमूर्त है अर्थात सर्वमूर्तिवर्जित है उसकी कोई मूर्ति नहीं, फिर अज है उत्पन्न नहीं होता और सब पदार्थोंके भीतरे तथा बाहर व्यापरहा है अप्राण है प्राण अपानादिके साथ जो इन्द्रियोंकी उपाधि तिसमे वर्जित है, अमनस है अर्थात् संकल्पविकल्पसे रहित है, शुभ्र है, सर्वप्रकारसे निर्म्मल और शुद्ध है और नाशरेहित है कालसे अपरिछिन्न है ( परतः परः ) अर्थात् परसे भी पर है।

शंका— पहिले उसको मूर्तिमान् और अमूर्त्तिमान दोनों स्वरूप वाला वारम्वार श्रुतियोंद्वारा सिद्धकरते चलेआरहे हैं अब केवल " अमूर्त्तः " क्यों कहते हो ? ।

समाधान— यहां " अमूर्त्तः " कहनेसे श्रुतिका विशेष अभिप्राय यह है, कि वह भगवान् सब देवोंका देव किसी विशेष पांचभौतिक-मूर्तिवाला नहीं है ।

इसी कारण " अप्राणो ह्यमनः " कहा अर्थात् चौरासीलक्ष योनियोंमें हमारे आपके समान श्वासोच्छ्वास लेताहुआ और नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंको करताहुआ किसी विशेष उपाधिसे उपलक्षित नहीं है । शंका मतकरो !

प्रश्न— अब भगवान्ने जो इस श्लोकमें " अनुचिन्तयन् " शब्दका प्रयोग किया है सो अनुचिन्तन क्या है ? माला लेकर अपने इष्टदेवकी मूर्तिका चिन्तन करना है अथवा कुछ और है ?

उत्तर— तहां यों कहना चाहिये, कि ये जो साकार-स्वरूपोंकी चिन्तना बतायी गयीं ये भी अनुचिंतनाके अंग ही हैं पर इनको ध्यानके नामसे प्रसिद्ध करते हैं । इसलिये यथार्थ अनुचिन्तन तो वह है जिसके विचारमें अन्तःकरण निरन्तर लगारहे अर्थात् उस ब्रह्मकी प्राप्ति कैसे और किन यत्नोंसे होगी ? उसकी चिन्ता सदा बनीरहे । जैसे विषयी-प्राणियोंको पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिकी चिन्ता सदा बनी रहती है और उसी चिन्तामें कभी ज्योतिषीजीके पास

जाकर ( कर्मविपाक ) अपने पुत्र इत्यादिके विषय पूछता रहता है, फिर कभी तीर्थोंमें जा देवताओंसे प्रार्थना करतारहता है तथा अन्य नाना प्रकारके यत्न करनेमें मग्न रहता है ।

इसी प्रकार जो हरिभक्त दिन रात इसी चिन्तामें मग्न रहता है और ईश्वरसे कहता रहता है, कि हे नाथ ! हे प्रभो ! हे दयासागर ! हे दीनबन्धो ! अबतो सारी आयु मिथ्या बीतगयी, अबलों हे प्रभो ! आपकी कृपा कुछ न हुई आपके समीप होनेका कुछ भी यत्न हाथ नहीं आया, जो कुछ यत्न हाथ लगाभी है तो उसे माया ऐसे उडादेती है जैसे वायुके झकोडे मेघमालाको ।

इन्द्रियां मानतीं नहीं कोटि-यत्न करनेपर भी अपनी ओर वरवस खींच ही लेती हैं । चंचल-मन अत्यन्त दुःखदायी होरहा है दुःसंग अलग सतारहा है । भगवत्-प्राप्तिकी चिन्तामें खाना, पीना, पहनना, ओढना, कुछ भी अच्छा नहीं लगता रात्रिभर हरे राम ! हरे कृष्ण ! हरे माधव ! हरे मुरारे ! हे गोविन्द ! इत्यादि नामोंका स्मरण करतारहता है इसीको यथार्थ अनुचिन्तन करना कहते हैं और भगवानका तात्पर्य्य इसी प्रकारके अनुचिन्तनसे है ॥ ८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि हे भगवन्! यों तो तुम्हारे विशेष-गुणोंको सर्वदा स्मरण करनाही उचित है पर मरण-समय विशेषकर तुम्हारे किन २ गुणोंका स्मरण करनाचाहिये ? जिससे प्राणी तुम्हारे स्वरूपको प्राप्त होजावे ।

इस प्रश्नका उत्तर भगवान् अगले दो श्लोकोंमें देते हैं ये अगले दोनों श्लोक गीताशास्त्रमें मुख्य हैं, इन दोनोंको सदा कण्ठाग्र रखना

चाहिये। सप्तश्लोकी गीतामें जो इस गीताशास्त्रके सात मुख्य श्लोक निकालकर एकत्र कियेगये हैं उनमें ये दोनों श्लोक भी हैं और सातोंमें मुख्य हैं तहां भगवान् कहते हैं—

मू०— कविम्पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

पदच्छेदः— कविम् ( क्रान्तदर्शिनम तेनातीतादिवस्तुज्ञानात्सर्वज्ञम् ) पुराणम् ( चिरन्तनम, सर्वस्य कारणत्वादनादिम् ) अनुशासितारम् ( सर्वस्य जगतोऽन्तर्यामिरूपेण नियन्तारम् ) अणोरणीयांसम् ( सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरम् ) सर्वस्य धातारम् ( सर्वस्य कर्मफलस्य विभागेन प्रदातारं सर्वस्य पोषकम् वा ) अचिन्त्यरूपम् ( नास्यरूपम विद्यमानमपि केनचिच्चिन्तयितुं शक्यम् ) आदित्यवर्णम ( आदित्यस्येव नित्यप्रकाशरूपो वर्णो दीप्यमानः यस्य तम ) तमसः ( मोहान्धकारतः ) परस्तात् ( उपरिष्ठात् व्यवस्थितम ) प्रयाणकाले ( मरणकाले ) अचलेन मनसा ( विक्षेपरहितेन प्रचलनवर्जितेन वृत्यन्तरवर्जितेन अन्तःकरणेन ) भक्त्या युक्तः ( परमेश्वरे आराध्यत्वबुद्ध्या परेण प्रेम्णा सहितः )

योगबलेन ( समाधिजन्यसंस्कारप्रचयजनितचित्तस्थैर्यलक्षणेन ) च ( युक्तः ) सम्यक्, एव ( अप्रमत्त एव ) प्राणं भ्रुवोर्मध्ये ( आज्ञाचक्रकर्णिकायाम् ) आवेश्य ( सुषुम्नया नाड्या मूलाधारादुत्थापनपूर्वकं स्थापयित्वा ) यः, अनुस्मरेत् ( अनुचिन्तयेत ) सः, तम्, दिव्यम् ( द्योतनात्मकम् ) परं पुरुषम् ( परमात्मानम् ) उपैति ( प्राप्नोति ) ॥ ६, १०॥

पदार्थः— ( यः ) जिस प्राणीने ( प्रयाणकाले ) मरण के समय ( भक्त्या युक्तः ) प्रेमपूर्वक भगवदाराधनमें तत्पर होकर ( योगबलेन, च ) तथा योगसाधन द्वारा जो अलौकिक-शक्ति समाधि इत्यादि प्राप्त की है तिससे युक्त वह प्राणी ( मनसाऽचलेन) अचल-मानस अर्थात् एकाग्र-चित्त होकर (भ्रुवोर्मध्ये) दोनों भउहों के मध्यस्थान अर्थात् द्विदल-पद्मकी कर्णिकामें ( सम्यक्, एव ) बडी सावधानताके साथ ( प्राणमावेश्य ) अपने प्राणको प्रवेश कर स्थिर हो उस ( कविम् ) सर्वज्ञ ( पुराणम् ) सनातन ( अनुशासितारम् ) सम्पूर्ण जगतको अन्तर्यामी रूपसे अपनी आज्ञामें रखनेवाले ( अणोरणीयांसम्) सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म( सर्वस्य धातारम्) सम्पूर्ण जगतके प्राणियोंको उनके कर्मानुसार फल देनेवाले और सब को पोषण करनेवाले ( अचिन्त्यरूपम ) किसीसे भी चिन्ता नहीं कियेजाने योग्य (आदित्यवर्णम )परम प्रकाश स्वरूप ( तमसः परस्तात् ) मोहान्धकारके विरोधी अर्थात् अज्ञानके नाश करनेवालेको ( अनुस्मरेत ) स्मरण करता है (सः) सो ( तम, दिव्यम्, परं पुरुषम ) उस दिव्य पुरुषको ( उपैति ) प्राप्त होता है ॥ ६, १० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यह पूछा है, कि विशेष कर प्राणीको मरणके समय तुम्हारे किन गुणोंका स्मरण करना चाहिये ? उसीके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [ **कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्** ] ।

१. कविम्, २. पुराणम्, ३. अनुशासितारम्, ४. अणोरणीयांसम्, ५. सर्वस्य धातारम्, ६. अचिन्त्यरूपम्, ७. आदित्य वर्णम् और ८. तमसः परस्तात् । जो प्राणी इन आठों विशेषणोंको मरण-समय स्मरण करताहुआ शरीर छोडता है वह उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ।

अब इन विशेषणोंके अर्थ पूर्णरूपसे विलग-विलग वर्णन करदिये जाते हैं ।

१. कविम्— ( कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयति सर्वं सर्वतो गच्छति वा ) जो सर्वप्रकारके पदोंकी रचना करता है, सबकुछ जानता है, सबकुछ वर्णन करसकता है, सर्वकाल सर्वठौरमें जासकता है अर्थात् जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, विश्वनेत्र और त्रिकालज्ञ है उसीको कवि कहते हैं. सो यह भगवानका पहला विशेषण है । अर्थात् भगवत् सर्वज्ञ है और अपनी सर्वज्ञताके कारण एक छोटीसी पिपीलिकासे लेकर ब्रह्मातकके प्रतिक्षणके वृत्तान्तको जानता है एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिसके करतलगत है । यदि उससे पूछा जावे, कि आज यह पक्षी जो रसालके वृक्षपर बैठा हुआ अपनी सुरीली ध्वनिमें कुछ गान

कररहा है वह सहस्र वर्ष पहले किस योनिमें था ? तो वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सबकुछ जाननेवाला बिना किसीकी सहायताके पलमात्रमें कहसकता है, कि यह पक्षी सहस्र वर्ष पहले मगध देशका राजा था। इसी कारण उस महाप्रभुको " कवि " कहते हैं।

**प्रश्न**— मरणकालमें भगवानके अन्य गुणोंको छोडकर पहले-पहले कवि गुणका क्यों स्मरण करना चाहिये ?

**उत्तर**— कारण इसका यह है, कि मरने वाला जब योगबलसे वर्तमान शरीर त्यागनेके समय अपने भ्रूमध्यमें प्राणको प्रवेश करलेता है तो उसी क्षण उसको अपने अनेक पिछले जन्मोंके पाप-पुण्य स्मरण होआते हैं तब वह इतना अवश्य जानने लगजाता है, कि वह भगवत् " कवि " अर्थात् सर्वज्ञ होनेके कारण मेरे इन सब पापोंको जानता है तो उस समय भक्तियुक्त होकर भगवत्से उन पापोंकी क्षमा मांगता है अर्थात् संचितमें उसके जितने पाप हैं उन सबोंको स्मरण कर सबकी क्षमा मांगता है। क्योंकि इतना तो उस समय उसके हृदयमें अवश्य होता है, कि वह सर्वज्ञ मेरे सब पापोंका जानने वाला है उससे मेरी किसी प्रकारकी बात छिपी नहीं रहसकती। इसी कारण भगवत्के सब गुणोंसे पहले कवित्व ( सर्वज्ञत्व ) गुणकी स्मृतिकी आवश्यकता है। इसलिये सर्वतः प्रथम कविम शब्दको ही श्यामसुन्दरने अर्जुनके प्रति कहा।

२. " पुराणम् " ( पुराभवः पुराणः ) अर्थात् जो पहलेसे हो और सबका आदि कारण हो उसे पुराण कहते हैं। इस गुणकी स्मृति

मरण-समय होनेसे प्राणीको सन्तोष होजाता है, कि जब भगवत सबसे पहलेसे है और यह जीव भी अनादि है तो मेरे उन पापोंको जो मुझसे अविदित हैं अवश्य जानता होगा इसलिये उनको भी क्षमा करेगा।

३. अनुशासितारम्— देव, देवी, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सबको अपनी आज्ञामें रखने वाला है। प्रमाण श्रुतिः— ॐ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" ( कठो० अ० २ बल्ली ३ श्रुति ३ )

इस श्रुतिके अनुसार जिस परमात्माके भयसे अग्नि और सूर्य तपते हैं तथा इन्द्र और वायुदेव भय खाते हैं और स्वयं मृत्यु जिसके डरसे दौडती है। इसलिये मरण-समय भगवानके इस गुणके ध्यानसे प्राणी भूत, प्रेत, यमदूतादिके भयसे बच जाता है। क्योंकि भगवान् अपनी आज्ञासे इन सबोंको भक्तके सामनेसे हटादेता है।

४. अणोरणीयांसम्— वह महाप्रभु अणुका भी अणु है अर्थात अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है। ऐसे प्रभुको मरणके समय स्मरण करना चाहिये। उस प्रभुके इस गुणके स्मरण करनेसे मरनेवाला नीचीयोनिमें कदापि नहीं जासकता। क्योंकि मानलिया जावे, कि मरणके समय उसकी वृत्ति सूक्ष्म होतीहुई सुषुप्तिकी ओर जारही है, यदि सुषुप्ति लग जावेगी तो उस प्राणीको स्थावर-योनि प्राप्त होनेका भय है। सुषुप्ति अवस्थामें मरनेसे स्थावर जाति होती है पर वृत्तिके

सूक्ष्माकार होते २ अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अवस्थामें जिसने ईश्वरके स्वरूपको पकड रखा है तो अत्यन्त अणुसे भी अणु होतीहुई उसकी वृत्ति सुषुप्ति न होकर तुरीयावस्थाको प्राप्त होगी। जब एवम्प्रकार तुरीय अवस्था मरणकालमें बनीरही तो उस प्राणीके मुक्त होनेमें क्या शंका है ?

क्योंकि " अणोरणीयान् " जो भगवत्का स्वरूप है वही उस मरनेवालेके सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म ध्यानमें बना रहता है। जैसे किसी एक विशाल मूर्त्तिको अत्यन्त छोटे पत्रपर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म खींचकर पेंसिल ( Pencil ) वा लेखनीके एक कोरमें लगाकर उसपर एक वृहण यंत्र (MagniFier ) लगा कर देख लेते हैं। इसी प्रकार मरनेवालेके ध्यानमें जो अपने इष्टदेव राम, कृष्णादिकी विशाल मूर्त्ति बनी थी मरण-समय सूक्ष्मवृत्तिमें भी सूक्ष्मरूपसे बनी रहती है। क्योंकि उसकी वृत्ति सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर वा *सूक्ष्मतम क्यों न होजावे ? पर उसका ध्यान अपने इष्टदेवकी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म मूर्त्तिमें बना रहता है।

तीसरी बात यह है, कि " अणोरणीयान् " की स्मृतिसे मरणके समय बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म होती चली जावेगी तो

* जैसे विद्यार्थी पहले वर्णमालाके ककारादि अक्षरोंको बहुत बडा २ लिखकर अभ्यास करता है पर जब उसे अक्षरके स्वरूपका ज्ञान होजाता है तब वह अत्यन्त सूक्ष्म अक्षरोंको भी पहचान लेता है और उन सूक्ष्म अक्षरोंसे लिखे हुए वाक्योंका अर्थ समझ लेता है। इसी प्रकार मरणके समय मरनेवालेकी सूक्ष्मवृत्तिमें भगवान्की छोटीसे भी छोटी मूर्त्ति बनी रहेगी तब उसे वह पहचानही लेगा और तन्मय होजावेगा।

अज्ञानताका नाश होना आरंभ होजावेगा संसृति-सम्बन्ध दूर पडता जावेगा और परमात्मतत्त्वका प्रकाश होने लगजावेगा। क्योंकि परमात्मतत्त्वका बोध सूक्ष्मबुद्धिवालेको अवश्य होता है तहां श्रुतिका प्रमाण है– "ॐ दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ( कठो० अ० १ वल्ली० ३ श्रु० १२ में देखो )

अर्थ— वह परमात्मा सूक्ष्मदर्शियोंकी अत्यन्तसूक्ष्मबुद्धिके अग्रभागसे देखाजाता है। इसलिये प्राणीको चाहिये, कि मरणके समय अवश्य उस परमात्माके अणोरणीयान् गुणका ध्यान करे।

४. चौथी बात यह है, कि कदाचित् मरणके समय प्राणीकी वृत्ति छोटीसे भी छोटी होतीहुई किसी छोटी योनिको प्राप्त होगयी तो वहां भी भगवत्का स्मरण बना रहेगा।

५. सर्वस्य धातारम्–( सर्वस्य कर्मफलस्य विभागेन प्रदातारम् ) प्राणीके सब कर्मोंके फलोंको विभाग करके यथायोग्य बांटदेने वाला अर्थात् जिस प्राणीने जितने उत्तमसे उत्तम कर्म किये हैं उनको तदनुसार उत्तमसे उत्तम योनिमें रखने वाला और निकृष्टको निकृष्टमें रखने वाला। अथवा यों कह लीजिये, कि (सब जीवोंका पोषण करनेवाला) मरण कालके समय भगवत्के इस गुणका स्मरण करनेसे मरनेवालेको इतना सन्तोष रहता है, कि जब वही मेरा स्वामी सबको अपने–अपने कर्मानुसार अपनी २ ठौरपर रखनेवाला हैं और सबोंका पोषण करने वाला है तो वह मेरा रक्षक जिसकी मैंने इतने दिनोंसे भक्ति की है, जिसके चरणोंका दिवा-रात्रि सेवन किया है

वह अवश्य मेरी भक्तिका फल जो उसके चरणोंकी समीपता है प्रदान करेगा। जैसे माता पिता किसी रोगसे ग्रसित वा किसी उच्चस्थान वृक्षादिसे गिरेहुए बच्चेको गोदमें बिठालकर अपने आंचलसे वा करपटसे उसका मुंह पोंछते हैं, शरीरमें लगीहुई धूली झारते हैं और बहुत लाड प्यारकर उसको प्रसन्न किया चाहते हैं। इसी प्रकार भक्त-वत्सल भगवानके भक्त मरणकालमें जब उसके " सर्वस्य धाता " गुणकी स्मृति करते हैं तब वह भगवत् शीघ्र उनको अपनी गोदमें बिठाल, संसृति-दुःखरूप धूलीको अपने कृपाकटाक्षरूप अंचलसे झार-कर उनको स्वच्छ करदेता है और सर्वप्रकार प्रसन्न करदेता है।

६. अचिन्त्यरूपम्—( नास्य रूपं विद्यमानमपि केनचिच्चिन्तयितुं शक्यम् ) अर्थात जिस महाप्रभुका स्वरूप इस विराट्में प्रकट देखनेपर भी ऐसा अतर्क्य है, कि जिसकी चिन्तना भी नहीं की जासकती और ऋषि, महर्षि जिसके रूपको नहीं जानसकते। क्योंकि यथार्थ पूछो तो उस महाप्रभुका कोई रूप नहीं है।

प्रमाण श्रु०—" ॐ अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि " केनो० ख० १ श्रु० ३ ) अर्थात जितनी वस्तु आज तक बुद्धिमा-नोंकी बुद्धि, विद्वानोंकी विद्या और तपस्वियोंकी तपस्या द्वारा प्रकट हुई उनसे भी वह न्यारा है इसलिये उसका कोई विशेष स्वरूप नहीं जिसे कोई जानसके। यद्यपि अपने भक्तोंपर दया करके जो कभी वह अवतारादि धारण करता है उस शरीरको भक्तजन देखते, सुनते और जानते हैं तथापि उसके यथार्थरूपका अनुभव कुछभी नहीं करसकते।

"यथा सौरादि प्रकाशो वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धादृजुवक्रादिभावमापन्ने सूर्य्यादौ तद्भावमिव प्रतिपद्यते तथा ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात् तदाकारतामिव प्रतिपद्यते" (भाष्योत्कर्षदीपिका) जैसे सूर्य्य इत्यादिका प्रकाश फैलकर अंगुलि इत्यादिकी उपाधिके लगनेसे सीधा वा टेढा देख पडता है इसी प्रकार वह निर्म्मल शुद्ध ब्रह्म पृथ्वी इत्यादिकी उपाधिसे नाना रूपका देखपडता है नहीं तो यथार्थमें उसका किसी प्रकारका रूप नहीं है वह तो स्वयं अरूप है केवल चिन्मात्र है। परे चिनगारी बढते-बढते जैसे अग्नि होकर भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें अनेक रूपोंको धारण करती है ऐसे ही वह चेतन भी भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपाधि पाकर भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा जाता है पर यथार्थमें वह अचिन्त्य और अरूप है।

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥" (का० अ० १ व० ३ श्रु० १५)

अर्थ—वह ब्रह्म जो शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्धादिसे रहित है इसलिये अव्यय (जो घटता बढता नहीं) तथा अनादि है, अनन्त है महत् जो बुद्धि इत्यादि तिससे परे है अर्थात् कूटस्थ और नित्य है इसलिये अचिन्त्य है ऐसे महाप्रभुको मरणकालमें ध्यानकरनेसे भक्त मृत्युके मुखसे छूटजाता है। इसलिये मृत्युके समय इस अचिन्त्यरूपकी स्मृति करनी चाहिये।

७. आदित्यवर्णम्—( नित्यचैतन्यं स्वप्रकाशरूपो वर्णो यस्य तम् ) जिसका वर्ण नित्य है, चैतन्य है और स्वप्रकाशस्वरूप है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत तथा सूर्य, विद्युत, अग्नि इत्यादिको अपने प्रकाशसे प्रकाशमान कररहा है। आदित्यवर्ण कहनेसे भगवानका यह तात्पर्य नहीं है, कि इसी आदित्यके समान वह परमात्मा भी श्वेत, पीत, अथवा लाल वर्ण प्रकाशवाला है ऐसा नहीं वरु आदित्य कहकर उस परम प्रकाशकी ओर संकेत किया है। और यह जनाया है, कि जैसे इस सूर्यको प्रकाशमान देखते हैं इसी प्रकार वह भी प्रकाशमान है। वरु ऐसे-ऐसे करोडों सूर्य एकसाथ मिलकर प्रकाश करें तो भी उस महाप्रभुके प्रकाशके सामने ऐसे दीखपडेंगे जैसे सूर्यके सम्मुख दीपक। श्यामसुन्दरने केवल आदित्यका नाम लेकर अपने परम प्रकाशकी ओर संकेत किया।

मरणकालके समय भगवतके इस आदित्यवर्ण रूपका ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें परम प्रकाशस्वरूप नारायणका प्रकाश दीखपडता है। क्योंकि भ्रूमध्यमें जहां मरनेवालेने प्राणको योगबलसे प्रवेश कर रखा है तहां ही नारायणके परम प्रकाश स्वरूपका दर्शन होता है तथा अज्ञानरूप अन्धकारका नाश होजाता है।

८. तमसः परस्तात्— मोहरूप अन्धकारके ऊपर व्यवस्थित होनेवाला अर्थात् प्रकृति जो अज्ञानका मूल है उससे परे अन्तःकरण को ज्ञानरूप तेजसे प्रकाश करनेवाला जो वह सच्चिदानन्द आनन्द घन है उसीको मरणके समय ध्यान करना चाहिये।

तहां प्रमाण श्रुतिः— ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य-वर्णं तमसः परस्तात् " ॥ ( श्वेताश्व० अ० ३ श्रु० ८ )

अर्थ— यह महापुरुष आदित्यवर्ण परमप्रकाश स्वरूप है तथा प्रकृतिके अन्धकारसे ऊपर है अर्थात मोहान्धकारको नाश करनेवाला है ऐसा मैं जानता हूं ।

अब श्री गोलोकविहारी मदनमुरारि जगत्-हितकारी अर्जुनसे कहते हैं, कि [ **प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव** ] जो प्राणी मरणके समय निश्चल-मन तथा भक्ति-युक्त हो योगबलके साथ मेरे उक्त कथन कियेहुए कविम्, पुराणम् इत्यादि आठों गुणोंको स्मरणकरता है अर्थात जिस प्राणीको मरण-समयमें यह निश्चय होजावे, कि अब मैं नहीं बचूंगा और अवश्य मृत्युके वश होऊंगा तब अपने चञ्चल मनको चारों ओरकी वृत्तियों से सिमेट करे निश्चल करे अर्थात् मरनेवालेके समीप जो उसके चित्तको चलायमानकरनेवाले सम्बन्धियोंका जमघट होपडता है और वे नाना प्रकारके मिथ्या स्नेहसे भरीहुई बातें बनाकर उसके अन्तःकरणको अपनी ओर खींच चञ्चल किया चाहते हैं उन सबोंको अपने परमार्थका विरोधी जान, उनका तनक भी स्नेह अपने चित्तमें न लावे । उनसे अनभिस्नेह होकर उनकी ओर आंख उठाकर भी न देखे ।

शंका— जिन व्यक्तियोंसे अर्थात जिन पुत्र कलत्रोंसे उसने जीवनभर ऐसा स्नेह कररखा था, कि अपनी सारी आयुको उनके पालन पोषण निमित्त कैसे २ अशुद्ध आचरणोंमें व्यय करदिया ? तो

ऐसा संभव नहीं है, कि उनसे सदाके लिये छूटनेके समय उनका स्नेह एकबारगी भूल जावे। व्यवहारमें ऐसा देखाजाता है, कि जब कभी कोई प्राणी युद्धादिमें चलते समय अथवा किसी दूर देश जाते समय अपने सम्बन्धियोंसे विलग होने लगता है तब मोरे स्नेहके उसका कलेजा फटने लगजाता है। प्रायः देखाजाता है, कि किसीकी कन्या विवाहके पश्चात् जब अपने सम्बन्धियोंसे विदा होकर अपने पतिके गृहको चलने लगती है तो किसीका भी कलेजा स्थिर नहीं रहता, एक दूसरेको देखकर सभी रोने और कराहने लगते हैं। यद्यपि वे जानते हैं, कि उनका वियोग सदाके लिये नहीं है फिर शीघ्र थोड़ेही दिनमें मिलनेकी आशा भी बनी रहती है तथापि कन्याके विदा होते समय माता पिताके कलेजे स्थिर नहीं रहते। अब विचारने योग्य है, जब कि फिर मिलनेकी आशा होनेपर भी वियोगका समय अत्यन्त दुःखदायी होता है तो कब संभव है ? कि मरणके समय जब कि इनसे सदाकेलिये छूटना है तब मरनेवालेका चित्त स्थिर रहे और इन सम्बन्धियोंसे एकबारगी अनस्नेह होजावे।

समाधान—जो प्राणी इनसे गाढा स्नेह रखता रहा है, कभी वैराग्यका अभ्यास नहीं करता रहा, इन्हींके प्रेममें डूबा रहा, भगवत्-स्वरूपका पहले कभी चिन्तन नहीं करता रहा, कभी किसी सत्संगमें नहीं जाता रहा और किसी प्रकार योगका साधन नहीं करता रहा उससे तो इनका स्नेह एका-एक छूटना असंभव है वह तो अवश्य इनके स्नेहसे दुखी होकर चंचल-चित्त हो दुर्गतिको प्राप्त होहीगा। ऐसे पुरुषोंकेलिये तो भगवान् इस श्लोकको नहीं कहते हैं, यह श्लोक उनके

लिये है जिन्होंने पहलेसे वैराग्यका अभ्यास किया है, जिनने पहलेसे इन सम्बन्धियोंसे अपने चित्तको हटा रखा है, जिनने इनको अपने मोक्षपथका विरोधी निश्चय कर रखा है, इनसे अनभिस्नेह रहनेका अभ्यास किया है, जिनने मरण कालसे पहलेही अपनी प्रज्ञाकी प्रतिष्ठा करली है अर्थात् अपने मनको परमात्मामें स्थिर कर रखा है जैसे, कि भगवान् द्वितीय अध्याके ५७ वें श्लोकमें कह आये हैं, कि " **यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्** "

अर्थ— जो प्राणी सब विषयोंके स्नेह से शून्य है और पुत्र, कलत्रादिके शुभ वा अशुभकी प्राप्तिसे दुःख सुखको देख दुखी वा सुखी नहीं होता उसी प्राणीकी प्रज्ञा ( बुद्धि ) प्रतिष्ठित कही जाती है अर्थात् उसीकी बुद्धि प्रकृष्टरूपसे ब्रह्ममें स्थित हुई कही जाती है। सो इस प्रकारकी स्थिरबुद्धि एका-एक विना पूर्वके अभ्यासके मरणके समय नहीं होसकती। इसी कारण जिस प्राणीने " **अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते** " ( अ० ६ श्लोक ३५ )

इस भगवत्के वचनानुसार अभ्यास और वैराग्य करके मनकी चंचलता दूर करली है और स्थिर-बुद्धि होगया है उसीकी बुद्धि प्रतिष्ठिता कही जाती है और वही प्राणी मरणकालमें सम्बन्धियोंके मध्य अपने मनको स्थिर रखसकता है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जबतक कालका डंका नहीं बजा है तिससे पहले ही प्राणीको उचित है, कि सबसे स्नेह तोडकर योगयुक्त हो, भगवच्चरणारविन्दोंमें दृढ प्रेम लगावे। इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकमें " **मनसाऽचलेन** " कहा।

अब कहते हैं, कि " भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव " अर्थात् वह मरणके समय स्थिर चित्तवाला प्राणी भक्तियुक्त हो और योगवलको भी प्राप्त कियेहुआ हो। भगवानके इस वचनसे यह सिद्धान्त होता है, कि भक्तियुक्त और योगवलवाला भी हो।

तहां शंका यह है, कि केवल भक्तिसे अथवा केवल योगसे प्राणीका उद्धार क्या नहीं होसकता है ? यदि होसकता है तो भगवान्को भक्ति तथा योगवल दोनोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

केवल भक्तिसे उद्धार होना सैकडों प्रमाणोंसे सिद्ध है जैसे " अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ ( श्रीमद्भा० स्कं० २ अ० ३ श्लो० १० )

अर्थ— कामनाओंसे रहित अथवा कामनाओंके सहित उदार बुद्धिवाला मोक्षकी कामना लियेहुए तीव्र भक्ति-योगसे उस परमपुरुषकी आराधना करे। फिर भगवान् कपिलदेव अपनी मातासे भक्तियोगका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि " स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः । येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ "
( श्रीमद्भा० स्कं० ३ अ० २९ श्लो० १४ )

अर्थ— भगवान् कपिलदेव कहते हैं, कि यह मेरी कथन की हुई भक्ति ही आत्यन्तिक है अर्थात् अटल है इससे बढकर अन्य कुछ नहीं है जिससे मनुष्य इस त्रिगुणात्मक सृष्टिको लांघकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है। क्योंकि " सा परानुरक्तिरीश्वरे " इस

शाण्डिल्यके सूत्रानुसार ईश्वरमें परम अनुराग को ही भक्ति कहते हैं, फिर जब ईश्वरमें परम अनुराग ही उत्पन्न होगया तो इससे अन्य और क्या करना है ? ।

फिर दैत्य-पुत्र भक्तशिरोमणि प्रह्लादने दैत्योंके बालकोंसे कहा है— " निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि । यदाऽतिहर्षात्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठय उद्गायति रौति नृत्यति ॥ यदाग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् । मुहुः श्वसन्वक्ति हरे ! जगत्पते ! नारायणेत्यात्ममतिर्गत-त्रपः ॥ तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः । निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् "

(श्रीमद्भा० स्कं० ७ अ० ७ श्लो० ३४, ३५, ३६ )

अर्थ— प्रह्लाद कहते हैं, कि हे दैत्यपुत्रो ! भगवान्के जो भिन्न आचरणोंमें नाना प्रकारके अतुल्य और अलौकिक कर्म भक्त-वत्सलता आदि गुण हैं और कीर्तियां हैं जब उनको सुनकर अत्यन्त आनन्दमें रोमाञ्चित होकर नेत्रोंमें अश्रु आजाते हैं और गद्गद कंठ होकर पुरुष ऊंचे स्वरसे गाने लगता है, रोने लगता है, नाचने लगता है और जैसे पिशाच लगाहुआ प्राणी हो ऐसे कभी हँसने, कभी विलाप करने लगजाता है, कभी आंखोंको मूँदकर ध्यान करने लग-जाता है और लोगोंकी बन्दना करने लगजाता हैं तथा कभी-कभी निर्लज्ज होकर बारम्बार श्वासोच्छ्वास लेता हुआ हे, हरे! हे जगत्पते ! हे नारायण ! ऐसा उच्चारण करने लगजाता है तब ऐसा भक्तियोग-

निष्ठ पुरुष तिस उत्तम भक्तियोग द्वारा संसारके सब बन्धनोंसे छूट-कर मन और शरीर दोनोंसे भगवान्की लीलाओंके चिन्तनमें उन लीलाओंका अनुकरण करने लगजाता है। तब एवम्प्रकार उत्तम गति को प्राप्त होताहुआ भगवत्स्वरूपमें जामिलता है ॥ ३४, ३५, ३६॥

इन शाण्डिल्यसूत्र और श्रीमद्भागवतके प्रमाणोंसेसिद्ध होता है, कि केवल भक्तियोगसे प्राणीका उद्धार होसकता है। फिर इसके साथ भगवान्ने इस श्लोकमें " योगबलेन च " कहकर योगबलको क्यों मिलाया ?

समाधान— भक्तिके साथ यदि योगबल मिलजावे तो तब वह भक्ति अत्यन्त ही शीघ्र प्राणीको संसारबन्धनसे छुडादेती है। इसलिये भगवान्ने भक्तिके साथ योगबलको भी मिलादिया। यहां योग कहनेसे भगवान्का तात्पर्य अष्टांग योग और कर्मयोगसे है सो योगशास्त्रके कर्ता भगवान् पतञ्जलि कहते हैं, कि " **तपःस्वाध्याये-श्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** " ( प० पा० २ सू० १ )

अर्थ— ब्रह्मचर्य, गुरुकी सेवा, सच बोलना, अपने आश्रम-धर्मका विधिवत् पालन करना तथा मिताहारादिको तप कहते हैं। और ॐ कारादि परमात्माके नामोंका जप करना, अपने शाखावाले वेदका तथा मोक्ष-शास्त्रका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' कहाजाता है तथा ईश्वरमें अपनेको अर्पणकर निष्काम हो भगवत्का आराधनकरना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है सो १. तप, २. स्वाध्याय और ३. ईश्वरप्रणि-धान इन तीनोंको एक साथ साधन करनेका नाम क्रिया योग है। यह

क्रियायोग किस तात्पर्यसे कियाजाता है ? सो कहते हैं— " समाधिभावनार्थः क्लेशातनूकरणार्थश्च " ( प० पा० २ सू० २ )

अर्थात् क्रियायोग समाधि भावना और क्लेशोंको दूर करनेके निमित्त है। अर्थात इस प्रकार साधन आरम्भ करनेसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यानको प्राप्त करताहुआ योगी समाधि लाभ करता है सो समाधि क्या है ? सो कहते हैं— " तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः " ( प० पा० २ सू० ३ )

अर्थ— ध्यान करते-करते जब ध्येयका स्वरूप शून्य होकर तदाकारता होजावे ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों एक होजावें और उस ध्यानका अर्थमात्र भासित हो, भेद-बुद्धि नहीं रहे अर्थात् ध्येय ( इष्टदेव ) के प्रेममें मग्न होकर उसके स्वरूपकी अपनेसे भिन्नता न रहे। तात्पर्य यह है, कि भगवत्स्वरूप ही होजावे वही ( समाधि ) है। जो योगका अन्तिम फल है।

इसी समाधिके विषय गरुडपुराणके ४४ वें अध्यायमें कहते हैं, कि " नित्यशुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम् । तुरीयमक्षरं ब्रह्म अहमस्मि परं पदम् । अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिरिति गीयते ( अर्थ स्पष्ट है )

फिर २४० वें अध्यामें कहा है, कि 'ध्येयमेव हि सर्वत्र ध्याता तल्लयतां गतः । पश्यति द्वैतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते' अर्थ स्पष्ट है।

अब जो समाधिस्थ होता है उसका लक्षण कहते हैं— " मनः संकल्परहितमिन्द्रियार्थानचिन्तयत् । यस्य ब्रह्मणि संलीनं समाधिस्थः स कीर्त्तितः ॥ "

अर्थ— जब मन सब प्रकारके संकल्पोंसे रहित होकरे विषयोंका चिन्तन छोड, केवल ब्रह्ममें लय होजाता है तब प्राणी समाधिस्थ कहलाता है तथा इसी अर्थको फिर कहते हैं, कि " ध्यायतः परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिनः । मनस्तल्लयतां याति समाधिस्थः स कीर्त्तितः " ॥ ( अर्थ स्पष्ट है )

मुख्य तात्पर्य्य इन प्रमाणोंसे यही निकलता है, कि भक्तिके साथ योगबल होनेसे अति शीघ्र परमात्म-स्वरूपका लाभ होसकता है। इसलिये भगवान्ने भक्तिके साथ योगबलेन कहा ।

इसमें सन्देह नहीं है, कि केवल भक्तिसे वा केवल योगसे ब्रह्मानन्दका लाभ होसकता है पर यदि दोनों एक साथ मिलजावें तो अवश्य अधिकसे अधिक आनन्दका अर्थात् अटल आनन्दका लाभ होगा, यह आनन्द अकथनीय है जैसे स्वर्णमें सुगंध ।

दूसरी बात यह है, कि भक्तिसे योगकी दृढता और योगसे भक्तिकी उत्तमता प्राप्त होती है भगवान् पहले कह आये हैं, कि " शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते " ( अ० ६ श्लो ४१ )

अर्थ— जो प्राणी योगभ्रष्ट होजाता है वह किसी धनवान् कुलमें अथवा किसी योगीके कुलमें फिर जन्म पाता है । इससे सिद्ध

होता है, कि योगियोंके योगके भ्रष्ट होजानेका भय है इसलिये यदि उस योगके साथ भक्तिका मेल होजावे तो वह भक्ति-सहित योग कदापि भ्रष्ट नहीं होसकता। क्योंकि भक्तोंको भगवान् स्वयं योगक्षेम प्रदान करते हैं जैसा पहले कहआये हैं, कि "योगक्षेमं वहाम्यहम्" फिर योगद्वारा योगीने जो कुछ बल प्राप्त किया है वह योगी यदि भगवच्चरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रेम लगारखे तो उसका योग नष्ट नहीं होसकता। वरु वह योगी सब योगियोंमें श्रेष्ठ गिना जाता है सो भगवान पहले स्वयं कहचुके हैं कि "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः"

(अ० ६ श्लो० ४७)

अर्थ- जो श्रद्धावान् मुझमें अन्तरात्मासे लगाहुआ मुझको भजता है अर्थात् मेरी भक्ति करता है वही योगी सब योगियोंमें मेरे जानते श्रेष्ठ है अर्थात् भक्ति-सहित योगीको मैं अन्य सब योगियों से श्रेष्ठ मानता हूं। इस वचनसे पूर्ण प्रकार सिद्ध होता है, कि योग को भक्तिसे दृढता प्राप्त होती है इसी कारण योगके साथ भक्तिकी आवश्यकता है।

अब रहा यह, कि भक्तिके साथ योगबलकी क्यों आवश्यकता है? सो सुनो!

समाधान— योगबलसे चित्तकी स्थिरता प्राप्त होती है। सम्पूर्ण योगशास्त्रका सिद्धान्त यही है, कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" क्योंकि यदि चित्त स्थिर नहीं हो तो भक्तोंके कोमलहृदयसे

भक्तिके लोप होजानेका भय है इस कारण जबतक भक्तोंका हृदय भक्तिरससे भर न जावे तबतक चित्तके स्थिर रहनेकी आवश्यकता है। इसलिये अन्य सहायकोंके समान योगवल भी भक्तिका सहायक है, अतएव भगवान्ने भक्तिके साथ योगवल को मिलादिया।

अब आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द कहते हैं, कि जो प्राणी मरण-कालमें स्थिर-मनसे योगवलके साथ भक्तियुक्त हो– [ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ] दोनों भउहोंके बीचोंबीच प्राणको प्रवेश करके उस परब्रह्म जगदीश्वरका ध्यान करता है वही उस प्रकाश-स्वरूपको पाकर नित्यानन्द लाभ करता है।

यहां इस श्लोकमें भगवान्के 'योगवलेन च' कहनेका दूसरा विशेष कारण यह भी है, कि जब तक प्राणी कुछ योगवलकी प्राप्ति नहीं करलेवेगा तब तक प्राणोंको भ्रूमध्यमें लेजानेकी रीति नहीं जान सकता तथा जब तक इसकी रीतिसे अनभिज्ञ रहेगा तब तक एकाग्रता की प्राप्ति नहीं होसकती। एवम्प्रकार जब एकाग्रताकी प्राप्ति नहीं हुई तो प्राणी अचल-मानस भी नहीं होसकता और जब अचल-मानस नहीं हुआ, चञ्चलता बनी ही रही तो उसकी भक्तिमें दृढता भी नहीं रहेगी। क्योंकि दृढता नहीं होनेसे मरणकालमें चित्तकी स्थिरता नहीं होनेके कारण मृत्युके असह्य दुःखोंका प्रादुर्भाव होनेसे प्राणी कर्त्तव्य-विमूढ होकर घोर व्याकुलताका अनुभव करने लगेगा अतएव मरणकालमें जहां व्याकुलता आयी फिर तो भक्तिरसकी दृढता

भी असम्भव है। इसी तात्पर्यसे भगवानने इस श्लोकमें पहले योगबलेन कहा।

इन नव और दस श्लोकोंका सारांश इतना ही है, कि मरणके समय योगबल द्वारा भ्रमध्यमें प्राणको प्रवेश कर अचलमानस हो पूर्ण भक्तिके साथ भगवानके " कवि, पुराणादि " आठों गुणोंको स्मरण करताहुआ जो शरीर छोडता है वह उस परम दिव्य ज्योतिर्मय भगवत्स्वरूपमें जामिलता है॥ ९, १० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि हे भगवन्! तुमने जो बार-बार ऐसा कहा, कि मरणकालमें " अनुस्मरेद्यः " जो प्राणी भगवतके गुणोंको स्मरण करता है वह परमपुरुषको प्राप्त करता है तहां पूछना यह है, कि उसके स्मरण करनेकेलिये नामादि आधार भी है वा केवल गुणोंका ही स्मरण करता जावे? यदि किसी नामका आधार है तो वह क्या है? कृपा कर कहो।

इतना सुन भगवान् बोले हे अर्जुन! सुन—

**मू०-यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥**
**॥ ११ ॥**

**पदच्छेदः—** वेदविदः ( वेदार्थज्ञाः ) यत्, अक्षरम् ( प्रणवाख्यम ) वदन्ति ( सर्वविशेषनिवर्तनेन प्रतिपादयन्ति ) वीतरागाः ( विगतो रागो येभ्यस्ते ) यतयः ( यत्नशीलाः सन्न्या-

सिनः ) यत्, विशन्ति ( ब्रह्मप्रतीकत्वेन शरणीकुर्वन्ति ) यत् [ज्ञातुम्] इच्छन्तः ( नैष्ठिकाः ) ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति ( सम्पादयन्ति ) तत्पदम् ( प्रणवाख्यम् ) ते ( तुभ्यम् ) संग्रहेण ( संक्षेपेण ) प्रवक्ष्ये ( कथयिष्यामि ) ॥ ११ ॥

**पदार्थः—** श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन! (वेदविदः) वेदोंके जाननेवाले ( यदक्षरम् ) जिसको अक्षर ( वदन्ति ) बोलते हैं तथा ( वीतरागाः ) जिनका राग नष्ट होगया है ऐसे ( यतयः ) ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त यत्न करनेवाले यतिवृन्द जिसमें ( विशन्ति ) प्रवेश करजाते हैं ( यदिच्छन्तः ) जिस परमतत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुगण ( ब्रह्मचर्यम् ) गुरुकुलमें जाकर ब्रह्मचर्यका ( चरन्ति ) सम्पादन करते हैं ( तत्पदम् ) तिस पदको ( ते ) तेरे लिये ( संग्रहेण ) संक्षेपसे ( प्रवक्ष्ये ) मैं कथन करूँगा ॥ ११ ॥

**भावार्थः—** अर्जुनने जो पूछा है, कि मरणकालमें भगवत्के गुणोंके स्मरण करनेवाले किस उत्तम आधारका अवलम्बन करके स्मरण करते हैं ? सो कृपा कर कहो ! तिसके उत्तरमें भगवान् श्रुति की छाया लेते हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! **[ यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ]** जिसको वेदके जानने वाले अक्षर बोलते हैं और वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं और **[ यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ]** जिसकी अभिलाषासे यतिगण ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हैं तिस पदको मैं तेरेलिये संक्षेपसे कहूँगा ।

यहां 'तत्पदं' कहनेसे ऐसा अनुभव होता है, कि भगवानका मुख्य तात्पर्य्य ॐकारे प्रणवहीसे है जिसको वेदके ज्ञाता सबोंसे उत्तम और श्रेष्ठ कहा करते हैं अर्थात् शास्त्र पुराणोंमें भगवत्के स्मरण निमित्त अनेक सहस्र आधार अर्थात् नाम हैं सब एकसे एक उत्तम हैं, सबोंके उच्चारणसे प्राणीका उद्धार होता है पर सबोंपर श्रेष्ठ केवल ॐकार प्रणव ही है जिसको उपनिषदोंके जाननेवाले ज्ञानी अति श्रेष्ठ कहते हैं अर्थात् चारों वेदोंमें तथा उपनिषदोंमें ब्रह्मवादियोंने बहुत विचारसे और कुशाग्रबुद्धिसे इस ॐकार प्रणवहीको सब नामोंपर श्रेष्ठ दिखलाया । क्योंकि यह ॐकार ही अन्य सब मन्त्रोंका बीज है । जैसे बीज पृथ्वीमें डालनेसे मञ्जरी, फूल, फल इत्यादि सहित सारे वृक्षका उदय होजाता है । इसी प्रकार यह प्रणव ॐकार जब प्राणीके हृदयरूप पृथ्वीमें वपन करदियाजाता है तब थोडेही कालके पश्चात् इसीके समान सहस्र उत्तम फल अर्थात् भगवत्के अनेक नामोंकी स्मृतिके प्रभावोंको प्रकट करदेता है । क्योंकि सब नाम इसी ॐकारसे बने हैं नामही क्या वरु सारी सृष्टि इसीसे बनी है । इसी कारण जो वेदके ज्ञाता हैं वे कहते हैं, कि "ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव" (माण्डू० श्रु० १) इस संसारमें जो कुछ है सो सब ॐकारही है और भूत, वर्त्तमान भविष्यत् तीनोंकाल भी ॐकार ही हैं और यदि कुछ इन तीन कालोंसे परे भी है तो वह भी ॐकारही है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि ॐकार एकाक्षर ब्रह्म है इसलिये जो

कुछ बना है सब इसीसे बना है सो किस प्रकार सारी सृष्टि इससे बनी है ? यह पहले दिखला आये हैं ।

इसी कारण इसके विषय विद्वज्जन बहुत कुछ कहते हैं । सो प्रणव क्या है ? आगे चलकर इस अध्यायके १३ वें श्लोकमें अनेक श्रुतियोंद्वारा वर्णन कियाजावेगा ।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि "विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः" जिस अक्षरमें राग-द्वेषसे रहित यतिगण प्रवेश करते हैं अर्थात् जैसे नदियां चारों ओरसे सिमट कर समुद्रमें प्रवेश करती हैं ऐसे यत्नशील महापुरुष-वृन्द इस ॐकार प्रणव रूप एकाक्षर ब्रह्ममें प्रवेश करजाते हैं अर्थात् लीन होजाते हैं । इसी वार्त्ताको याज्ञवल्क्य गार्गीसे कहते हैं, श्रुतिः— "ॐ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" ( बृह० अ० ३ ब्रा० ८ श्रुति १० में देखो )

अर्थ— हे गार्गि! जो यत्नशील ज्ञानी इसी ॐकार प्रणवरूप अक्षरको जानकर इस लोकसे परलोकको सिधारता है वही यथार्थ ब्राह्मण है । अर्थात् ब्रह्मीभूत होकर सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करता है फिर अन्य श्रुतियां भी इसी विषयको सम्पादन करती हैं । यथा— "ॐ यः पुनरेतत् त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परमं पुरुषमभिध्यायति स तमधिगच्छति"

अर्थ— जो यत्नशील महापुरुष इस त्रैमात्रिक ॐकारके आधारसे उस परमपुरुषका ध्यान करता है वह उसीमें लय होजाता है ।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य यह है, कि केवल जीवन्मुक्त-पुरुष ही इसके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त नहीं होता वरु साधारण पुरुष भी जो भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं जो ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें केवल प्रथमभूमिका शुभेच्छा हीसे भूषित हैं वे भी केवल उस सच्चिदानन्दकी प्राप्ति निमित्त इसी प्रणवके आधारको प्राप्त करनेके तात्पर्यसे गुरुशुश्रूषा करके इसके उच्चारणकी विधि सीखते हैं। क्योंकि पहले भी कहागया है, कि यह प्रणव उस महाप्रभुका वाचक है अर्थात् नाम है जो सब नामोंमें श्रेष्ठ है। पर जबतक इसके उच्चारणकी यथार्थ विधि गुरु द्वारा न जानली जावेगी तबतक इस प्रणवके उच्चारणका पूर्ण फल जो भगवत्स्वरूपका लाभ सो नहीं होता। इसलिये गुरुकुलमें निवास करनेकी आवश्यकता है।

**शंका**— ॐ (प्रणव) का उच्चारण सीखनेके लिये गुरुकुलमें निवासकर ब्रह्मचर्य इत्यादि व्रतके पालन करनेकी क्या आवश्यकता है ? यह तो एक आध मुहूर्तमें ही ज्ञात होसकता है।

**समाधान**— इस प्रणवके उच्चारणकी अनेक भिन्न २ रीतियां हैं, जिनके जाननेके लिये वर्षों शुश्रूषा और ब्रह्मचर्यादि व्रतके पालनकी आवश्यकता है। इसी कारण भगवानने ऐसा कहा, कि "**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**" अर्थात् जिसके जाननेकी इच्छासे मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्यादिव्रतका पालन करते हैं।

अब आनन्दकन्दकहते हैं, कि हे अर्जुन ! '**तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये**' सो जो ॐकारपद है उसके उच्चारणकी विधि तथा उसका

महत्व इत्यादि मैं तेरे बोधके निमित्त संक्षेपसे कथन करूंगा। क्योंकि युद्धमें इतना अवकाश नहीं है, कि जिस पदके विषय माराडूक्य इत्यादि अनेक उपनिषदोंने विस्तार पूर्वक कथन किया उसे मैं इस घोर युद्धके समय पूर्णप्रकार तुझसे कहूं। अतएव मैं इस समय संक्षिप्त से इस ॐकार (प्रणव) के विषय तुझसे कहूंगा।

श्री जगत्‌हितकारी गोलोकविहारीने जो यह श्लोक कहा सो कोई नवीन रचना नहीं वरु श्रुति ही को ज्योंकी त्यों उठाकर रखदिया इस श्लोकका जो पिछला पद है वह श्रुति ही है। तहां श्रुति यों है—
"ॐ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।"
( कठो० व० २ श्रु० १५ )

इसी श्रुतिका यह श्लोक छायामात्र है। जो तात्पर्य इस श्रुतिका है वही इस श्लोकका भी है। जिसका अर्थ यह है, कि "सब वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तपस्वी इत्यादि जिस पदके विषय कहते हैं, अथवा जिसको उच्चारण कर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं तथा जिसकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं वह पद मैं संक्षेपतः कहता हूं, कि वह ॐकार प्रणव अर्थात् ( ओम ) इतना ही है" ॥ ११ ॥

अर्जुनने जो इस अध्यायके आरम्भमें ही सातवां प्रश्न किया है, कि " प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसि नियतात्मभिः " अर्थात् अन्तकालमें नियतचित्तपुरुषोंसे तुम किस उपायसे जानेजाते

हो ? इसी सातवें प्रश्नका उत्तर अर्थात् मरणके समय ॐकार प्रणवका उच्चारण करनेकी विधि भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं—

मू०— सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
॥ १२, १३ ॥

पदच्छेदः— यः [ यतिः ] सर्वद्वाराणि ( श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ) संयम्य ( निगृह्य । स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य ) च, मनः, हृदि ( हृत्कमले ) निरुध्य ( निर्वृत्तितामापाद्य ) आत्मनः ( स्वस्य ) प्राणम्, मूर्द्धिन ( ललाटोपरिभागे सहस्रदलकर्णिकायाम् ) आधाय ( संस्थाप्य ) योगधारणाम् ( धारणाध्यानादि योगक्रियां धारयितुम ) आस्थितः ( आरूढः ) ओम्, इति एकाक्षरं ब्रह्म ( ब्रह्मणोऽभिधानभूतमोंकारम ) व्याहरन ( उच्चारयन् ) माम्, अनुस्मरन् ( अनुचिन्तयन ) देहं त्यजन्, प्रयाति ( म्रियते । उदूर्ध्वनाड्या उत्क्रामति ) सः परमाम् ( उत्कृष्टाम् ) गतिम् (स्थानम्) याति ( अधिगच्छति ) ॥ १२, १३ ॥

पदार्थः— ( यः ) जो यत्नशील प्राणी ( सर्वद्वाराणि ) चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियोंको ( संयम्य ) अपने-अपने विषयोंसे रोककर ( च ) फिर ( मनः ) मनको ( हृदि ) हृदयमें ( निरुध्य ) स्थिर करके

( आत्मनः प्राणम् ) अपने प्राणको ( मूर्ध्नि ) ललाटसे ऊपर भीतरकी ओर सहस्रदलकी कर्णिकामें ( आधाय ) स्थापित करके ( योगधारणाम् ) धारणा ध्यानादिमें ( आस्थितः ) आरुढ होकर ( ओमिति ) ओंकार प्रणव इस इतने ( एकाक्षरं ब्रह्म ) एक अक्षरवाले ब्रह्मवाचक शब्दको ( व्याहरन् ) उच्चारण करताहुआ तथा ( मामनुस्मरन् ) मुझको स्मरण करताहुआ ( देहं त्यजन् ) शरीरको छोडताहुआ ( प्रयाति ) ऊर्द्ध्वनाडी होकर ऊपरको पयान करता है ( सः ) वह प्राणी ( परमां गतिम् ) परमगति जो मोक्षस्थान तथा भगवत्स्वरूप, तिसे ( याति ) प्राप्त होता है ॥ १२, १३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि मरणके समय नियतात्मा प्राणी किस उपायका सम्पादन करके परमगतिको प्राप्तहोता है ? तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ] नयन, श्रवण इत्यादि इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे रोककर और हृत्कमलमें अपने मनको स्थापन करके मेरी अगली आज्ञाके अनुसार जो शरीर छोडता है वह मोक्षको पाता है ।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि “ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ” इस भगद्वचनके अनुसार जो अभ्यास और वैराग्य द्वारा इन्द्रियोंका संयम कर अत्यन्त दुर्जया और दुरत्यया जो भगवन्मायाकी नाना प्रकारकी कलाएं हैं उनसे बचकर अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियको उसके विषयकी ओरसे योगबलद्वारा खींचकर

और मनको सर्वविकारोंसे रहित कर + हृदय-कमलकी कर्णिकामें स्थापन करके योगका अभ्यास करताहै वह परम गतिको प्राप्तहोजाता है ।

---

+ यह चंचल मन जो हृदयके अन्तर्गत अर्थात् द्वादशके अन्दर वामपार्श्वकी ओर जो अष्टदल कमल है उसकी चार पंखरियां हैं सो आठों पंखरियां निद्राके समय मुँदजाती हैं । जैसे रात्रिका आगमन देख कमल मुंदने लगजाता है और धीरे-धीरे सब पत्तियोंका सम्पुट लगजाता है इसी प्रकार हृदयकमल भी निद्राका आगमन देख सकुचने लगजाता है और जब घोर निद्रा लगजाती है तब हृदयकमलकी आठों पंखरियां मुंदजाती हैं । फिर जब निद्रा टूटनेलगती है तो जैसे-जैसे ये आंखें खुलती हैं तैसे-तैसे हृदयकमल भी विकसित होने लगजाता है । जब प्राणी पूर्णप्रकार चैतन्य होकर जागृत अवस्थामें आता है तब इस हृदयकमलकी आठों पंखरियां पूर्णप्रकार प्रफुल्लित होजाती हैं । तहां सुश्रुतका वचन है—

"तत् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानमतस्तस्मिंस्तमसावृत्ते सर्वे प्राणिनः स्वपन्ति । भवतिचात्र पुण्डरीकेन सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् । जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति" ( सुश्रुते शरीरस्थाने चतुर्थोऽध्याये )

अब इस हृत्पुण्डरीकके अन्तर्गत अष्टदलकमलकी पत्तियोंके देखनेसे प्रकट होता है, कि इस कमलकी उत्तर वाली पत्तीकी ओर मनके जानेसे कामकी चेष्टा होती है । यदि स्त्री सम्मुख नहीं भी हो तथापि काम उदय होजाता है । इसी प्रकार अन्य पत्तियोंपर मनकी वृत्तियां स्वाभाविक बदलती रहती हैं जिससे कभी सात्त्विक, कभी राजस और कभी तामस वृत्तिका प्रभाव हृदयपर होजाता है । चाहे इन्द्रियां अपने-अपने विषयसे सिमट भी जावें पर मन तो इन्द्रियोंके रुकनेसे नहीं रुकता । क्योंकि " इन्द्रियेभ्यः परं मनः " ( अ॰ ५ ) भगवद्वचनानुसार इन्द्रियोंसे यह मन श्रेष्ठ है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मरणके समय अभ्यास-द्वारा इन्द्रियोंका संयम करनेके साथ " मनो हृदि निरुध्य च " मनको हृदय-कमलकी कर्णिकामें रोके अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणको सिमेट मनको हृदय-कमलके बीचोंबीच स्थिर करे। यहां 'च' शब्दके प्रयोग करनेका यही तात्पर्य है, कि इन्द्रियोंको भी रोके फिर मनको भी हृदयस्थानमें रोके जब इन्द्रिय और मन दोनोंकी रुकावट होजावेगी तब एकाग्रता प्राप्त हो चंचलता दूर होजावेगी। तब प्राणी अचल-मानस कहा जावेगा। फिर ऐसा अचल-मानस होकर आगे क्या करेगा ? सो भगवान् कहते हैं, कि [ मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ] अपने प्राणको मूर्द्धामें स्थापन कर योगधारणामें स्थिर होजावे। अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणके साथ इन्द्रिय और मनको हृदयस्थानसे खैंचकर मूर्द्धामें जो सहस्रदलकमल है उसकी कर्णिकामें स्थापन करे। तात्पर्य यह है, कि गुरुद्वारा प्राणायाम शिक्षा पाकर प्राणको मूलाधारसे खैंचकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर योगधारणा करलेनेकी रीति जैसे सीखी है उसी प्रकार प्राणको मूर्द्धास्थान अर्थात् सहस्रदलकमलमें लेजाकर योगधारणामें दृढ होकर ब्रह्मरन्ध्रमें सहस्रदल-कमलके बीच भगवत्स्वरूपमें स्थिर होजावे। क्योंकि इस मूर्द्धस्थानकी सहस्रदलकर्णिकामें साधकोंके इष्टदेवका निवासस्थान योगियोंने कथन किया है। प्रमाण—

" तदूर्द्ध्वं शंखिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशप्रकाशम्।
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णपूर्णेन्दुशुभ्रम ॥
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तकिंजल्कपुंजम्।

ललाटाद्यैर्वर्णैः प्रविलसिततनुं केवलानन्दरूपम् ।
शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणाः ॥
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे ।
पदं देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिकाः ।
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥"

(षट्चक्रनिरूपणचित्रम्)

इसका भाव पहले अ॰ ४ श्लो॰ २८ में दिखलाया जाचुका है अर्थ स्पष्ट है ।

अब भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि एवम्प्रकार उपर्य्युक्त सब क्रियाओंका विधिपूर्वक सम्पादन कर **[ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्]** ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करताहुआ और मेरा स्मरण करताहुआ **[यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्]** जो शरीर छोडता है वह परमगतिको प्राप्त होता है ।

अब यहां दो विषयोंका जानना अतिही आवश्यक है, प्रथम तो ॐ यह एकाक्षर ब्रह्म कैसे है ? इसको स्पष्टरूपसे दिखलायाजावे अर्थात् ॐकार प्रणवका पूर्ण व्याख्यान कियाजावे ।

दूसरा यह, कि इस ॐकारके उच्चारणकी जितनी भी रीतियां हैं सब स्पष्ट करदीजावें जिनके द्वारा अभ्यासी सुगमतापूर्वक अभ्यस्त होकर उसी रीतिका सम्पादन करताहुआ शरीर त्यागकरे ।

प्रथम ॐकार प्रणवका व्याख्यान कियाजाता है—

जिस प्रकार प्राणरहित देह, दीपरहित गेह, कान्त रहित कामिनी और चन्द्र रहित यामिनीकी शोभा नहीं होती। इसी प्रकार ॐकार रहित प्राणकी शोभा नहीं होती। क्योंकि "ॐकारः सर्ववेदानां सारभूतः प्रकीर्तितः" तथा "प्रणवः सर्ववेदेषु" इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि यह ॐकार वेदमंत्रोंका सार है जिसके बिना वेदमंत्र निर्जीव रहता है और उच्चारण करनेवालेको कुछ भी फल नहीं होता। प्रमाण— "ॐ ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तस्तद्विदु इमे समासते॥" ( ऋग्वे० मं० १ अ० २२ सूक्त १६४ मं० ३९ ) इस मंत्रका भाष्य महर्षि सायणाचार्य्य यों करते हैं- ऋचोऽक्षरे ऋगुपलक्षितसर्ववेदसम्बन्धिन्यक्षरे प्रणवरूप ॐकारेऽविनाशिनि सर्ववेदेषु व्याप्ते वा प्रणवस्य सर्ववेदसारत्वं ब्राह्मणे श्रूयते। श्रुतिः— "तान्वेदानभ्यतपन्तेभ्योऽभ्यतप्तेभ्यस्त्रयोवर्णा अजायन्ताकार उकार मकार इति तानेकधा समभरत तदेतदोमिति" ( ऐत० ब्रा० ५ ) "परमे निरतिशये न हि प्रणवादधिकं किंचिन्मात्रं जातमस्ति त्रिकालातीतस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वात् यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एवैतदोमिति ब्रह्मेत्यादि श्रुतेः।" ( माण्डू० श्रु० ) "वेदानां प्रणवस्य स्थानप्रतिनिधिभावः सम्बन्धः। य ऋचो अधीते इत्याद्युपक्रम्य यः प्रणवमधीते सः सर्वमधीते ओमिति प्रतिपद्यते एतद्वै यजुस्त्रयीविद्यांप्रत्येषा वागेतत्परममक्षरमित्यादि श्रुतेः। अस्मिन्विश्वे सर्वे देवा निषेदुः प्रणवस्य सर्वमंत्रात्मकत्वात्। मंत्रेषु सर्वदेवानां

निवासात् सर्वदेवनिवासत्वं ब्रह्माधिष्ठानत्वाद्वा ब्रह्मणि सर्वदेवानां निवासात् शिष्टमवशिष्टम् । "

अब भाष्य सहित इस वेदमन्त्रका तात्पर्य्य दिखलाया जाता है। अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जो यह एकाक्षर ॐकार प्रणव है सो अविनाशी स्वरूप है। जो सब वेदोंमें व्यापक है । इसी कारण इस प्रणव ॐकारको ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें वेदका सार कहते हैं । जैसे ऐतरेय ब्राह्मण कहता है, कि " तान्वेदान् अभ्यतपत्.... " परेमात्माने ऋग्, यजुः और साम इन तीनों वेदोंको तपस्या अर्थात् मथन किया तब इन तीनोंसे अ, उ और म ये तीन अक्षर प्रकट हुए । इनके एकत्र संगठित होजानेसे ॐ ऐसा प्रणव सिद्ध हुआ सो सर्वप्रकारके मन्त्रोंमें श्रेष्ठ सर्वव्यापक ऐसे " परमे व्योमनि " परम श्रेष्ठ पवित्र प्रणवस्वरूप आकाशमें अर्थात् निवासस्थानमें विश्वदेव, सर्व देवगण ' अधिनिषेदुः" निवास करने लगगये । क्योंकि यह प्रणव ॐकार सब कालमें व्यापक है फिर " भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव " इस माण्डूक्योपनिषद्के वचनानुसार भूत, भविष्यत और वर्त्तमान जो कुछ है सब ॐकारही है । फिर " यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव " और जो कुछ अन्य भी इन तीनों कालोंसे अतीत है वह भी ओंकारही है फिर यह ओंकार मानो वेदोंका प्रतिनिधि है। जैसे मन्दिरोंमें प्रतिमाको भगवत्स्वरूपका प्रतिनिधि कहते हैं । इसी प्रकार यह ओंकार प्रणव, वेदोंका प्रतिनिधि है। इसलिये इस प्रणव ओंकारका जो अध्ययन करता है वह मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी विद्या-

ओंका अध्ययन करलेता है। क्योंकि यजुः सामादि तीनों वेद जो त्रयीविद्याके नामसे प्रसिद्ध हैं इन तीनोंमें यह ओंकार प्रणवही श्रेष्ठ अक्षर कहाजाता है। इसी प्रकार भिन्न २ श्रुतियां कहरही हैं, कि इसीमें सब देवताओंका निवास है। क्योंकि यह प्रणव सर्वमन्त्रात्मक है। अर्थात् सब मन्त्रोंका आत्मा है और मन्त्रोंमें सब देवताओंका निवासस्थान है।

इसी कारण वेदमन्त्र कहता है, कि " यस्तन्न वेद.... " जिसने इस प्रणवको नहीं जाना उसे वेदकी ऋचाएं क्या करसकती हैं अर्थात् बिना इस प्रणवके जाने वेदकी ऋचाएं निरर्थक हैं। पर " ये इत्तविदुः···· " जो प्राणी इसे जानते हैं वे ही इस एकाक्षर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इति

एवम् प्रकार जब यह अक्षर सब वेदोंका सार हुआ तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका रक्षक भी हुआ। इसी कारण व्याकरण जाननेवालोंने इसकी बनावट ( अव रक्षणे ) धातुसे की है अर्थात् ( अवति संसार-सागरात् ) जो संसारसागरसे रक्षा करे वही ❀ " ओम् " है।

शंका— उक्त वचनोंसे यह सिद्ध होता है, कि अ+उ+म तीन अक्षरोंके मेलसे यह प्रणव बना है तो इसे फिर एकाक्षर ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

---

❀ देखो श्रीहंसस्वरूपरचित मन्त्रप्रभाकर। तहां इस ओंकार प्रणवका अर्थ विस्तारपूर्वक कियागया है।

समाधान— ये जो अ+उ+म तीन अक्षर कहे गये सो यथार्थमें ये तीन अक्षर नहीं हैं एकही है। सभी जानते हैं, कि शब्द दो प्रकारके हैं। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक पहले तो चौरासीलक्ष योनियोंमें अनेक प्रकारके जीव हैं जिनके मुखसे केवल ध्वन्यात्मक शब्द निकलते हैं। इनमें केवल मनुष्यही एक जीव है जिसके मुखसे वर्णात्मकशब्द अभिव्यक्त होता है, अर्थात् उसी ध्वन्यात्मकशब्दके कई खंड करदेनेसे वर्णात्मक शब्द बनजाते हैं। ये जो अ, आ, इ, ई, तथा क, ख, ग, घ इत्यादि स्वर और व्यञ्जनके स्वरूपमें बनेहुए हैं केवल एक ध्वन्यात्मकके ही ये सब टुकडे कियेगये हैं। "शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदंगादिभवध्वनिः कंठसंयोगजन्मानो वर्णास्ते कादयो मताः" ( भाषापरिच्छेद )

भिन्न २ प्रकारके पक्षियोंकी बोलीकी ओर ध्यान देकर देखिये! उनके मुखसे केवल एक ध्वन्यात्मकशब्द निकलता है पर हम मनुष्योंको वर्णात्मक करलेनेकी प्रकृति पड़ीहुई है इसलिये उसे अपने मनमाना कोई कुछ और कोई कुछ वर्णात्मक करलेता है। अर्थात् टुकडे २ करलेता है।

इसी प्रकार जैसे मृदंग, वेणु, बांसुरी, तम्बूरा, मंजीरा इत्यादि वाजाओंसे ध्वन्यात्मक शब्द प्रकट होते हैं पर गानेवाले उन्हीं ध्वन्या-

---

टिप्पणी— ॐ= "धातोरवतेष्टिलोपश्च" इस सूत्रसे "अव" धातुसे ( मन् ) प्रत्यय होकर ( अन् ) "टी" संज्ञाका लोप होजानेसे ( अवम् ) ऐसा शब्द हुआ फिर ( ज्वरत्वरेति ) इस सूत्रसे ( अव ) को ( ऊ ) आदेश होकर ( ऊम् ) ऐसा शब्द हुआ फिर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इस सूत्रसे ( ऊम् ) के ऊकारको गुण होगया तब "ओम्" ऐसा शब्द सिद्ध हुआ।

त्मकशब्दोंसे अपने वर्णात्मक गानके वाक्योंमें पूर्ण करलेते हैं। इन बाजाओंके ध्वन्यात्मकशब्दमें सैकडों प्रकारके गान भिन्न-भिन्न अर्थके गाये जासकते हैं और वे सब भिन्न २ वर्णात्मकशब्द उसी एक ध्वन्यात्मकमें मिलजाते हैं। इसी कारण बुद्धिमानोंने एक ही ध्वन्यात्मकशब्दको सात स्वरोंमें वर्णात्मक बना रखा है अर्थात् स रे ग म प ध नी ' एक ध्वन्यात्मकके ये सात वर्णात्मक बनालिये गये हैं गान विद्यावाले इसे भली भांति अनुभव करेंगे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह ॐकार प्रणव एक ही ध्वन्यात्मकशब्द है पर भिन्न-भिन्न सिद्धान्तवालोंने ' एक ' किसीने ' दो ' और किसीने ' तीन ' से लेकर ' चार ' मात्रा तक इस एक ही अक्षर को माना है और उपासना की है।

यथार्थमें विचारदृष्टिसे देखाजावे तो यह एकाक्षर तीन अक्षर हुए बिना पूर्ण होही नहीं सकता और एक बार ॐकारका उच्चारण हो ही नहीं सकता। जब कोई प्राणी इसके उच्चारणके लिये मुंह खोलेगा तो अवश्य ही उसको तीनों वर्णोंकी समाप्ति करनी पडेगी तब एक ॐकार पूर्ण होगा।

बुद्धिमानोंका तो क्या कहना है एक बच्चा भी जो आज गर्भ से बाहर आया है जब मुंह खोलता है अर्थात् रोने लगता है तब पहले ' अ ' उसके मुख से थर्राता हुआ दीर्घ और प्लुत होजाता है। अर्थात् जब तक वह मुंह खोलेहुए रोता ही चलाजावेगा उसका मुंह बन्द नहीं होगा अकारकी कई मात्राएं बनती ही चली जावेंगी

पर जब रोनेकी अथवा चिल्लानेकी समाप्ति होने लगेगी और जैसे २ दोनों होठ बन्द होते चलेजावेंगे तब (उ) ऐसा शब्द बनता चलाजावेगा। क्योंकि बिना ( उ )के दोनों होठ परस्पर समीपमें नहीं आसकते। फिर जब दोनों होठ समीप होते-होते जुटजावेंगे तब ( म ) ऐसा अक्षर उच्चारण होहीगा। क्योंकि बिना ( म ) के उच्चारण हुए होठ बन्द ही नहीं होसकता। इसी कारण व्याकरणवाले 'उपूपध्मानी यानामोष्ठौ' उ और म को ओष्ठ्य कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है, कि एक छोटे बच्चेके मुंहसे भी जब शब्द उच्चारण होगा तब ॐकार ही होगा। क्योंकि इसके उच्चारणमें मुख एक ही बार खुलता है और बन्द होता है इसलिये इसको एकाक्षर कहते हैं।

इसको टुकडा करनेके लिये मुखके अन्तर्गत जिह्वा, दांत, तालू मूर्द्धा इत्यादिका अंग किसीसे नहीं लगने पाता। केवल होठोंका खुलना और एक ही बार बन्द होना देखाजाता है। इसीलिये सिद्धान्त है, कि यह एक ही अक्षर है। चाहे मात्रा कितनी क्यों न हों पर अक्षर तो एक ही है इसमें सन्देह नहीं है।

फिर देखो! तानपूरा, सितार, ढोलक तथा कांसा, पीतल, फूलके पात्रोंमें चोट देकर देखो तो ओंकार प्रणव अर्थात् ( ओम् ) ऐसा शब्द उच्चारण होता है एकही बार चोट देनेसे ( ओम् ) निकल जाता है इसलिये इसे एकाक्षर कहते हैं। शंका मत करो!

दूसरी बात यह है, कि यह ओंकार प्रणव एक नाद है जो तैल-धाराके सामान सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें अनादि कालसे फैलरहा है। यदि

कोई पुरुष किसी सुन-सान मैदानमें जाकर अकेला हो चारों ओरसे वृत्तियोंको सिमेट, दोनों कानोंके रन्ध्रोंको अंगुलियोंसे रोक, एक ओर चित्त लगावे तो उसे इस ओंकार प्रणवकी ध्वनि तैलधारावत् सुननेमें आवेगी और ऐसा जान पडेगा, कि यह प्रणव नादरूप होकर दशों दिशाओंमें व्याप्त है और इसीके अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड है। श्रुतिः— " ॐ तैलधारमिवाच्छिन्नं दीर्घं घंटानिनादवत्। अवाग्जं प्रणवस्याग्रे यस्तं वेद स वेदवित्। "

अर्थ— तैलधाराके समान लगातार एक रस बिना त्रुटिके तथा बडे घण्टेके शब्दके समान गूंजता हुआ प्रणवके अग्रभागमें अर्थात् प्रणवसे ऊपर ऐसा नाद होरहा है जो "अवाग्ज" है अर्थात् किसी वर्णात्मक वाक्यसे नहीं बनता। इसी कारण इस प्रणवरूप नादको बहुमात्रिक भी कहते हैं और अमात्रिक भी कहते हैं।

इसी नादश्रवणकेलिये योगीजन गुरुशुश्रूषा कर इस अनाहतरूप अमूल्य रत्नको प्राप्त करते हैं। इस नादमें नाना प्रकारके शब्द होते हैं। जिनका वर्णन अ० ७ श्लोक ८ में किया गया है।

इसी +नादको योगीजन श्रवण करते हैं। अभ्यास बढनेके पश्चात् सर्वप्रकारकी ध्वनि नष्ट होकर इसी अनाहतध्वनिके भीतरसे ओंकार प्रणव स्वच्छरूपसे सुना जाता है।

---

+ एवम् प्रकार जब नादके भीतर ओंकार प्रणव सुनाजावे तब जानना चाहिये, कि अब भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होगी।

अब इसी प्रकार ओंकारको श्रुतियोंने अमात्रिक और बहुमात्रिक कहा है। इस प्रणवको कोई एक मात्रा, कोई दोमात्रा कोई तीन मात्रा और कोई तीनसे अधिक बहुमात्रा तक मानकर उपासना करता है। अब भिन्न २ मात्रावालोंके सिद्धान्त कहे जाते हैं।

## एक मात्रा माननेवालोंका सिद्धान्त—

वाष्कल्य ऋषिके मतावलम्बी इस प्रणवको एकमात्रिक मानते हैं। इनका यह सिद्धान्त है, कि इस एकाक्षररूप ब्रह्मके दो स्वरूप हैं सगुण और निर्गुण। पर दोनोंकी विलग-विलग उपासना नहीं करते एक ही साथ करते हैं। क्योंकि ऐसा मानते हैं, कि सगुण-स्वरूपका अधिष्ठान निर्गुण है और कोई वस्तु अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होती इसलिये ये दोनों एक ही हैं। इनमें अभेद है, क्योंकि वही निर्गुण अपनी इच्छा-शक्तिसे सगुण होजाता है। तहां ऋग्वेदका प्रमाण है, कि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" अर्थात् वह इन्द्र परमात्मा अपनी माया-शक्तिसे बहुतरूपोंको धारण करता है। इसलिये दोनों मिलकर भगवत्का निज स्वरूप है। इसी करण इस एकाक्षर ब्रह्म ओंकारको एक ही मात्रा करके उपासना करते हैं।

## दो मात्रा माननेवालोंका सिद्धान्त—

"कल्प" और काहत्य के मतावलम्बी इसे दो मात्रा मानकर उपसना करते हैं। इनका सिद्धान्त यह है, कि इस प्रणवका एक स्थूल रूप कार्य्य-मात्रा है और एक सूक्ष्मस्वरूप कारण-मात्रा है और

इन दोनोंका लक्ष्य रूप साक्षी चेतन एकही है जिसके आश्रय ये दोनों मात्राएं वर्त्तमान हैं परे वह आप अमात्रा है जिसकी उपासना वे इस द्विमात्रिक ओंकाररूप प्रणवके आश्रय करते हैं।

## ढाई मात्रावालोंका सिद्धान्त—

नारद ऋषिके मतावलम्बी जो इस प्रणवको ढाई मात्रा मानकर उपासना करते हैं उनका सिद्धान्त यह है, कि प्रथम मात्रा अकार जाग्रत जगत् अपने स्थूल शरीर सहित है और दूसरी मात्रा उकार स्वप्न रूप मकार सुषुप्तिरूप जगत् अपने कारण देह सहित है जो चैतन्य तत्त्व है और सबका ज्ञाता है पर उसका ज्ञाता कोई भी नहीं है। इसी कारण उसका नाम " अर्धमात्रा " है। एवम् प्रकार ढाई मात्रा जान इसके आश्रय भगवत्स्वरूपकी उपासना करते हैं।

## तीन मात्रावालोंका सिद्धान्त—

मौण्डल ऋषिके मतावलम्बी इसे तीन मात्रा मानकर उपासना करते हैं। इनका सिद्धान्त यह है, कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएं ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों देव और सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म और " कारणरूप " जगत्के संघातरूपका अधिष्ठान यही अ, उ, म तीन मात्रावाला प्रणव है। इसकी उपासना द्वारा परमपद लाभ होता है।

इनसे इतर सप्तसिद्धान्ती भी इसे तीनही मात्रा करके उपासना करते हैं। जैसा, कि इस " पद्धतिपत्रसे " ज्ञात होगा।

# सप्तसिद्धान्तोंके मतसे एक ओंकारकी मात्राओंके ६३ भेदोंकी पद्धति।

## १. हिरण्यगर्भसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| अग्नि (जीव) | वायु (ईश्वर) | सूर्य (आत्मा) | ये तीन मात्राएं हैं |
| ऋग्वेद | यजुर्वेद | सामवेद | ये तीन वेद हैं |
| अकार | उकार | मकार | ये तीन अक्षर हैं |

## २. कपिलदेवसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| सत्वगुण | रजोगुण | तमोगुण | ये तीन गुण हैं |
| व्यक्तज्ञान | अव्यक्तज्ञान | ज्ञेयज्ञान | ये तीन ज्ञान हैं |
| मन | बुद्धि | अहंकार | ये तीन कारण हैं |

## ३. अपान्तरतमसुनिसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| गार्हपत्याग्नि | आहवनीयाग्नि | दक्षिणाग्नि | ये तीन अग्नियां हैं |
| ब्रह्मा | विष्णु | महेश | ये तीन देवता हैं |
| धर्म्म | अर्थ | काम | ये तीन प्रयोजन हैं |

## ४. सनत्कुमारसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| भूत | भविष्यत | वर्त्तमान | ये तीन काल हैं |
| स्त्री | पुरुष | नपुंसक | ये तीन लिंग हैं |
| वहिःसन्धि | सन्ध्यासन्धि | कान्तसन्धि | ये तीन सन्धियां हैं |

### ५. ब्रह्मसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| हृदय | कण्ठ | मूर्द्धा | ये तीन स्थान हैं |
| बहिःप्रज्ञा | अन्तःप्रज्ञा | घनप्रज्ञा | ये तीन प्रज्ञा हैं |
| जाग्रत | स्वप्न | सुषुप्ति | ये तीन पद हैं |

### ६. पशुपतिसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| शान्त | घोर | मूढ | ये तीन अवस्थाएं हैं |
| अन्न | जल | सोम | ये तीन भोग्य हैं |
| अग्नि | वायु | सूर्य्य | ये तीन भोक्ता हैं |

### ७. विष्णुपञ्चरात्रसिद्धान्तक्रम—

| | | | |
|---|---|---|---|
| बल | वीर्य्य | तेज | ये तीन आत्मा हैं |
| ज्ञान | ऐश्वर्य | शक्ति | ये तीन स्वभाव हैं |
| संकर्षण | प्रद्युम्न | अनिरुद्ध | ये तीन व्यूह हैं |

### साढेतीनमात्रावालोंका सिद्धान्त—

इस ओंकारको साढेतीन मात्रा जानकर उपासना करनेवालोंमें कोई यों कहता है, कि अकार, उकार और मकाररूप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन मात्राएं हैं और अर्धमात्रारूप चैतन्य-ब्रह्म है। और कोई ऐसा कहता है, कि प्रथम मात्रा स्थूल जगत्, द्वितीय मात्रा सूक्ष्म जगत्, तृतीय मात्रा जीवकला और अर्ध मात्रा सर्वाधिष्ठान चैतन्य परमपद है जिसमें सब स्थूल, सूक्ष्म इत्यादि लय होजाते हैं।

### चारमात्रावालोंका सिद्धान्त—

पराशरादि ऋषियोंके मतावलम्बी इस प्रणवकी प्रथममात्रा अकाररूप स्थूल-विराट्पुरुष, द्वितीयमात्रा उकाररूप सूक्ष्म हिरण्यगर्भ, तृतीय मात्रा मकाररूप कारण अव्याकृत और चौथी मात्रा विन्दु चैतन्य पुरुष है ऐसा बताते और कहते हैं, कि एवम्प्रकार प्रणव की उपासना करनेसे परमपद लाभ होता है।

### साढेचारमात्रावालोंका सिद्धान्त—

वशिष्ठादि ऋषियोंके मतावलम्बी प्रथममात्रा अकार स्थूल जगत, द्वितीय मात्रा उकार सूक्ष्म जगत, तृतीय मात्रा सुषुप्ति, चतुर्थमात्रा नादरूप परम शक्ति और अर्द्धमात्राको चैतन्य पुरुष मानते हैं। ऐसी उपासनावाला परमपदको लाभ करता है।

### पांचमात्रावालोंका सिद्धान्त—

अनेक महर्षिगण प्रथम मात्रा अकारको अन्नमयकोश, द्वितीय मात्रा उकारको प्राणमयकोश, तृतीय मात्रा मकारको मनोमयकोश, चतुर्थ मात्रा अर्द्धचन्द्रको विज्ञानमयकोश, और पंचम मात्रा विन्दु (.) को आनन्दमयकोश मानते हैं। पर इन कोशोंसे रहित पंचकोशातीतको इन पाचों कोशोंका अधिष्ठान रूप भी मानते हैं। एवम्प्रकार इस प्रणवकी उपासना करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति मानते हैं।

### छः मात्रावालोंका सिद्धान्त—

इनका विचार यह है, कि अकार, उकार, मकार ये तीनों मात्राएं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएं हैं और अनाहत

चतुर्थ मात्रा अर्द्धचन्द्र है, पांचवीं मात्रा बिन्दु कारणरूप है और छठी मात्रा साक्षी चैतन्य आत्मा है । एवम्प्रकार प्रणवकी उपासना करनेसे परमपदका लाभ होता है ।

## सातमात्रावालोंका सिद्धान्त—

इस सिद्धान्तवाले यों कहते हैं, कि आकाश, वायु इत्यादि पांचों तत्व छठा अहंकार और सातवां महत्तत्व ये ही इस ओंकार प्रणवकी सात मात्राएं हैं इसका अधिष्ठान एक पूर्णपरब्रह्म जगदीश्वर है। ऐसी उपासना करनेसे मनुष्योंको भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

## आठसे लेकर बहुमात्रावालोंका सिद्धान्त—

इनका सिद्धान्त यह है, कि पांचों भूत और मन, बुद्धि, अहंकार ये आठों प्रकृतियां एकसे लेकर नौ तक नवों अंक, दशों इन्द्रियां एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य ये सब एक ॐकार ही की मात्राएं हैं । क्योंकि ये सब ओंकार ही से स्फुरण होते हैं। एवम्प्रकार इस बहुमात्रिक ओंकार द्वारा इसके वाच्य परब्रह्म जगदीश्वरकी उपासना करनी चाहिये । ऐसी उपासना करनेवाला भगवत्स्वरूपमें लय होजाता है ।

अब श्रुतिके प्रमाणसे यह दिखलाया जाता है, कि मरणकाल में किस मात्राकी उपासनासे क्या लाभ होता है ?

"श्रु०— ॐ प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते । स राजा भारते वर्षे सार्वभौमः प्रजायते ॥ द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् । विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिकाम्

पंचम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते । उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥ षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् । अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥ नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् । एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥ "( नादविंदूपनिषद् मंत्र १२, १३, १४, १५, १६ );

अर्थ— प्रथम मात्रामें यदि प्राण छूटजावे तो मरनेवाला भारतवर्षमें सार्वभौम नरेश होवे, द्वितीय मात्रामें महाबलवान् पराक्रमी और तेजस्वी यक्ष होवे, तीसरी मात्रामें विद्याधर होवे, चौथी मात्रामें गन्धर्व, पांचवीं मात्रामें सर्वदेवोंके संग निवास कर चन्द्रलोकको प्राप्त हो, छठवीं मात्रामें इन्द्रदेवके लोकमें पहुंच इन्द्रके साथ सायुज्य होजावे, सातवीं मात्रामें विष्णुपदको प्राप्त होवे, आंठवीं मात्रामें रुद्रपदको और पशुपति पदको प्राप्त होवे, नवींमात्रामें महर्लोक और दशवीं मात्रामें जनलोकको प्राप्त होवे, ग्यारहवीं मात्रामें तपोलोकको प्राप्त होवे, बारहवीं मात्रामें तथा इससे अधिक मात्रामें साक्षात् परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होजावे ।

अब इन मात्राओंके नाम लिखेजाते हैं—

" घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथाऽपरा । पतंगिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥ पंचमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्रयभिधीयते। सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥ नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता । एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा । " ( नादवि० मं० ९, १०, ११ )

अर्थ— प्रथम मात्रा घोषिणी, दूसरी विद्या माता, तीसरी पतंगी, चौथी वायुवेगिनी, पांचवीं नामधेया, छठवीं ऐन्द्री, सातवीं वैष्णवी, आठवीं शांकरी, नवीं महती, दशवीं धृति, ग्यारहवीं नारी और बारहवीं ब्राह्मीके नामसे पुकारीजाती है।

प्रश्न— इस प्रणवकी मात्राओंके नाम तो कथन कियेगये पर सब मात्राओंके एकसंग होनेसे जो यह एकाक्षर ओंकार प्रणव बनाहुआ है इसके भी कुछ अन्य नाम हैं वा नहीं ?

उत्तर— इस ओंकारके भी दस भिन्न-भिन्न नाम हैं सो कहते हैं—

"ओंकारं प्रणवं चैव सर्वव्यापिनमेव च। अनन्तं च तथा-तारं शुक्लं वैद्युतमेव च ॥ तुर्यं हंस परब्रह्म इति नामानि-जानते" ( यह अर्द्ध श्लोक है )

अर्थ— १. ओंकार, २. प्रणव, ३. सर्वव्यापी, ४. अनन्त, ५. तार, ६. शुक्ल, ७. विद्युत, ८. तुरीय, ९. हंस, और १० परब्रह्म। ओंकारके ये दश नाम हैं—

## भिन्न २ उपनिषदोंसे ओंकारकी मीमांसा।

प्रिय पाठकगणोंको ज्ञात हुआ होगा, कि इस पुस्तकमें माण्डूक्योपनिषद् द्वारा इस ओंकारका महत्त्व पूर्वमें वर्णन होआया है इसलिये माण्डूक्यको छोड और कई दूसरे उपनिषदोंमें जो ओंकारके महत्त्व पाये जाते हैं इस स्थानमें तिनका भी विचार किया जाता है।

प्रथम कठवल्लीउपनिषद्गतप्रणवविचार—

उद्दालक ऋषिका पुत्र नचिकेता अपने आचार्य्य ( मृत्यु ) (यमराज) से आत्मविचारके निमित्त प्रश्न करता है, कि हे आचार्य्य! वह कौनसा सुलभ साधन है जिसके द्वारा यह जीव भवसागरसे पार हो उसके घोर दुःखोंसे मुक्त होकर शीघ्र परमपदको लाभ करे ? । यम उत्तर देते हैं, कि हे शिष्य ! श्रवणकर—

"ॐ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यञ्चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरम्परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥" ( कठो० अ० १ व० २ श्रु० १५, १६ )

अर्थ— ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ये चारों वेद जिस पदको एक मतसे मोक्षका साधन बताते हैं और जिसकी प्राप्तिके अर्थ सर्व विद्वान् तपका विचार एकाग्रचित्त होकर करते हैं अथवा सर्वप्रकारके तप करनेवाले तपस्वी जिसकी महिमा वर्णन करते हैं और जिसकी इच्छासे गुरुकुलमें निवासकर ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं सो हे नचिकेतः ! तेरेलिये मैं संक्षिप्त करके कहता हूं, कि वह पद ओंकारही है। फिर वही ओंकार एकाक्षरब्रह्म है और परम श्रेष्ठ है । इस कारण इस अक्षरको जानकर जो जिस तत्त्वकी इच्छा करता है वह अवश्य उसी तत्त्वको प्राप्त होजाता है ।

प्रश्नोपनिषद्गतप्रणवविचार—

सत्यकाम नामके ऋषिने अपने आचार्य्य पिप्पलाद ऋषिसे जाकर पूछा, कि हे गुरो !

"ॐ स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥ तस्मै स होवाच।"
( प्रश्नो० प्रश्न ५ श्रु० १ )

अर्थ— जो पुरुष निश्चय करके अपने अन्तकालतक अर्थात् प्राणप्रयान होने तक इन्द्रियोंको वशीभूत कियेहुए एक ओंकार ही का ध्यान करता है वह स्वर्गादि अनेक दिव्य लोकोंसे किस लोकको प्राप्त करता है? कृपा कर कहो! इस प्रश्नको श्रवण कर पिप्पलाद उत्तर देते हैं, कि हे शिष्य! "ॐ एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति"(प्रश्नो० ५ श्रु० २ )

अर्थ– यह जो पर और अपर ब्रह्म है सो ओंकार ही है। अर्थात् हे सत्यकाम! यह ओंकार पर और अपर दोनों प्रकारका ब्रह्म सिद्ध है। फिर जो प्राणी दोनों रूप जानकर दोनोंमेंसे किसी एककी उपासना करता है वह अपनी उपासनाके अनुसार ही गति पाता है। अर्थात् जो प्राणी सर्वप्रकार वृत्तियोंको रोक ओंकारकी मात्राओंको एक दूसरेमें लय करताहुआ अर्थात् अकारको उकारमें, उकारको मकारमें फिर मकारको शुद्ध परब्रह्म चैतन्यमें लय करताहुआ निर्विकल्प समाधिमें स्थित होता है वह अभेदताके कारण परब्रह्मको प्राप्त हो ब्रह्मरूप ही होजाता है।

मुण्डकोपनिषद्गतप्रणवविचार—

"ओं प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" ( मु० २ श्रु० ४ )

अर्थ—प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है अर्थात् बेधने योग्य पदार्थ वह परब्रह्म है। इस कारण इस आत्मारूप बाणको ओंकाररूप धनुषपर चढाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यका वेधन करे तथा अप्रमत्त हो अर्थात् एकाग्रचित्त हो अपने लक्ष्य ब्रह्मको बेधताहुआ तन्मय होजावे अर्थात् जिस प्रकार शर अपने बेधेहुए पदार्थके साथ मिलजाता है ऐसे यह आत्मरूप बाण अपने बंधेहुए पदार्थ परब्रह्मरूपमें जा मिलता है।

शंका— बाण अपने लक्ष्यमें मिलजाता है किन्तु विजातीय होनेसे अर्थात् लक्ष्यके समान आकारवाला न होनेसे तन्मय नहीं होता। फिर यहां तन्मय होना क्यों कहा?

समाधान— 'शरवत्तन्मयो भवेत्' यहां शरका अर्थ जल भी है। इसलिये जिस प्रकार बर्फका बाण बनाकर धनुष द्वारा किसी नदीमें पानीकी ओर छोडे तो वह बर्फका बाण पानीमें जाकर स्वजाति होनेके कारण तन्मय होजाता है। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनोंके स्वजाति होनेके कारण आत्मरूप बर्फका बाण परमात्मरूप जल में तन्मय होजावेगा। शंका मत करो!

छान्दोग्योपनिषद्गतप्रणवविचार—

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥" ( छां० अ० १ खं० १ श्रु० १ )

अर्थ—ॐ यह इतना अक्षर जो उद्गीथ है उसे उपासना करो!

फिर सर्ववेदोंके गानेवाले ॐकारका गान करते हैं और जो कुछ श्रेष्ठपना, महत्त्व, विभूति इत्यादि फल हैं सब ॐकारके उपव्याख्यान हैं इसलिये औषधिका रस अर्थात् सार यह पुरुष-शरीर है और " पुरुषस्य वाग्रस: " शरीररूप पुरुषका वचन रस है, फिर "वाचऋग्रस: " वचनकी ऋचा अर्थात वेदका मंत्र रस है, फिर " ऋच: साम " ऋचाओंका साम रस है। " वेदानां सामवेदोऽहम् " गीताके वचनसे भी सिद्ध होता है, फिर " साम्न उद्गीथो रस: " सामवेदका यह उद्गीथ अर्थात ॐकार रस है। इस कारण यह सिद्ध हुआ, कि यह ॐकार सम्पूर्ण जगतके चराचरका सारतर है अर्थात् जैसे इक्षुदण्डका सार इक्षुरस, तिसका सार गुड, तिसका सार राब, तिसका शक्कर, तिसका चीनी, चीनीका मिस्री, मिस्रीका कन्द, और कन्दका ओला सार है। इसी प्रकार ॐकार सम्पूर्ण जगत्‌रूप इक्षुदण्डका सारतर ओलेके समान है उसमें जो स्वाद है वही परमात्मा है।

अतएव सर्वप्राणियोंको इस ओंकारकी उपासना करनी अति ही आवश्यक है। फिर यह कैसा है? कि 'परार्द्ध: ' अर्थात् परमात्माकी उपासना करनेका स्थान है और अष्टम है अर्थात् पृथिव्यादि रसोंकी संख्यासे आठवां है तात्पर्य्य यह है, कि भूतोंका रस पृथिवी १, तिसका जल २, तिसकी औषधि ३, तिसका शरीर ४, तिसका वचन ५, वचनकी ऋचा ६, ऋचाका " साम " ७ और 'सामका' ओंकार ( उद्गीथ ) ८ हैं। इसी कारण इसको रसतम कहते हैं चारों आश्रमियोंको इसके द्वारा मोक्ष साधन करना नितान्त आवश्यक है।

तैत्तिरियोपनिषद्गत प्रणवविचार—

'ओमिति ब्रह्म। ओमितीद॑ँसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिहस्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओं॑ँशोमिति शस्त्राणि श॑ँसन्ति ओमित्यध्वर्युःप्रतिगरं प्रतिगृणाति ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ।"

(तैति० व० १ अनु० ८ श्रु० १)

अर्थ— ॐ यह ब्रह्म है, फिर यह सर्व है अर्थात् जो कुछ चराचर जगत है सब ॐ ही है फिर ॐ यह अनुकरण है अर्थात् अनुकरण कहिये रक्षा और सहायताको सो यह ओंकार सम्पूर्ण जगत्की रक्षा और सहायता करनेवाला है। अथवा अनुकरण कहिये जिसकी आज्ञा वा आचरणके अनुसार दूसरे लोग करें सो ओंकारकी आज्ञानुसार सब लोग कार्य्य कररहे हैं। अथवा जिसके पश्चात् सर्व प्रकारके कार्य्य किये जावें सो प्रसिद्ध है, कि जितने कार्य्य किये जाते हैं सबकी आदिमें ओंकार कहलेनेकी आज्ञा है अर्थात् बोलना, करना, आना, जाना, लेना, देना, हवन, व्रत, स्नान, पूजा इत्यादि जितने कार्य्य हैं सबके पहले ओंकारका उच्चारण करलेना उचित है। इस कारण यह ओंकार अनुकृति है ( हस्म वा ) प्रसिद्धिके निमित्त आता है। फिर "अपि ओश्रावयेति आश्रावयन्ति" अर्थात् जब जिज्ञासु कहता है, कि कुछ सुनाओ ! तब कहने वाला प्रथम ओंकारहीको श्रवण कराता है। फिर "ओमति सामानि गायन्ति" साम वेदके गाने-

वाले इस ओंकारहीका गान करते हैं अर्थात् जब सामवेद गानेवाला गान करने लगता है तब जैसे किसी गान गानेवालेके साथ एक दूसरा पुरुष सुरका भरनेवाला " आऊ-आऊ " सुरको अलापता रहता है उसी प्रकार सामवेदगानेवालेके साथ साथ एक दूसरा ब्राह्मण ओं उच्चारण करता रहता है अर्थात् ओम्को प्रतिस्वर कहता रहता है। फिर " ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति " अर्थात् ऋग्वेदके गानेवाले ऋग्वेदके शास्त्रों अर्थात् मन्त्रोंको इसी ओंकारके साथ वर्णन करते रहते हैं। फिर " ओमिति अध्वर्य्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति " अध्वर्य्यु यज्ञमें भिन्न भिन्न कर्मोंका करनेवाला प्रतिकर्मके साथ इस ओंकारका गान करता रहता है। फिर " ओमिति ब्रह्मा प्रसौति " यज्ञमें जो ब्राह्मण " ब्रह्मा " बनकरे यज्ञके दक्षिण भागमें बैठा हुआ यज्ञकी रक्षा करता है वह भी ओंकारहीका श्रवण कराता रहता है। फिर " ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति " अग्निहोत्री जो हवनकरनेवाला है वह भी इस ओंकारहीकी आज्ञा लेकर हवन करता है अर्थात् जब होता कहता है, कि मैं अब हवन आरंभ करता हूं तब उसके समीपस्थ सब ब्राह्मणोंको 'ॐ' ऐसा पद कहना पडता है। तब वह हवन करने लगता है। फिर " ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह " अर्थात् अध्ययनके समय ब्राह्मण ॐ इतने पदको कहलेता है। फिर " ब्रह्मोपाप्नवानीति " जो प्राणी यह इच्छा करता है, कि ब्रह्मको प्राप्त होऊं तो वह भी ओंकारहीका जप करता है फिर " ब्रह्मैवोपाप्नोति " ब्रह्मको प्राप्त होनेवाला इस ओंकार हीके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है, कि जो कुछ क्रियाएं देना, लेना, खाना, पीना, यात्रा,

स्नान, व्रत इत्यादि हैं इनको जो प्राणी ओंकार कहकर आरम्भ करता है वह सर्वप्रकारकी सिद्धियोंका लाभ करता है। इस कारण मनुष्योंको सदा इस ओंकार ही की उपासना करना चाहिये।

अब इस ओंकारके उच्चारण करनेकी भिन्न-भिन्न रीतियां वर्णन कीजाती हैं।

जिस साधकको जौनसा साधन सहज जानपडे वह उसी रीतिके अनुसार इस प्रणवका जप करे।

### ओंकार जपनेकी पहिली रीति—

जिह्वाके अग्रभागको थोडा टेढा करे तालूसे लगा दांतोंसे विलग किये ओंकारका मानसिकजप करता जावे।

### दूसरी रीति—

मरणसमय चित्तवृत्ति रोक, विद्या और अविद्या दोनोंके कार्यों को छोड मुहूर्त्तमात्र स्थिर हो अपने श्वासपर मन लगावे। जैसे-जैसे श्वास ऊपर-नीचे आवे-जावे मनको उसकी चालपर टिकाये रहे। फिर ऊपर चढनेके समय अ, रुकजानेके समय ऊ और नीचे उतरने के समय म अक्षरको श्वासकी चालके साथ-साथ मन ही मन उच्चारण करता जावे। अर्थात् श्वासप्रतिश्वास ओंकारका जप करे।

### तीसरी रीति—

मूलद्वारको आकुंचनकर अर्थात् " मूलबन्ध " लगा मूलद्वारसे उठतीहुई वायुके साथ ओंकारका उच्चारण पूर्ण-स्वरसे अर्थात् दीर्घ स्वरसे करे। जब दम फूलनेके समीप आजावे तो मं कहता हुआ

होठोंको बन्दकर शब्दको थोडा मन्द करते हुए अमात्रा ( ँ ) की चोट स्पष्ट शब्दकेसाथ ब्रह्मरन्ध्रतक लगनेदेवे। अर्थात् जिस प्रकार बडे घराटेका शब्द प्रथम उच्चस्वरसे उच्चारण होताहुआ पश्चात् धीरे-धीरे मन्द होताहुआ आकाशमें लय होजाता है। इसी प्रकार ( ओ ) का उच्चारण दीर्घ स्वरसे करताहुआ ( म ) को मन्दस्वरसे समाप्त करता हुआ क्रमशः ब्रह्मरन्ध्रमें लय करदेवे। ( गुरुद्वारा जानना चाहिये )

## चौथी रीति—

चारों ओरसे मेढ्रको बांधकर अर्थात् चारों ओरसे शरीरको सिमेट-कर वायुकी चालको रोकेहुए दोनों मुष्टिकाओंको दृढ बांधेहुए श्वासका अवरोध कियेहुए भीतरही भीतरे बिना शब्द उच्चारण किये ( ओऽम् ) को जपता हुआ इतनी देरतक ठहरे जबतक दम न फूले।

## पांचवीं रीति—

चतुर्दल पद्मसे लेकर सहस्रदलपर्य्यन्त प्रत्येक यन्त्रोंका ध्यान करता हुआ ओंकारका मानसिकजप करे। जिसकी विधि यों है, कि निचले चक्रसे ( ओ ) आरंभकरे ऊपरवाले चक्रमें ( ओम् ) कह-कर समाप्त करे। एवम् प्रकार प्रत्येक चक्र होता हुआ "शून्यचक्र" ( सहस्रदलपद्म ) तक पहुंच जावे।

## छठवीं रीति—

केवल रेचकमें श्वासके साथ ओंकारका जप करना अर्थात् स्थिर हो सर्वप्रकारकी चिन्ताओंको दूरकर श्वासको बाहर निकालता हुआ ओंकारकी मानसिक-ध्वनि तबतक करता रहे जबतक नाभि पीठकी ओर सिकुडती हुई मेरुदंडमें सटजावे। फिर धीरे-धीरे नाभिको उठा

अपने स्थानतक ला वैसा ही करे अर्थात् +उड्डियानबन्धसे ओंकारका जप करता रहे ।

## सातवीं रीति–

किसी सामनेकी दीवालपर ॐ लिख छोडे अथवा ॐ का चित्र यदि मिलजावे तो सामने दीवालपर लटका देवे और उसकी विन्दुपर आंखोंको लगा बिना पलकोंके गिराये एकटक उतनी देर तक देखता जावे जबतक आंखोंमें आंसू न भरआवे और इतनी देर जो श्वासोच्छ्वास होवे अर्थात् श्वास भीतर-बाहर होवे उस प्रत्येक श्वासकी चालके साथ ओंकारका जप करता जावे ।

## आठवीं रीति–

अनाहत-ध्वनि श्रवण करनेवाले यन्त्रसे और यदि यन्त्र न मिले तो केवल हाथोंकी अंगुलियोंसे दोनों कानोंके रन्ध्रोंको बन्दकरे -बल पूर्वक दबायेहुए सर्व प्रकारकी वृत्तियोंको रोक एकाग्र-चित्तसे दाहिने कानकी ओर अनाहत-ध्वनि श्रवण करे जब दोचार प्रकारके शब्द सुनपडें तब उन्हीं शब्दोंमें ओंकार ध्वनिका ध्यान करे । एवम्-प्रकार ध्यान करते-करते थोडे दिनोंके पश्चात् जब ओंकार आपसे-आप स्पष्ट रूपसे सुनपडे तब अपनी चित्तवृत्तिको उसी ओंकारकी ओर लगाये रहे । ऐसा करनेसे तुरीय अवस्थाकी प्राप्ति होगी और ब्रह्म-

---

+ उड्डियानबन्ध— देखो प्राणायामविधिः ।

नन्द लाभ होने लगजावेगा । इसीको शून्यसमाधि, राजयोग और अजपाजप भी कहते हैं ।

नवीं रीति—

रुद्राक्ष, स्फटिक, कमलगट्टा तथा तुलसी इत्यादिकी मालापर जो कमसेकम १०८ अथवा ५७ मणिकावाली हो स्पष्ट रूपसे ओंकार का "वाचिक जप" अथवा 'उपांशु' अर्थात् हौले २ जप अथवा 'मानसिक' जप करता जावे । यदि माला न मिले तो हाथकी अंगुलियों ही पर जप करना चाहिये । अंगुलियोंपर जपनेकी रीति गुरुद्वारा जानलेना किन्तु १०८से अधिक अंगुलियोंपर जपनेकी आज्ञा नहीं है । यह रीति सर्व साधारण बच्चोंके लिये भी विदित है ।

इन्हीं अनेक रीतियोंमें जिस रीतिका अभ्यास किया हो उसी रीतिसे "व्याहरन्" ओंकारका उच्चारण करताहुआ फिर "मामनुस्मरन्" भगवान् कहते हैं, कि मुझको स्मरण करताहुआ " यः प्रयाति त्यजन्देहम् " जो प्राणी देहको छोडताहुआ अर्थात् मृत्युको प्राप्त होताहुआ ऊर्ध्वनाडी द्वारा प्राणको ऊपर खींचकर शरीरसे बाहर निकालता है अर्थात् प्राणको ब्रह्मरन्ध्र होकर निकाल लेजाता है 'स याति परमां गतिम्' वही प्राणी अवश्य परम गतिको प्राप्त होता है ।

ये रीतियां जो भगवान्ने इन दो श्लोकोंमें कथन की हैं तिनका अनुभव बिना गुरु नहीं होसक्ता। इसलिये गुरुकी शरणमें निवास कर

उनकी सेवा द्वारा इन रीतियोंको अवश्य सीखे। क्योंकि प्राण निकलने के समय साधारण प्राणियोंके ऊपर सहस्रों विच्छुओंके डंक चढते हैं। इसलिये इस दारुण दुःखसे बचनेकेलिये मृत्युके समय भगवान्के उपदेशानुसार उक्त रीतिओंमें किसी एक रीतिको सुलभ जान ओंकारका जप करता रहे।

अनेक ग्रन्थोंसे भी यही सिद्ध होता, हैकि योगी ही नहीं वरु गृहस्थाश्रमी, नरेश इत्यादि गुरु द्वारा इसी क्रियाको सीख अन्तकाल में इसी रीतिसे शरीरको छोड़ा करते थे। प्रमाण—

"सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः।
नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरः कण्ठशीर्षणि॥
उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निस्पृहः।
वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत्॥"

अर्थ— महाराज पृथुराज ने अपनी एड़ीसे गुदा (मूलद्वार) को दाबकरके प्राणवायुको मूलाधारसे अर्थात् चतुर्दल-चक्रसे ऊपरको नाभि (दशदलचक्र) में तहांसे क्रमशः हृदय-कमल (द्वादशदलचक्र) में, तहांसे उठाकर उरमें, फिर उरसे खींचकर कण्ठस्थान (षोड़शदल-चक्र) में, तहांसे भ्रमध्य (दोनों भृकुटियोंके मध्य द्विदल-चक्र) में स्थापित कर फिर उस प्राणको ऊपरकी ओर खींच ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापन किया और संसारके विषयभोगोंसे रहित होकर शरीरकी वायुको महाभूतरूप वायुमें लय करके शरीरके कठिन भाग को पृथिवीमें और तेजको तेजमें लय करदिया।

इसी प्रकार भक्तियुक्त हो योगवल द्वारा प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापन करे मरनेवाला अपनेको भगवत्स्वरूपमें लय करदेवे ॥१२, १३॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो प्राणी इस प्रकार प्राणको मूर्द्धामें लेजानेकी रीति तथा प्रणवके उच्चारण की भी कुछ रीति नहीं जानता है तो फिर मरणके समय ऐसे प्राणीकी क्या दशा होगी ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (अर्जुन !) यः, अनन्यचेताः (नास्ति मदन्यविषये चेतो यस्य सः) सततम् (सर्वदा । निरन्तरम्) नित्यशः (यावज्जीवम् । प्रतिदिनम्) माम् (परमेश्वरम्) स्मरति तस्य, नित्ययुक्तस्य (सदा समाहितचितस्य) योगिनः, अहम् (वासुदेवः) सुलभः (सुखेन लभ्यः) ॥ १४ ॥

पदार्थः— [ हे ] ( पार्थ ! ) पृथाका पुत्र अर्जुन ! जो प्राणी ( अनन्यचेताः ) मेरे स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयको चित्तमें नहीं लाता और ( सततम् ) सदा ( नित्यशः ) आयुष्पर्य्यन्त प्रतिदिन ( माम् ) मुझ परमेश्वरको ( स्मरति ) स्मरण करता है ( तस्य, नित्ययुक्तस्य ) ऐसे सदा समाहितचित्त ( योगिनः ) योगीकेलिये ( अहम् ) मैं ( सुलभः ) अत्यन्त सुलभ हूं ।

अर्थात् मरणकालके समय ऐसे भक्तको मैं बडी सुलभतासे प्राप्त होजाता हूं ॥ १४ ॥

**भावार्थः—** श्री गोविन्दने जो इससे पूर्व श्लोकोंमें मरणसमय योगवल द्वारा प्राणको हृदय और भ्रूमध्य होतेहुए मूर्द्धा अर्थात सहस्रदल-कमलकी कर्णिकाकी ओर खींच लेजानेकी तथा प्रणवके उच्चारण कर-नेकी रीतियां बतायीं वे अर्जुनको कुछ कठिन जानपडीं । और मरण-समय ऐसा दृढ होकर ऐसी कठिन क्रियाकी पूर्ति सर्वसाधारणके लिये दुस्साध्य जान अर्जुनने भगवानसे साधारण प्राणियोंके लिये सुलभ रीति पूछी तिसके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि अर्जुन ! [ **अन-न्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः** ] जो प्राणी सदा सर्वकालमें अनन्यचेतस हैं अर्थात् मेरे स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयको तनक भी मनमें नहीं लाता जहां जिस समय जिस वस्तुकी ओर अवलोकन करता है तहां तिस समय तिसी वस्तुमें मुझ वासुदेव ही को देखता है, सुनता है, घ्राणद्वारा ग्रहण करता है तथा मुझहीको स्मरण करता है अर्थात जिह्वा द्वारा मेरे ही गुणोंका गान करता रहता है ।

प्रमाण—" ॐ पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म " इस मुण्डककी श्रुतिके वचनानुसार आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर, नीचे सब ओर मेरे ही स्वरूप को देखता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अपने जीवन पर्यन्त प्रतिदिन सोते जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते, खाते, पीते प्रतिक्षण मेरेमें मन

लगाये रहता है। अन्य किसी भी क्रियाकी कुछ भी परवा नहीं करता। यम, नियम, धर्म, योग, जप, तप, सब मुझ ही को जानता है। "त्वमेव माता च पिता त्वमेव ........" इस वचनानुसार माता, पिता, बन्धु और सखा जो कुछ जानता है मुझ ही को जानता है। ऐसा जो "अनन्यचेतस" प्राणी सदा मुझ ही को स्मरण करने वाला है [ तस्याऽहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! ऐसे नित्य समाहितचित्त प्रेमभक्तियुक्त योगीके लिये मैं अत्यन्त सुलभ हूं अर्थात् ऐसे मेरेमें आसक्त प्राणीको मरणके समय अन्य किसी क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि ऐसे भक्ति-योगयुक्त प्राणीके सम्मुख मृत्युके समय मैं स्वयम् उपस्थित होजाता हूं और बड़ी सुलभतासे शरीर छूटते-छूटते अपने स्वरूपमें मिलालेता हूं यह मेरी प्रतिज्ञा है, यही मेरी विरुदावली है और यही मेरा प्रण है।

इसलिये हे अर्जुन ! तू किसी प्रकारका भय मत कर तू मेरा अनन्य और दृढ-व्रत भक्त है। अतएव तुझको मरनेके समय किसी प्रकारका भय नहीं है। मैं तुझको प्राणवियोग-कालमें हाथोंहाथ उठाकर अपनी गोदमें बिठा लूंगा। तुझे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होगा।

पाठकोंको स्मरण रहे, कि इस श्लोकका तात्पर्य्यभी ऐसा नहीं है, कि जो चाहे उसीको भगवान सुलभ होजावेगा। इसलिये जो चाहे प्राणायामादि क्रियाओंको छोड़-छाड़ चुप बैठ जावे। यदि ऐसा हुआ तो महा अनर्थकी सम्प्राप्ति होती जावेगी। क्योंकि न तो इधर कुछ

कर्म करसका और न उधर भगवत्स्वरूपमें दृढ भक्ति प्राप्त हुई । दोनों ओरसे गया " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः " इधर-उधर दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ । क्योंकि भक्तिमें भी जिसे न दृढ-भूमि प्राप्त हुई न उधर प्राणको भ्रूमध्य होकर मूर्द्धा-स्थानमें लेजानेकी रीति आयी और न ओंकार प्रणवका उच्चारण जाना । ऐसोंके लिये भगवानका यह श्लोक नहीं है ।

क्योंकि भक्तियोगमें भी अष्टांगयोगकेही समान आदर और सत्कार पूर्वक 'दृढभूमि' की प्राप्तिकी आवश्यकता है । तात्पर्य यह है, कि समाधिकी भी सिद्धि " ईश्वरप्रणिधान " सेही कही गयी है । योग-सूत्रकार कहते हैं— " समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् " ( पतं० पा० २सूत्र ४५ ) अर्थात् ईश्वरमें सर्वभाव समर्पण करनेसे योगी बडी सुगमताके साथ समाधिकी सिद्धि प्राप्त करलेता है तो फिर भक्ति-योगका तो कहना ही क्या है ? इसलिये मनुष्यको चाहिये, कि समाहितचित्त होकर उस वासुदेवकी स्मृति निरन्तर करताहुआ अपने लक्ष्यसे कदापि नहीं टले ।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसे नित्ययुक्त भक्तको मैं सदा सुलभ हूँ । फिर जो मेरा अत्यन्त प्यारा होचुका है क्या मरणकालमें मैं उसे भूल जाऊँगा ? कदापि नहीं हे पार्थ ! मैं तो हठात् मृत्युके समय उसे सुलभ और सुगम होजाऊँगा ॥ १४ ॥

इतना सुन अर्जुन ने पूछा भगवन् ! मरणकालमें योगबल द्वारा सहस्रदलकी कर्णिकामें प्रवेश कर शरीरको छोडनेवाले तथा

निरन्तर आपको स्मरण कर भक्तियोगयुक्त एवम सुलभरीतिसे आप को प्राप्त होनेवाले प्राणियोंमें से कोई इस संसारमें पुनः लौटता है वा नहीं ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
॥ १५ ॥

पदच्छेदः— परमाम् ( प्रकृष्टाम् । उत्तमाम । ) संसिद्धिम् ( मोक्षाख्याम पदवीम ) गताः ( प्राप्ताः ) महात्मानः ( विशुद्धचित्ताः । परमेश्वरे समुत्पन्नसम्यग्दर्शनाः यतयः ) माम् ( वासुदेवम् ) उपेत्य ( प्राप्य ) पुनः, दुःखालयम् ( गर्भवासयोनिनिर्गमनाध्यात्मिकादिदुखानि आलीयन्ते यस्मिन् तम ) अशाश्वतम् ( अनवस्थितम् ) जन्म, न, आप्नुवन्ति ( लभन्ते ) ॥ १५ ॥

पदार्थः— ( परमाम् ) अत्यन्त उत्कृष्ट ( संसिद्धिम् ) सिद्धि अर्थात् जीवन्मुक्तिको ( गताः ) प्राप्तहुए ( महात्मानः ) विशुद्ध-चित्त भगवत्स्वरूपानुरागी महापुरुष ( माम् ) मुझ वासुदेव सर्वेश्वर को ( उपेत्य ) प्राप्तकर ( पुनः ) फिर ( दुःखालयम् ) नाना प्रकारके दुःखोंसे भरेहुए ( तथा ) ( अशाश्वतम् ) चंचल और अव्यवस्थित ( जन्म ) जन्मको अर्थात मातृगर्भको ( न आप्नुवन्ति ) नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

**भावार्थः**— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि ऊपर कथन कीहुई रीतियोंसे मरनेवाले प्राणी फिर जन्म पाते हैं वा नहीं ? इसके उत्तरमें श्री आनन्दकन्द कहते हैं, कि [ **महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः** ] जो पुरुष शुद्धान्तःकरण होकर विषयोंसे रहित अनन्यचेता हैं तथा भगवत्स्वरूपानुरागी हैं और परमसिद्धि अर्थात् जीवन्मुक्ति लाभ कियेहुए हैं वे [ **मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति** ] मेरे स्वरूपमें सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्तियोंको प्राप्तकर अर्थात् मेराही स्वरूप-होकर मेरे समीप निवासकर मेरेमें मिलजानेके पश्चात् फिर इस निःसार संसारागारमें लौटकर जन्म नहीं पाते। क्योंकि मेरे स्वरूपमें प्रवेश करनेसे फिर उनको किसी प्रकारका दुःख होना संभव नहीं है और संसारमें जन्म लेना दुःखका घर है, अतएव ये फिर लौटकर इस घोर दुःखसागरमें डूबने नहीं आते।

इस दुःखागार स्वप्नसार संसारका जन्म कैसे—कैसे दुस्सह दुःखोंसे भराहुआ है ? पाठकोंके कल्याणार्थ दिखलायाजाता है।

प्रथम गर्भवासके ही दुःखोंको विचारकर देखना चाहिये, कि कितने कठोर और दारुण हैं ? तहां गर्भोपनिषद्की श्रुति यों कहती है—

श्रुतिः— " **ॐ रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थिन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्त्तते गर्भः।** " ( गर्भो० श्रु० ३ )

अर्थ— स्त्री पुरुष जो कुछ भोजन करते हैं उससे रस तयार होता है, रससे शोणित ( खून ) शोणितसे मांस, मांससे मेद

( चर्बी ) मेदसे स्नायु, ( नाडीसमूह ) स्नायुओंसे अस्थि ( हाड ) अस्थिसे मज्जा, मज्जासे पुरुषमें शुक्र और स्त्रीमें शोणित ( रज ) इनही शुक्र शोणित अर्थात रज और वीर्यके मेलसे गर्भ तयार होता है। तहां फिर श्रुति कहती है, कि " ॐ स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाऽथ जायते । "

( छान्दो० अ० ५ खं० ६ श्रु० १ )

अर्थ— शुक्र शोणितके मेलसे जो गर्भ तयार होता है उसमें जो प्राणी प्रवेशकर मांसका "पिण्ड" बनजाता है सो चारों ओरसे "उल्व" जो गर्भकी झिल्ली, तिससे घिरहुआ दश वा नव मासतक अर्थात् नियमित कालतक गर्भस्थानमें शयन करनेके पश्चात् उत्पन्न होता है।

एवम्प्रकार गर्भमें जब नवां महीना होता है तब श्रुति कहती है, कि " ॐ अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति । पूर्वजातिं स्मरति । शुभाशुभं च कर्म विन्दति । ( गर्भो० श्रु० ३ )

अर्थ— नवें महीनेमें जब गर्भ सर्व लक्षणोंसे युक्त होजाता है तब जीव अपने पूर्वजन्मका स्मरण करता है और उसे ऐसा ज्ञान और दिव्यदृष्टि उत्पन्न होजाती है, कि अपने पूर्वजन्मोंके शुभ और अशुभ कर्मोंको जानजाता है तब भगवानसे अपना दुःख कहता-हुआ यों प्रार्थना करता है, कि " ॐ पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनःपुनः । यन्मया

परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् । एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः ॥ अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥ यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् । अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् " ॥ ( गर्भो० श्रुति ४ )

अर्थ— यह जीव जब गर्भमें दिव्यदृष्टि पाता है तब भगवान् से प्रार्थना करता है, कि हे देव! मैं न जाने सहस्रों प्रकारके गर्भोंमें निवास करचुका हूं। कभी शूकरी, कभी कूकरी, कभी गाय, कभी मनुष्य इत्यादिके गर्भोंमें निवास करताहुआ नाना प्रकारके स्तनोंका पान करचुका हूं और न जाने कितने बार जन्म लेकर मरचुका हूं पर अहो ! यह कैसी आश्चर्य और विस्मयकी बार्त्ता है, कि इस असाध्य दुःखके टालनेका कोई उपाय मेरे देखनेमें नहीं आता है। अहा! हे भगवन्! मैंने जो अपने कुटुम्बियोंके लिये नाना प्रकारके शुभ अशुभ कर्मोंका सम्पादन किया सो आज इस गर्भमें अकेला मैं ही उन कर्मफलोंको भोगरहा हूं। हा! वे हमारे कुटुम्बी कहां गये, मैं तो इस समय उनमेंसे एकको भी नहीं पाता हूं। हे भगवन्! यदि मैं किसी प्रकार इस योनिसे निकलूं तो बार-बार यही दृढ प्रतिज्ञा करता हूं, कि मैं तुझ सर्वेश्वर महेश्वरकी शरण अवश्य प्राप्त होऊंगा जो सर्व प्रकारके अशुभ-कर्मोंको नाश कर मुक्तिका देनेवाला है।

मेरे पाठक वृन्द विचार करेंगे, कि गर्भका दुःख कैसा असह्य है। इसी कारण पतितपावन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने जन्मको दुःख-

लय कहा। इससे अतिरिक्त जीवन पर्यन्त प्राणियोंको आध्यात्मिक आधिदैविक इत्यादि अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं। जिनकी गणना कहां तक कीजासकती है सबोंपर विदित है।

अब भगवान कहते हैं, कि यह जन्म केवल दुःखालय ही नहीं है वरु "अशाश्वतम" अनित्य भी है जिसे आज हँसते, खेलते देखते हैं कल उसे नहीं देखते। जिसे आज हंसते, कूदते देखते हैं, दूसरे दिन प्रातःकाल ही में सुनते हैं, कि इस असार संसार से वह पयान करगया।

वह देखो कल्ह जो विविध प्रकार सौरभ पूर्ण द्रव्योंसे सुगन्धित और विविध रंगोंके वस्त्रोंसे विभूषित एवं मणि माणिक जटित कोमल शय्यापर करवटें माररहा था आज वह प्रज्वलित चिताग्निमें भस्मीभूत होरहा है।

इसी कारण यदुकुल-उजागर नटनागर करुणासागर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि जो मेरे भक्त मरणके पश्चात् अष्टांग-योग द्वारा एकबारे मुझको प्राप्त करचुके हैं वे फिर लौटकर इस दुःखमय और अनित्य जन्मको नहीं पाते अर्थात् पुनः मातृगर्भमें नहीं आते॥ १५॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन! जो लोग शरीर छोडकर आपको प्राप्त नहीं होते उनकी क्या गति होती है इस संसारमें लौटते हैं वा नहीं लौटते?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

पदच्छेदः— [ हे ] अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् ( ब्रह्मलोकेन सह । भुवनमभिव्याप्य ) लोकाः ( भूर्भुवः स्वर्लोकादि लोकाः ) पुनरावर्तिनः (पुनरावर्तनशीलाः ) तु ( किन्तु ) [ हे ] कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्र ! माम् ( वासुदेवम् ) उपेत्य ( प्राप्य ) पुनर्जन्म ( पुनरुत्पत्तिः पुनरावृत्तिः ) न विद्यते ( प्रतीयते ) ॥१६॥

पदार्थः— ( अर्जुन ! ) हे अर्जुन ! ( आब्रह्मभुवनात् ) ब्रह्मलोक सहित अन्य जितने ( लोकाः ) भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकादि हैं सब ( पुनरावर्त्तिनः ) पुनरावर्ती हैं अर्थात् सब लोक-लोकान्तर निवासी फिर लौटकर इस संसारमें आनेवाले हैं ( तु ) किन्तु [ हे ] ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( मामुपेत्य) मुझको प्राप्त होकर ( पुनर्जन्म ) फिर दूसरे किसी जन्मको किसी भी लोकमें ( न, विद्यते ) नहीं पाते हैं अर्थात् मेरे में प्राप्त हुएको पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १६ ॥

भावार्थः— अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ] हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त भुवर्लोक, स्वर्लोक, तथा पितरलोक, बृहस्पतिलोक, प्रजापतिलोक, वरुणलोक, कुवेरलोक,

गन्धर्वलोकादि लोकोंको गयेहुए प्राणी अपने—अपने कर्मोंके भोगोंको भोगकर उनके समाप्त होनेपर फिर संसारमें लौट आते हैं ।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि स्वर्गलोकादि लोकोंको गयेहुए प्राणी तो लौटतेही हैं पर ब्रह्मलोक पहुंचे हुए भी लौट ही आते हैं । इसलिये ब्रह्मलोकके सहित जितने अन्य लोक हैं सबोंको पुनरावर्त्ती कहते हैं । अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि " आब्रह्म " ब्रह्मलोकसे भी " लोकाः " सब प्राणी फिर लौटकर इस संसारमें चले आते हैं । इसलिये आनन्दकन्द कहते हैं, कि [ **मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते** ] हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मुझ वासुदेवको प्राप्तहुएको पुनर्जन्म नहीं होता ।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी अपनी आयुष्पर्य्यन्त अनन्यचेता होकर भगवत् हीको आपना सर्वस्व समझता है, सहस्र स्वर्गसुखोंको भी भगवत् ही पर न्योंछावर करदेता है, सहस्र योगकी सिद्धियोंकी ओर पलक उठाकर भी नहीं देखता, पर श्री हरि का ही नाम स्मरण कर,गाता, नाचता और हंसता है, जबतक प्रारब्धवश शरीरको धारण किये रहता है तबतक रात्रिन्दिवा भगवत्प्रेममें ही मग्न रहता है, अश्रुपात, रोमावली, स्वरभंग इत्यादि प्रेमलक्षणोंसे सतत जिसका हृदय परिप्लुत रहता है, श्री गोविन्दको छोड अन्य किसी देव देवीका आश्रय नहीं लेता, आंगन, घर, बाहर-भीतर,

आग, पानी, वायु इत्यादि छोटे-बडे सबोंमें भगवत्स्वरूप हीको व्याप्त देखता है, और मार्गमें चलते-चलते एकान्त स्थान देख प्रेमाश्रु टपकाता हुआ करजोड यों प्रार्थना करने लगजाता है—

" नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्न च सर्पतु ॥ "

अर्थ— हे भगवन् ! सहस्रों योनियोंमें जहां-जहां मैं अपने कर्मवश जाऊं तहां-तहां तुम्हारे पद्पंकजमें मेरी प्रीति अविचल रूपसे बनी रहे । जैसे अज्ञानियोंका प्रेम विषयोंमें दृढ रहता है उसी प्रकार हे नाथनपतिनाथ आपकी ही मूर्तिमें मेरा दृढ प्रेम रहे ।

अब भगवान् कहते हैं, कि मेरा जो ऐसा भक्त है वही मुझमें प्राप्त हो पुनर्जन्म नहीं पाता है ।

ऐसी गति केवल भगवानके ही भक्तोंकी होती है अन्य देवताओंके उपासकोंकी नहीं होती । क्योंकि जो जिस देवताकी उपासना करता है वह उसी देवताको प्राप्त होता है । पर उसके पुनर्जन्मोंका नाश नहीं होता । अतएव केवल भगवत्का ही उपासक भगवत्को प्राप्त हो पुनर्जन्मसे रहित होजाता है । सो भगवान् स्वयं पहले कहआये हैं, कि " देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि " ( अ० ७ श्लो० २७ ) तहां श्रीमद्भागवतका भी ऐसा वचन है, कि " विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमानसंगविज्ञानविशेषवीर्य्यवान् ।

यदंघ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ”
(श्रीमद्भा० स्कं० ४ अ० २१ श्लो० ३२ ).

अर्थ— जिस पुरुषके मनके संपूर्ण मल नष्ट होगये हैं तथा जो सब विषयोंसे असंग हो वैराग्यवान होकर विशेष विज्ञान जो भगवत्स्वरूप तिसके चरणोंके मूलमें जिसने अपना घर बना रखा है सो मरणके पश्चात् भगवत्स्वरूपमें प्राप्त होकर फिर लौटकर संसारमें नहीं आता।

श्रुति भी ऐसाही कहती है– “ॐ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैःक्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ” (श्वेताश्व० ना० १ श्रु० १०, ११)

अर्थ— उस भगवत्स्वरूपके ध्यान करनेसे पुनः इस जीवका उसके साथ मिल जानेसे और परमतत्त्वकी भावनासे प्रारब्धकर्मके अन्तमें अर्थात् मरणसमयमें सम्पूर्ण दुःख और सुखात्मक प्रपंचोंकी निवृत्ति होजाती है तथा “ ज्ञात्वा देवम ” उस भगवत्के जाननेसे सर्वप्रकारके बंधनोंसे निवृत्ति होजाती है तथा सब क्लेशोंके क्षीण होजानेसे जन्ममरणकी “ प्रहाणिः ” प्रकर्षरूपसे हानि होजाती है। अर्थात् फिर कभी उस प्राणीको लौटकर इस अथाह भवनिधिमें डुबकियां नहीं लगानी पडतीं।

शंका— भगवान्ने जो इस श्लोकमें ऐसा कहा, कि “ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ” अर्थात् हे अर्जुन ! अन्य लोकोंसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके जाने वाले भी लौटकर संसारमें आजाते

हैं। ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि बहुतसी श्रुति-स्मृतियोंका तो यही कहना है, कि ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए पुरुषोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रमाण श्रुति—: "ॐ ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा: परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः" ( वृहदारण्यक० अ० ६ ब्राह्म० २ श्रुति १५ )

अर्थ— ब्रह्मलोकके जानेवाले ब्रह्मलोकमें अत्यन्त दूर जाकर निवास करते हैं तिनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। फिर दूसरा प्रमाण- "ॐ न च पुनरावर्त्तते" ( छांदो० ८-१५-१ ) अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाकर फिर लौटता नहीं।

फिर सूत्रकार व्यासदेव ब्रह्मसूत्रमें कहते हैं, कि 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' (अर्थ स्पष्ट है) दोबारे सूत्रकी समाप्तिके कारण कहा। क्योंकि यह सूत्र ब्रह्मसूत्रका अन्तिम सूत्र है। इससे भी सिद्ध होता है, कि ब्रह्मलोक गयेहुएकी पुनरावृत्ति नहीं होती। फिर भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं, कि ब्रह्मलोक तकके गये हुएकी भी पुनरावृत्ति होती है।

समाधान—इन वचनोंमें विरोध नहीं है। श्रुतियोंने जो ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्ति नहीं कही इसका तात्पर्य यह है, कि इस कल्प पर्य्यन्त जबतक ब्रह्मलोककी स्थिति रहती है तबतक पुनरावृत्ति नहीं होती और अन्य जो बार्हस्पत्यादि लोक हैं तिनके गयेहुएकी इसी कल्पमें पुनरावृत्ति होती है। इसी कारण श्रुतियोंने जो पुनरावृत्ति कही वह एक ही कल्पमें अन्य लोकोंकी अपेक्षा कही है।

इस श्रुतिका भाष्य करतेहुए श्री नित्यानन्दजी भाष्यकारने अपनी मिताक्षरा व्याख्यामें भी यों लिखा है, कि " तेषां न पुनरस्मिन् कल्प आवृत्तिरस्ति कल्पान्तरावा वर्त्तन्ते " अर्थात् ब्रह्मलोकमें गयेहुएकी इस कल्पमें भी आवृत्ति नहीं होती पर दूसरे कल्पमें तो आसकते हैं ।

इसलिये भगवान्के कहनेका यहां मुख्य तात्पर्य्य यही है, कि ब्रह्मलोकके गयेहुओंकी एक कल्प बीतनेके पश्चात पुनरावृत्ति होती है पर मेरे स्वरूपमें प्राप्त होनेवालोंको कल्पान्तरोंमें अर्थात सहस्र कल्पोंके बीतनेपर भी पुनरावृत्ति नहीं होती वे ही सदाकेलिये मेरे स्वरूपमें लय होजाते हैं । शंका मत करो ! ॥ १६ ॥

इसी कारण भगवान् आगे ब्रह्मलोककी स्थितिका समय वर्णन करते हुए इसी विषयको अगले पांच श्लोकोंमें दिखलावेंगे, कि कितने काल तक ब्रह्मलोककी स्थिति रहती है और ब्रह्मलोकवालोंकी कब तक पुनरावृत्ति नहीं होती है।

मू०— सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥

परस्तस्मात्तु भावोन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
॥ १७, १८, १९, २०, २१ ॥

पदच्छेदः— सहस्रयुगपर्यन्तम ( सहस्राणि चतुर्युगानि पर्यन्तं पर्यवसाने यस्य तत् ) ब्रह्मणः ( प्रजापतेः ) यत्, अहः ( दिनम् ) [ तथा ] युगसहस्रान्ताम् ( सहस्रं चतुर्युगमन्तो यस्याः ताम् ) रात्रिम् [ च ] [ ये ] विदुः ( जानन्ति ) ते, जनाः ( पुरुषाः ) अहोरात्रविदः ( ब्रह्मणो दिनरात्रिकालसंख्याविदः ) अहरागमे ( प्रजापतेः बोधकाले ) अव्यक्तात् ( कारणरूपात् ) सर्वाः व्यक्तयः ( स्थावरजंगमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः ) प्रभवन्ति ( अभिव्यज्यन्ते । प्रादुर्भवन्ति ) रात्र्यागमे ( प्रजापतेः स्वापकाले ) तत्र ( तस्मिन् ) अव्यक्तसंज्ञके ( कारणरूपे ) एव, प्रलीयन्ते ( तिरो भवन्ति ) [ हे ] पार्थ, स, एव, अयं, भूतग्रामः ( भूतसमुदायः ) भूत्वा भूत्वा ( पुनः पुनः ) अहरागमे ( प्रजापतेः बोधकाले ) अवशः ( अविद्याकामकर्मादिपरतंत्रः ) प्रभवति ( प्रादुर्भवति ) रात्र्यागमे ( प्रजापतेः सुषुप्त्यवस्थायाम् ) प्रलीयते ( तिरोभवति ) तस्मात् ( पूर्वोक्तात् ) तु, अव्यक्तात् ( भूतग्रामबीजभूतात् ) परः ( भिन्नः। व्यतिरिक्तः । श्रेष्ठः ) अन्यः ( अत्यन्तविलक्षणः ) अव्यक्तः ( अतीन्द्रियः ) सनातनः ( नित्यैकरूपः । चिरन्तनः ) यः, भावः

( सत्तास्वरूपः ) सः, सर्वेषु, भूतेषु ( वियदादिषु स्थावरजंगमेषु ) नश्यत्सु ( तिरोभवत्सु ) न, विनश्यति ( तिरो भवति ) [ यः ] अव्यक्तः ( त्रिभिः परिच्छेदशून्यत्वान्न व्यजते यः ) अक्षरः ( विनाशरहितः ) इति, उक्तः ( वेदेषु वर्णितः ) तम् ( अव्यक्तम् ) परमां गतिम ( कार्य्यकारणातीतत्त्वात प्रकृष्टां स्वप्रकाशपरमानन्दरूपां पुरुषार्थविश्रान्तिम् ) यम ( भावम् ) प्राप्य, न, निवर्त्तन्ते ( पुनः संसारे न पतन्ति ) तत्, मम ( महेश्वरस्य ) परमम ( सर्वोत्कृष्टम ) धाम ( पदम्। विश्रान्तिस्थानम्। × स्वरूपम् ) ॥ १७, १८, १९, २०, २१ ॥

पदार्थः—( सहस्रयुगपर्य्यन्तम ) हजार चतुर्युगीतक ( ब्रह्मणः ) पितामह ब्रह्मदेवका ( यत्, अहः ) जो दिन है तिसको तथा ( युगसहस्रान्ताम ) हजार चतुर्युगीके अन्ततक जो (रात्रिम्) रात्रि है इन दोनोंको जो ( विदुः ) जानते हैं ( ते, जनाः ) वे लोग ( अहोरात्रविदः ) ब्रह्मदेवके दिन तथा रात्रिके जाननेवाले कहे जाते हैं तिस दिन और रात्रिके विषय क्या जानने वाले हैं ? सो कहते हैं ( अहरागमे ) जब ब्रह्माके दिनका आगमन होता है अर्थात् पितामह जब जगजाते हैं तब उस ( अव्यक्तात् ) कारणरूप पितामहकी शक्तिसे ( सर्वाः, व्यक्तयः ) स्थावर जंगमरूप सृष्टिके सब पदार्थ तथा सारी प्रजाएं ( प्रभवन्ति ) निकलपडती हैं और तिस ब्रह्माकी ( रात्र्यागमे ) रात्रिके आगमनमें अर्थात् प्रजापतिकी निद्राकी

× स्वरूपम्— ममैवेत्युपचारे षष्ठी राहोः शिर इति वत् ( श्रीधरः )

अवस्थामें ( तत्र, अव्यक्तसंज्ञके ) उस अव्यक्त नामक कारणरूपमें ( एव ) निश्चयकरके सृष्टिके सब स्थावर जंगम सहित सारी प्रजाएं ( प्रलीयन्ते ) लय होजाती हैं ( पार्थ! ) हे अर्जुन ! ( स, एव अयं, भूतग्रामः ) सो विशेषकर यह भूतग्राम जो पंचभूतोंकी रचनाका समूह है सो ( भूत्वा भूत्वा ) हो-होकर ( अहरागमे ) दिनके आगमनके समय ( अवशः ) अविद्याके वश होनेके कारण आप परतंत्र रूपसे ( प्रभवति ) प्रकट होता है तथा ( रात्र्यागमे ) रात्रिके आगमनके समय ( प्रलीयते ) उस अव्यक्त कारणरूप हिरण्यगर्भमें लय होजाता है फिर ( तु ) निश्चयकरके ( तस्मात् अव्यक्तात् ) तिस पूर्व कथन कियेहुये अव्यक्तसे ( परः ) परे ( अन्यः अव्यक्तः ) एक दूसरा अव्यक्त है जो ( सनातनः ) सदासे है ( यः, भावः ) और जो सत्तारूप है ( सः ) सो ( सर्वेषु भूतेषु ) सर्वचराचरके ( नश्यत्सु ) नाश होते समय ( न, विनश्यति ) नहीं नाश होता है सो जो ऐसा विलक्षण ( अव्यक्तः ) तीनों प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित एकरस ( अक्षरः ) सदा अविनाशी है ( इति, उक्तः ) जो इस प्रकारसे वेदोंमें कहागया है ( तम् परमां गतिम् ) तिसीको परमश्रेष्ठ गति कहते हैं ( यं, प्राप्य ) जिसको प्राप्त करके ( न, निवर्तन्ते ) फिर लौटकर प्राणी इस संसारमें नहीं आते ( तत् ) सोही ( मम ) मेरा ( परमम् ) अत्यन्त उत्कृष्ट सर्वोंसे श्रेष्ठ ( धाम ) स्थान है अर्थात् परमविष्णुपद है ॥ १७, १८, १९, २०, २१ ॥

भावार्थः— भगवान्ने जो १६ वें श्लोकमें यों कहा, कि ब्रह्मलोकसे भी प्राणी लौटकर इस संसारमें आते हैं, पर मुझको जो प्राप्त करता है सो फिर कभी लौटकरे मातृगर्भमें नहीं आता। इसी-लिये ब्रह्मलोकका भी अनित्य होना तथा उसके सुखोंका भी नश्वर होना अर्थात् कालसे परिच्छिन्न होना दिखलातेहुए कहते हैं, कि [सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ] सहस्रों युग तक जो ब्रह्माका एक दिन है अर्थात् कृतयुग, त्रेता, द्वापरे और कलि ये चार युग हैं। ऐसी-ऐसी हजार चतुर्युगी जब बीतजाती हैं तब ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। फिर इसी प्रकार [ रात्रिं युगसहस्रांन्तां तेऽहोरात्रविदोजनाः ] हजार चतुर्युगीकी एक रात्रि होती है। इस प्रकार जो ब्रह्माके दिन तथा रात्रिको जानते हैं वे ही 'अहोरात्र-व्रिद्' कहेजाते हैं।

अब यहां पाठकोंके बोधार्थ ब्रह्माके दिन और रात तथा उसकी आयु मनुष्योंकी अपेक्षा कितनी अधिक है? सो दिखलाया जाता है।

मनुष्योंके वर्षोंसे १७२८००० सतरह लक्ष अठाईस सहस्र वर्ष कृतयुगका, १२९६००० बारह लक्ष छियानवें सहस्र वर्ष त्रेताका, ८६४००० आठ लक्ष चौसठ सहस्र वर्ष द्वापरका और ४३२००० चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष कलियुगका प्रमाण है। इन सबोंको एकत्र करदेनेसे ४३२०००० तेंतालीस लक्ष बीस सहस्र वर्ष होते हैं। इतना तो केवल एक चतुर्युगीका प्रमाण हुआ। ऐसे-ऐसे सहस्र चतु-र्युगियोंका अर्थात् मनुष्योंके ४३२००००००० चार अरब बत्तीस

करोड सालका केवल एक ही दिन ब्रह्माका होता है और फिर " रात्रिं युगसहस्रान्तां " इतनी ही सहस्र चतुर्युगियोंकी ब्रह्मदेवकी एक रात्रि होती है। इसलिये ( ८६४०००००००० ) आठ अरब चौसठ करोड वर्षोंका एक दिन और रात ब्रह्माकी हुई। फिर इसी प्रकार इसे ३६० से गुणा करदेनेसे ( ३११०४००००००००० ) इकतीस खर्ब दश अरब चालीस करोड साल का केवल एक साल ब्रह्माका हुआ। ऐसे-ऐसे वर्षोंसे ब्रह्माकी आयु १०० वर्षकी है। इसलिये १०० में गुणा करदेनेसे मनुष्योंके वर्षोंसे ब्रह्माकी आयु ( ३११०४०००००००००० ) इकतीस नील दश खर्ब चालीस अर्बकी हुई। यह तो पुराणोंके मतसे सिद्ध किया-हुआ है।

अब इसीको दूसरे प्रकारसे यों भी गणना करते हैं, कि मनुष्योंके दिनसे ३६० दिनोंका अर्थात मनुष्योंके एक वर्षका देवताओंका एक दिन होता है। इसी प्रकार गणना करनेसे मनुष्योंके ३६० वर्षों का देवताओंका केवल एक वर्ष होता है। ऐसे देवताओंके वर्षोंसे १२००० वर्षोंकी एक चतुर्युगी होती है। ऐसी ऐसी १००० चतुर्युगियों का ब्रह्माका एक दिन और इतनी हीकी एक रात्रि होती है। इसी प्रमाण वाले वर्षोंसे ब्रह्माकी आयु १०० वर्षकी होती हैं। इस गणनासे भी मनुष्योंके वर्षोंसे उतना ही अंक आता है जितना पुराणोंके मतसे दिखाया गया है अर्थात् ब्रह्माकी आयु इकतीस नील दश खर्ब चालीस अर्बकी होती है।

फिर किसीके मतसे एक महाशंख वर्षोंके ब्रह्माके ५० साल

होते हैं जिसे परार्द्ध कहते हैं । "परार्द्धमष्टादशांकपर्यन्तम्" इस वचनसे १८ अंक तक गणना करनेसे एक परार्द्ध होता है और इसी को द्विगुण करदेनेसे ब्रह्माकी पूर्ण आयु होती है ।

जो हो किसी प्रकार गणना क्यों न कीजावे ब्रह्मलोककी स्थिति कालकी अपेक्षा मनुष्योंकी स्थितिसे अत्यन्त अधिक है ।

अब जो पहले सहस्र चतुर्युगियोंका ब्रह्माका एक दिन कहआये हैं उसीको कल्प भी कहते हैं । इसी कल्पसे ३० कल्पोंका ब्रह्माका एक मास होता है । ऐसे-ऐसे ३६० कल्पोंका ब्रह्माका एक वर्ष होता है एवम्प्रकार ३६००० छत्तीस हजार कल्प पर्यन्त ब्रह्माकी आयु है और पहले कहआये हैं, कि प्रति कल्पमें सृष्टिका प्रादुर्भाव ( प्रगट होना ) और तिरोभाव ( लय होना ) हुआ करता है । जिससे प्राणी लौटकर इस संसारमें आजाते हैं । इसलिये एक ब्रह्माकी आयुमें छत्तीस हजार बार इन प्राणियोंका लौटना संभव है । अर्थात् एक ब्रह्माकी आयुमें कमसे कम एकबार और अधिकसे अधिक छत्तीस हजार बार ब्रह्मनिवासियोंका लौटना संभव है । इस ब्रह्माके एक मासमें जो ३० कल्प बीतते हैं उन तीसोंके नाम यहां पाठकोंके बोधार्थ लिख दिये जाते हैं ।

१. श्वेतबाराह, २. नीललोहित, ३. वामदेव, ४. गाथान्तर, ५. रौरव, ६. प्राण, ७. बृहत्कल्प, ८. कन्दर्प, ९. सत्य, १०. ईशान, ११. ध्यान, १२. सारस्वत, १३. उदान, १४. गारुड, १५. कौर्म, ( इयं ब्रह्मणः पौर्णमासी ) १६. नारसिंह, १७. समाधि, १८. आग्नेय, १९. विष्णु, २०. सौर, २१. सोमकल्प,

२२. भावनः, २३. सुप्तमाली, २४. वैकुण्ठः, २५. अर्चिषः, २६. वल्मीकल्पः, २७. वैराजः, २८. गौरीकल्पः, २९. माहेश्वरः और ३०. पितृकल्पः "

( अयं ब्रह्मणोऽमावास्या इति क्रमसन्दर्भे प्रभासखण्डम् )

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो ब्रह्माके दिन और रातके जाननेवाले हैं 'तेऽहोरात्रविदो जनाः' वे ही ब्रह्माके दिन तथा रात्रिके जाननेवाले हैं ।

इतना कहनेसे भगवान्का इतनाही तात्पर्य्य नहीं है, कि केवल अंगुलियोंपर गणना करके गणकके समान जाने वरु 'अहोरात्रविदो-जनाः' कहनेसे अन्य भी कुछ तात्पर्य है वह क्या है ? सो भगवान् स्वयं कहते हैं, कि [ **अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे** ] अर्थात् अव्यक्त जो ब्रह्माका शयनकाल है तिससे ये व्यक्त ( सृष्टिके पदार्थ ) ब्रह्माके जागृति-कालमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठों प्रकृतियोंके मेलसे सम्पूर्ण चराचर जगत्की जितनी रचनाएं हैं सो "अहरागमे" ब्रह्माके जगजानेके कालमें 'प्रभवन्ति' प्रकट होजाती हैं । फिर [ **रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके** ] रात्रिके आगमन समय उसी अव्यक्त संज्ञक ब्रह्माकी सुषुप्ति—अवस्था में लय होजाती हैं । अर्थात् जब ब्रह्मा हजार चतुर्युगीकी रात्रिमें सोजाता है तब व्यक्तका अर्थात् सृष्टिका तृणमात्र भी कहीं नहीं देखाजाता । सर्वत्र निस्तब्धता और सन्नाटा छाजाता है । केवल वही

ॐकार, नाद जिसका पहले इस अध्यायके १३ वें श्लोकमें वर्णन करआये हैं, रहजाता है और कुछ कहीं नहीं रहता ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ब्रह्माके एक दिन रातमें इस सारी सृष्टिका उदय और प्रलय होजाता है । फिर ब्रह्माके दूसरे दिनमें उसी अव्यक्तस्वरूप ब्रह्मासे ये सारी रचनाएं बनजाती हैं । यहां प्रभवति शब्द कहनेसे भगवानका यह तात्पर्य है, कि जैसे सृष्टि पहले रहती है वैसे ही फिर बनजाती है । क्योंकि वेदका प्रमाण है, कि " ॐ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् " अर्थात यह जो धाता ब्रह्मा सो जैसे पूर्व रचना थी उसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल इत्यादि सारे ब्रह्माण्डकी रचना ज्योंकी त्यों करदेता है । जब रचना होती है तब पहली सृष्टिमें ब्रह्मलोक तक गयेहुए प्राणियोंका पुनरागमन इस दूसरी सृष्टिमें होजाता है । अर्थात् ब्रह्माके एक दिन ( कल्प ) में एक बार सारी सृष्टिकी पुनरावृत्ति होती है । प्रत्यक्ष है, कि जब सूर्य चन्द्रकी पुनरावृत्ति होती है तो ध्रुव, सप्तर्षि इत्यादि महापुरुषोंकी और इन्द्र वरुण कुवेर आदि देवताओंकी तथा अर्य्यमा अग्निष्वाता इत्यादि पितरोंकी पुनरावृत्ति क्यों न होगी ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मा उस परमात्माकी वह कला है जिसके व्यजन होनेसे अर्थात् हिलनेसे वा स्फुरण होनेसे यह सारी सृष्टि बार-बार पुनरावृत्तिको प्राप्त होती रहती है अर्थात् बनती और विनशती रहती है ।

इसी कारण भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब तक प्राणी सृष्टिके साथ है ब्रह्मलोक तक क्यों न चलागया हो उसकी पुनरावृत्ति होती है ।

इस प्रकार जो इस मर्मको जाननेवाले हैं, वे ही " अहोरात्र-विदः " कहलाते हैं। वे ही इस ' अहोरात्र ' के यथार्थ जाननेवाले हैं जो प्रति कल्पमें मन्वन्तरोंके अदल बदल होनेके समय सचेत रहकर स्वयं ब्रह्मलोकसे पुनरावृत्तिको प्राप्त हुआ करते हैं। जैसे सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, नारद, काकभुसण्ड, व्यास इत्यादि। इनसे इतर और कोई ब्रह्माके ' अहोरात्र ' को जानने वाला नहीं कहा जासकता। अंगुलीपर गणना करनेवाले गणकोंकी तो क्या गणना है ?

सच तो यह है, कि " ॐ ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि। जाग्रत स्वप्ने तथा जीवो गच्छन्त्यागच्छते पुनः "

( ब्रह्मोप० श्रु० ४ )

अर्थ— जैसे मकरा अपने मुंहसे जाल निकाल घर बनाकर पुनः निगलजाता है इसी प्रकार ब्रह्मदेव अपने व्यक्त और अव्यक्त कालमें इन जीवोंका उदय तथा प्रलय करता रहता है। फिर मुण्डककी श्रुति भी इसी अर्थको जनाती है— " ॐ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥ " ( मुं० खं० १ श्रु० ७ )

अर्थ— जैसे मकरा अपने जालको उगलता और निगलता रहता है। जैसे पृथिवीमें औषधियां फूटकर निकलती हैं और मनुष्यके शरीरपर रोंगटे निकल आया करते हैं। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उस अक्षर अर्थात् अव्यक्तस्वरूप ब्रह्मदेवसे निकलता है और लय होजाता है।

शंका— यहां श्रुति तो उस अक्षर ( अविनाशी ) ब्रह्मसे सृष्टिकी रचना और संहार कहरही है पर भगवान् यहां ब्रह्माके सोने और जागनेसे सृष्टिकी रचना कहरहे हैं ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें विरोध कुछभी नहीं है। केवल समझनेका थोडा भेद है। वह यह है, कि भगवान् केवल एक कल्पका लय होना जना रहे हैं पर ऐसे-ऐसे सहस्रों कल्प और सहस्रों ब्रह्मा उसी एकाक्षर ( अविनाशी ) ब्रह्मसे बनते और विनशते रहते हैं। इसीलिये ब्रह्मके अनादि और अनन्त होनेके कारण यहां रचनाभी अनादि और अनन्त कहीजाती है। प्रमाण श्रु०— " ॐ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु " ( श्वेताश्व० अ० ३ श्रु० ४ )

अर्थ— जो महाप्रभु रुद्रस्वरूप इन्द्रादि देवताओंके प्रभव ( उत्पत्ति ) और ( उद्भव ) वृद्धिका कारण है और ( * महर्षिः ) सर्वज्ञ है उसने हिरण्यगर्भ ( ब्रह्मा ) को सबसे पहले उत्पन्न किया सो इन लोगोंकी शुभबुद्धिमें योजना करे अर्थात् परमपदको प्रदान करे। इससे सिद्ध होता है, कि अक्षरब्रह्मसे ब्रह्माकी और तिस ब्रह्मासे सृष्टिकी रचना होती है। अथवा यों कहलीजियेगा, कि सृष्टि ब्रह्मासे उत्पन्न होती है और सो ब्रह्मा उस अक्षर ब्रह्मसे उत्पन्न होता है। इसलिये दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है। शंका मत करो !

* महर्षिः—महांश्चासौ ऋषिश्चेति महर्षिः।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उस *अव्यक्तसे यह व्यक्त उत्पन्न होता है और फिर उसीमें लय होजाता है।

इसी कारण जीवोंकी पुनरावृत्ति ब्रह्मलोकादि लोकोंसे होती रहती है यह सिद्ध है।

इसी विषयको भगवान् फिर दृढ करते हैं— [ **भूतग्रामः स एवायं भूत्वाभूत्वा प्रलीयते। रात्र्यागमे** ] अर्थात् यह जो पंचभूतोंका समुदाय भूताकाशमें जो नाना प्रकारकी पांचभौतिकरचनाएं हैं वे सब "भूत्वा-भूत्वा" हो-होकर अर्थात् बार-बार प्रकट होकर ब्रह्माकी रात्रिके आगमनमें लय होजाती हैं।

यहां "भूत्वा-भूत्वा" दो बार कहनेसे भगवान्का यही तात्पर्य है, कि वही सृष्टि जो पहले थी फिर उत्पन्न होती है। अर्थात्- सूर्य्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि जो पहली सृष्टिमें थे वे ही फिर दूसरी सृष्टिमें अर्थात् ब्रह्माके दूसरे दिनमें ज्योंके त्यों प्रकट होते हैं। नवीन सूर्य्य, चन्द्र अथवा नवीन जीव उत्पन्न नहीं होते। वेदके भी "**ॐ यथा पूर्वमकल्पयत्**" कहनेसे यही सिद्ध होता है, कि सारी सृष्टि जिस रूपसे ब्रह्माकी रात्रिके आगनमें लय होगयी थी फिर उसी रूपसे ज्योंकी त्यों ब्रह्माके दिनके आगमनमें उत्पन्न होआती है।

यदि यह कहाजावे, कि फिर नवीन जीव उत्पन्न होते हैं तो सो बनताही नहीं। क्योंकि ऐसा कहनेसे + कृतनाश और अकृता-

---

* यहां अव्यक्तसे अक्षरब्रह्म अथवा ब्रह्मा अर्थ करनेमें कुछ हानि नहीं है।

+ कियेहुए कर्मोंके फलोंका बिना भोगे नाश होना "**कृतनाश**" कहाजाता है और बिना कियेहुए सुख दुःखका भोगना "**अकृताभ्यागम**" कहाजाता है।

भ्यागम के दोष उत्पन्न होते हैं। अर्थात् नवीन सृष्टिमें यदि नवीन जीवादिकी उत्पत्ति मानी जावेगी तो प्रलय होनेके समय अज्ञानी जीवोंने जो पाप-पुण्य किये उनका बिना भोगेही नाश मानना होगा जिसे कृतनाशदोष कहते हैं। और नवीन रचनामें बिना कुछ किये जो जीव सुखी और दुखी होंगे अर्थात् राजा वा रंक होंगे, विद्वान् वा मूर्ख होंगे, सुरूप वा कुरूप होंगे उनकेलिये इससे "अकृताभ्यागम" दोषकी प्राप्ति होगी। इन दोनोंका होना असंगत, अनुचित और अन्याय है। इसलिये यही कहना पडेगा, कि नवीन सृष्टि नहीं होती वरु जैसी पूर्वमें रहती है वैसीही उत्पन्न होआती है। श्रुति कहती है— "ॐ गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत" जो कुछ इन पञ्चभूतोंसे रचनाएं प्रकट होआती हैं वे सब हिरण्यगर्भरूप गुहामें प्रवेश करके स्थिर रहती हैं। अर्थात जहांसे प्रकट होती हैं फिर वहां ही लय होकर सूक्ष्मरूपसे निवास करती हैं।

इसीलिये भगवान कहते हैं, कि [ अवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ] हे अर्जुन ! जितनी रचनाएं ब्रह्माकी रात्रिके आगमनमें लय होजाती हैं वे सब परतंत्र होकर फिर ब्रह्माके दिनके आगमनमें प्रकट होजाती हैं। यहां अवशः ( परतंत्र ) कहनेका यही तात्पर्य्य है, कि ये सब प्रकट होनेवाली वस्तु प्राणियोंके साथ २ अपने कर्मोंके अधीन होकर प्रकट होती हैं। अर्थात् प्रलय होते समय यहां जिस प्राणीकी जो दशा कर्मानुसार रहती है फिर दूसरी सृष्टि होते समय वह प्राणी उसी दशाको लियेहुए प्रकट होता है। जैसे मानलो, कि एक कीट बढते—बढते प्रलयकालके समय इन्द्र होगया

है और इन्द्र गिरते–गिरते एक कीट होगया है तो दूसरी सृष्टिमें भी वही कीट इन्द्र होकर और इन्द्र कीट होकर उत्पन्न होगा । अर्थात् " इन्द्र " इन्द्रही होकर प्रकट होगा और " कीट " कीटही होकर उत्पन्न होगा ।

बहुतेरे अज्ञानी यह कहा करते हैं, कि पाप करो चाहे पुण्य करो प्रलयकालमें सब ब्रह्महीमें जा मिलेंगे । सो भगवान्‌के इन वचनोंसे सिद्ध नहीं होता वरु उसके प्रतिकूल यही सिद्ध होता है, कि एक कल्पके शुभाशुभको दूसरे कल्पमें अवश्य भोगना पडेगा ।

अब भगवान्‌के इन वचनोंसे यह भी सिद्ध होता है, कि पापीको तो ब्रह्माकी रात्रिभर अव्यक्तमें शयनकर सारी सृष्टि सुषुप्तिके समान ज्यों की त्यों रहजाती है । श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि " गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति " अव्यक्त हिरण्यगर्भमें प्रवेशकर सबके सब ज्योंके त्यों वर्त्तमान रहते हैं । यदि नष्ट होजाते तो श्रुति " तिष्ठन्ति " न कहकर " नश्यन्ति " कहती । जैसे ज्वरग्रस्त प्राणी ज्वरकी दारुण व्यथासे व्यथित होताहुआ सुषुप्तिमें सुखपूर्वक सोजाता है पर फिर जागनेपर ज्वरके दुःखोंको पूर्ववत् अनुभव करने लगजाता है । इसी प्रकार प्रलय और सृष्टिकालमें जीवोंकी दशाओंको समझना चाहिये ।

इन वचनोंसे ब्रह्मलोकादि लोकोंसे भी प्राणियोंकी पुनरावृत्ति सिद्ध है ।

अब भगवान् अपने स्वरूपका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि

[ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ]

यह जो मैंने अव्यक्तस्वरूप हिरण्यगर्भ ब्रह्माका वर्णन किया इससे परे एक दूसरा भाव भी है जो उस अव्यक्तसे भी अव्यक्त है और सनातन हैं। जिससे यह ऊपर कथन कियाहुआ प्रजापति भी उत्पन्न होता है। अर्थात् "अन्यः" कहनेका यही तात्पर्य्य है, कि वह जो दूसरा अव्यक्त है वह इस अव्यक्तसे विलक्षण है। जैसे सूर्य्यका प्रकाश जिससे चन्द्रमा प्रकाशित होता है। इसी प्रकार जो हिरण्यगर्भ ( ब्रह्मा ) रूप अव्यक्तसे भी परे दूसरा अव्यक्त है। जिससे इस हिरण्यगर्भ(ब्रह्मा)में भी अव्यक्तता आती है। तात्पर्य्य यह है, कि यह ब्रह्मा भी जिससे उत्पन्न होता है। इसी कारण इस अव्यक्तसे भी उस अव्यक्तको परे कहा। सो अव्यक्त कैसा है? कि "सनातनः" भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनोंकालोंमें एकरस वर्त्तमान है, नित्य है और सबका पूज्य है, सो भगवान् बारे-बार पहले कह आये हैं और आगे भी कहेंगे। फिर वह सनातन अव्यक्त कैसा है? सो वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं, कि [ **यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति** ] जो सब भूतोंके नाश होजानेपर भी नाशको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सहस्रों ब्रह्मलोक क्यों न नाश होजावें पर वह विलक्षण अव्यक्त नाशको नहीं प्राप्त होता।

फिर आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द कहते हैं, कि [ **अव्यक्ताक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्** ] यह जो परम अव्यक्त, अविनाशीस्वरूप, अनादि और अनन्त है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जो कभी सोता वा जागता नहीं, सदा एक रस रहता है, जिसमें सहस्रों ब्रह्मा सोते जागते रहते हैं। अर्थात् सहस्रोंवार सृष्टि

और प्रलयकी दशा होती रहती है । पर उस परम अव्यक्त अक्षर स्वरूपमें तनकभी हेर फेर नहीं होता ज्योंका त्यों बना रहता है । " इत्युक्तः " ऐसाही श्रुतियोंमें भी कहागया है ।

तिस अव्यक्त अक्षरको ही परमगति अर्थात् उत्कृष्टगति, परम विष्णुपद, वा कैवल्य परमपद कहते हैं ।

फिर भगवान कहते हैं, कि [ **यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम** ] जिसको प्राप्त करके फिर ये जीव लौटते नहीं वही मेरा परमधाम है । अर्थात् जैसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर प्राणी बार-बार लौटते हैं ऐसे उस मेरे परम अव्यक्तस्वरूपको प्राप्तकर फिर नहीं लौटते ।

इतना कहकर भगवानने अपने १५ और १६ वें श्लोकमें कहे- " मामुपेत्य पुनर्जन्म " और " मामुपेत्य तु कौन्तेय " इन दोनों वचनोंको पुष्ट किया । तहां प्रमाण श्रु०— " ॐ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ " ( कठो० अ० २ व० ६ श्रु० ८ )

अर्थ— वह जो अव्यक्तस्वरूप ब्रह्म, तिससे भी परे वह महापुरुष परमात्मा है जो सर्वत्र व्यापक है और अलिंग है अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि शरीरके लिंगोंद्वारा नहीं जाना जाता । अथवा यों अर्थ करलो, कि उसे कोई शरीर नहीं है । इसलिये आंख, कान, मन, बुद्धि इत्यादि लिंगोंसे रहित है । क्या है ? यह कौन जाने ? " अन्यदेव हि ×तद्विदितात् " तथा " **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्ग-**

× जितनी वस्तु आजतक विदित होगयी हैं उनसे वह न्यारा है । उसके निकट न नेत्र, न वचन और न मनही जाते हैं ।

च्छति न मनः" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्धान्त है, कि वह अलिंग है। जिसको जानकर ये सब जीव संसार बन्धनसे छूटजाते हैं और अमृतत्त्व जो भगवानका परमधाम तिसे प्राप्त करते हैं ॥ १७, १८, १९, २०, २१, ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जिस आपके परम अव्यक्त स्वरूपके प्राप्त होनेसे फिर संसारमें लौटना नहीं होता। उसे किस उपायसे प्राप्त करना चाहिये ?

भगवान मन्द—मन्द मुसकराते हुए बोले अर्जुन ! मैं तो तुझे सो उपाय बताचुका हूं परन्तु बार—बार विस्मृतिको प्राप्त होजाया करता है सावधान नहीं रहता। तू मेरा परमप्रिय भक्त है इसलिये जितनी बार तू मुझसे पूछता जावेगा मैं निरालस्य होकर तेरे कल्याणके निमित्त उतनी बार कहता जाऊंगा।

ले सुन ! मैं फिर कहता हूं—

मू०— पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] पार्थ ! ( पृथापुत्रार्ऽजुन ! ) भूतानि वियदादीनि स्थावरजंगमानि ) यस्यान्तःस्थानि ( बीजेद्रुमइवान्तर्वर्तीनि ) येन, इदम्, सर्वम्, ततम ( व्याप्तम ) सः, परः, पुरुषः ( पुरिशयनात पूर्णत्वाद्वा परमेश्वरः ) अनन्यया ( न विद्यतेऽन्यो विषयो यस्यां तया प्रेमलक्षणाया) भक्त्या, लभ्यः (लब्धुं शक्यः) ॥ २२ ॥

**पदार्थः**— ( पार्थ ! ) हे पृथापुत्र अर्जुन ! ( भूतानि ) आकाशादि सब स्थावर जंगम ( यस्यान्तःस्थानि ) जिसके भीतर स्थित हैं तथा ( येन ) जिससे ( इदं, सर्वम् ) यह सब जगत ( ततम् ) व्याप्त है ( सः, परः, पुरुषः ) सो परमपुरुष (अनन्यया) अन्य आश्रयोंसे रहित ( भक्त्या ) केवल प्रेमभक्तिद्वारा ( लभ्यः ) प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

**भावार्थः**— अर्जुनने जो भगवान्से उस अव्यक्त पुरुषकी प्राप्तिका उपाय पूछा है उस उपायको बतातेहुए भगवान् कहते हैं, कि **[ पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ]** हे पृथापुत्र अर्जुन ! वह परमपुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता है अर्थात उसके प्राप्त होनेका उपाय " अनन्यभक्ति " ही है सो परमपुरुष कैसा है ? कि **[ यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ]** जिसमें ये सब भूत प्रवेश कियेहुए हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है । अर्थात जिसके भीतर ये आकाश, अग्नि इत्यादि पांचों भूत अपनी पच्चीसों प्रकृतियोंके साथ सब स्थावर जंगमात्मक जगत्को लिये इस प्रकार प्रवेश कियेहुए हैं जैसे बीजके भीतर द्रुम । अर्थात जैसे बटके बीजके भीतर द्रुम सहित सारा बटका वृक्ष अपने स्तम्भ, शाखा, पत्र, पुष्प, फल इत्यादिको लियेहुए वर्त्तमान रहता है इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत उस परमेश्वरमें स्थित है । प्रमाण श्रु०—

" ॐ यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः " ( मुं० २ खं० २ श्रु० ५ )

अर्थ— जिसमें दिविलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष फिर मन सब प्राणोंके अथवा इन्द्रियोंके साथ ओतप्रोत है।

फिर जो भगवान्ने इस श्लोकमें "येन सर्वमिदं ततम्" कहा है तिसका तात्पर्य यह है, कि उसी ब्रह्म करके यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है। कैसे व्याप्त है? सो कहते हैं— "ॐ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" जिस पदार्थकी सृष्टि की उसमें उसी रूपसे प्रवेश करगया है। अर्थात् जलमें जलरूप, अग्निमें अग्निरूप, व्याघ्रमें व्याघ्ररूप, गैयामें गोस्वरूप, पक्षीमें पक्षी, ज्ञानीमें ज्ञानी और मूढमें मूढ होकरे व्यापगया। इसलिये कोई स्थान एक सूईकी नोक मात्र भी उससे रहित नहीं है।

शंका— जो वस्तु जैसी है उसमें तदाकार होकर व्यापा है तो क्या जडमें जड होगया? जब जड होगया तो उसमें ज्ञान नहीं रहा फिर उसे सर्वज्ञ कैसे कहेंगे?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जडमें जड होरहा। व्यापना तो सर्वत्र सिद्ध है पर वह परमात्मा सबको अपनी आज्ञामें रखनेवाला है। प्रमाण श्रु० ॐ "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वाधिपतिः" (बृहदा० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० २२)

अर्थ— वह महाप्रभु सबोंमें तदाकार होकर भी सबको अपने वशमें रखनेवाला है। क्योंकि (सर्वस्येशानः) सबोंका ईश है तथा (सर्वस्याधिपतिः) सबोंका अधिपति होकर सबोंका पालनेवाला है जैसे मूढमें मूढ होकर व्यापा है पर उस मूढको अपने वशमें रखने-

वाला है और उस मूढका भी पालन करने वाला है यदि सबोंको अपने वशमें रखनेवाला न हो तो जिस प्राणीमें उसके कर्मानुसार जो शक्ति प्राप्त है उस शक्तिसे वह घोर उपद्रवका कारण होजावे । जैसे व्याघ्रमें मनुष्योंके खाजानेकी शक्ति है तो जितने व्याघ्र थे सब रात्रिको जंगलोंसे निकल सब सोये हुए मनुष्योंको भक्षण करजाते पर ऐसा देखाजाता है, कि बस्तीकी बस्ती व्याघ्रोंके बीच जंगलोंमें बसीहुई हैं पर व्याघ्र एकको भी नहीं खाता हाथीके बच्चोंको जो लोग पकडलाते हैं उनको हाथी जंगलसे रात्रिके समय निकल अपने पैरोंके नीचे दाब आते । सर्पके बच्चोंके मारने वालेको सर्प रात्रिको बिलसे निकलकर सोतेहुए चुपचाप डस आते । पर एक २ घरमें बीस २ सर्पोंका निवास रहता है और मारनेवाले उसके बिलके समीप दीवालोंके नीचे सोते हैं पर वह किसी को नहीं काटता । समुद्र जो इतना विशाल है जिसके किनारे सैकडों छोटी-छोटी बस्तियां बसीहुई हैं सब समुद्रकी वृद्धिसे डूबजातीं पर समुद्र किसीको भी नहीं डुबासकता ।

किन्तु इस प्रकारका उपद्रव कहीं नहीं देखाजाता इससे सिद्ध होता है, कि सब जड चैतन्यमें तदाकार व्यापकर भी सबोंको अपने वशमें रखता है । क्योंकि सभी जानते हैं, कि बिना उसकी आज्ञाके सर्प किसीको नहीं काटता, व्याघ्र किसीको नहीं खाता और हाथी किसीको नहीं पीससकता।

अतएव उस महाप्रभुका तदाकार होकर सब वस्तुओंमें व्यापना और सबका अन्तर्यामी होकर अपनी आज्ञामें रखना सिद्ध है ।

इसी प्रकार लाल, हीरा, पन्ना, मोती, सोना, चांदी, पत्थर इत्यादि जड पदार्थोंमें होनेका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि ऐसा वज्र होजावे, कि घनसे पीटनेपर भी न हटे। वरु मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि लाल, पन्ना, मोती, इत्यादि होकर नरेशोंके मुकुट और युवतियोंके भूषणोंमें सुशोभित होवे और सोना, चांदीहोकर दरिद्रोंकी दरिद्रताको दूर करे। इसी प्रकार लोहा और लकडीसे हल मुसलादि बनकर अन्नोंके द्वारा लोगोंकी जीवन यात्रामें सहायता पहुंचावे। खड्ग और मुद्गर होकर युद्धोंमें काम-देवे अर्थात सब जड चेतनोंसे नियमपूर्वक काम लेवे। शंका मतकरो!

अब भगवान कहते हैं, कि हे पार्थ! जिसमें सारा विश्व है और जो सारे विश्वमें व्यापा हुआ है। "पुरुष: स: पर:" वही परमपुरुष है जो ब्रह्मादि देवताओंसे भी श्रेष्ठ है, ऐसा पुरुष कैसे प्राप्त होता है? सो कहते हैं, कि '**भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया**' सो परमपुरुष अनन्यभक्तिके द्वारा लब्ध होता है। अनन्य कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य यह है, कि जो भक्त अन्य सर्व-प्रकारके आश्रयोंको त्याग कर केवल मुझहीको चाहता है। यथा नारदभक्तिसूत्र '**अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता**' अन्य सर्व प्रकारके आश्रयोंको जो त्यागदेना उसीको "अनन्यता" कहते हैं सो "**तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता**" अर्थात उसी परमेश्वर भक्तवत्सलमें तो अनन्यता होवे और जो उसके विरोधी हों अर्थात जिनके कारण भगवद्भजन भंग होता है। उन सबोंको परित्याग कर-देवे। इसीको "अनन्यता" कहते हैं। अन्तमें भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसी अनन्यभक्तिसे प्राणी उस अव्यक्तसे भी अव्यक्त परमपुरुष मुझको लाभ करता है॥ २२॥

अब यहां तक श्री जगतहितकारी गोलोकविहारीने मरणके समय शरीर छोडकर जो भगवतमें प्राप्त होनेके दो उपाय बताये। एक तो भक्तियुक्त होकर योगबल द्वारा प्राणको भ्रूमध्यमें प्रवेश कर ओंकार प्रणवको जपता हुआ प्राणको ब्रह्मरन्ध्र होकर निकाल देना और दूसरा यह, कि जिस प्राणीसे यह क्रिया मरणकालमें न होसके तो केवल अनन्य—भक्ति द्वारा भगवतकी शरण प्राप्त हो मनको अनन्य-चेतस और अनन्य-वृत्ति कर केवल भगवतस्वरूपमें मग्न हो प्रेमपूर्वक शरीरका त्याग देना। इन दोनों प्रकारकी शिक्षाओंको सुनकर अर्जुनने पूछा भगवन्! अब कर्मयोग और भक्तियोगवाले दोनों प्रकारके योगियों की पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्तिके कालमें क्या भेद है? सो पूर्ण-प्रकार मुझे समझादो।

इतना सुन भगवान् बोले!

मू०— यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

पदच्छेदः— [ हे ] भरतर्षभ! ( भरतकुलशिरोमणे अर्जुन! ) यत्र ( यस्मिन् ) काले ( कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे ) तु, प्रयाताः ( मृताः ) योगिनः ( ध्यानयोगप्रवर्त्तकास्तथा कर्म-योगिनश्च ) अनावृत्तिम् ( अपुनर्जन्मावृत्तिम् ) आवृत्तिम् ( पुन-र्जन्मावृत्तिम ) च, एव, यान्ति ( गच्छन्ति ) तं, कालम् ( कालाभि-मानिदेवतोपलक्षितं मार्गम् ) वक्ष्यामि ( कथयिष्यामि ) ॥ २३ ॥

**पदार्थः—** ( **भरतर्षभ !** ) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! ( **यत्र काले** ) जिस कालमें ( **तु** ) निश्चय करके ( **प्रयाताः** ) मृत्युको प्राप्त होनेवाले ( **योगिनः** ) योगी लोग ( **अनावृत्तिम्** ) पुनर्जन्मके नहीं लौटनेवाले पदको ( **च** ) तथा ( **आवृत्तिम** ) पुनर्जन्ममें लौटआनेवाले स्थानको ( **यान्ति** ) प्राप्त होते हैं ( **तं कालम्** ) तिस कालको अर्थात् कालाभिमानी देवता करके उपलक्षित मार्गको ( **वक्ष्यामि** ) मैं तुझसे कहूँगा ॥ २३ ॥

**भावार्थः—** मरणके पश्चात् योगियोंके कौन-कौन मार्ग नियत हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [ **यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः प्रयाता यान्ति** ] जिस कालमें निश्चय करके मृत्युको प्राप्त होनेवाले योगीगण पुनर्जन्मको नहीं लौटनेवाले पदको तथा पुनर्जन्म (लौटआनेवाले) पदको प्राप्त होते हैं सो कहता हूँ सुन ! अर्थात् जिस काल तक जिस देवताका अधिकार रहता है वही उसका मार्ग कहाजाता है । जैसे किसीने कहा मैं अश्वपर जाऊँगा तुम बैलगाडीपरे जाओगे फिर दोनोंका साथ कैसे होगा ? अर्थात् न होगा क्योंकि अश्ववाला बैलसे शीघ्र जावेगा । इस दृष्टान्तसे सिद्ध होता है, कि अश्व जितने कालका अभिमानी देव है उससे वह मार्ग शीघ्र समाप्त होजावेगा और जिस कालका अभिमानी बैल है उससे वह मार्ग विलम्ब करके समाप्त होगा । अर्थात् एक उतने ही कालमें अधिक दूर जानेवाला है और एक उतने ही कालमें थोड़े मार्गको समाप्त करने वाला है । इसलिये इन दोनोंको "**अश्वयानमार्ग**" और '**वृषभयानमार्ग**' कहसकते हैं । इसी प्रकार "**गरुडयानमार्ग**" और

" मयूरयानमार्ग " का भी भेद जानना चाहिये। अर्थात् गरुडके और मयूरके मार्गमें कालका भेद है। एककी गति तीव्र है और एककी गति मन्द है।

इसीलिये भगवान् दोनों मार्गोंके कालको कहकर उसी कालमें ऊपर लेजाने वाले यानों ( सवारियों ) के अभिमानी देवोंकी अपेक्षा उस मार्गका नाम कहनेके प्रयोजनसे कहते हैं, कि जिस कालमें अर्थात् मार्गमें मरने वाले योगीजन अनावृत्ति और आवृत्तिको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य्य यह, कि जिस काल वा मार्गमें जानेसे ये प्राणी फिर जन्ममरणके बन्धनमें नहीं आते तथा जिस मार्ग होकर जानेसे फिर मातृगर्भमें आकर संसारके निगड-बन्धनमें पडते हैं [ **तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ !** ] हे भरतकुलभूषण ! तिस कालको मैं तुझसे कहूंगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितने कालके अभिमानी इन्द्र, वरुण, कुवेर इत्यादि देवता हैं उस " **देवयानमार्गको** " अर्थात " **उत्तरायणमार्गको** " और जितने कालके अभिमानी अर्य्यमा, अग्निष्वाता इत्यादि पितर हैं उस " **पितृयानमार्गको** " अर्थात् " **दक्षिणायन** " मार्गको भगवान् विलग-विलग और पुनरावृत्तिके मार्गोंका भेद बताते हुए कहते हैं ॥ २३ ॥

ये अगले चौबीस और पच्चीस दोनों श्लोक अत्यन्त गूढ हैं अबतक इस गीता ग्रन्थकी जितनी टीकाएँ होचुकी हैं सब उत्तम हैं और यथार्थ अर्थकी सूचक हैं पर उतने अर्थसे इन दोनों श्लोकोंके

यथार्थ तत्वका प्रवेश सर्वसाधारणकी समझमें नहीं करसकता। इसलिये इन दोनों श्लोकोंकी टीका विस्तारपूर्वक यथार्थ तत्वको दिखलाते हुए करदी जाती है।

मू०— अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४

**पदच्छेदः—** अग्निः ( अग्निकोणाधिपतिः। पावकः। शिखावान्। तेजोविशेषः। सप्तार्चिः। सर्वदेवमुखः ) ज्योतिः ( प्रकाशः। सूर्यः ) अहः ( दिवा ) शुक्लः ( शुभ्रः। शुचिः। श्वेतः ) षण्मासा उत्तरायणम् ( भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासात्मकः सूर्यस्य उत्तरदिग् गमनकालः ) तत्र ( तस्मिन् काले मार्गे वा ) प्रयाताः ( मृताः। उत्क्रमणशीलाः ) ब्रह्मविदः ( ब्रह्मोपासकाः ) जनाः ( पुरुषाः। भक्ताः ) ब्रह्म ( परमात्मानम्। सच्चिदानन्दम्। भगवत्स्वरूपम् ) गच्छन्ति ( यान्ति। प्राप्नुवन्ति ) ॥ २४ ॥

**पदार्थः—** ( अग्निः ) अग्निदेव अर्थात् अग्निकोणाभिमानी देव, तेजस्वरूप शिखावान् वा तत्पश्चात् ( ज्योतिः ) प्रकाशस्वरूप ज्योति अभिमानी सूर्यदेव तिसके पीछे ( अहः ) दिन सो कैसा, कि ( शुक्लः ) अत्यन्त शुभ्र पवित्र फिर वह दिन कितने कालका है? तो ( षण्मासा उत्तरायणम् ) छै महीनेका, जबतक सूर्य उत्तरायणमें रहते हैं तबतकका है ( तत्र ) तिस कालमें अर्थात् तिस मार्गमें ( प्रयाताः ) शरीरको छोड ऊपरको उत्क्रमण करनेवाले अर्थात् मरने

वाले ( ब्रह्मविदः ) ब्रह्मस्वरूप अर्थात् भगवत्तत्वके जाननेवाले ( ब्रह्म ) तिस ब्रह्मको अर्थात् भगवत्स्वरूपको ( गच्छन्ति ) प्राप्त होते हैं ( ऐसोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती ) ॥ २४ ॥

**भावार्थः—** वृन्दावनविहारी सकलअघहारी श्रीमदनमुरारी आनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने जो मरनेके समय दो प्रकारके प्राणियोंके विषय कथन किया है । एक वे जो योगक्रियाद्वारा प्राणको भ्रूमध्यमें लेजाकर शरीर छोडते हैं दूसरे वे जो भगवच्चरणोंकी अनन्यभक्तिकर भगवत्में लय होजाते हैं ।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि एक तो वे जो प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें लेजाकर ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मको हृदयसे उच्चारणकर भगवतके स्वरूपका ध्यान करतेहुए अपने शरीरको छोडते हैं ।

दूसरे वे जो इस योगके कठिन मार्गको तो पूर्ण कर नहीं सकते पर केवल भक्तियोगमें निपुण हो अहर्निश भगवत्स्वरूपके प्रेममें मग्न रहते हैं जिनके लिये भगवान इसी अध्यायके श्लो० १४, १५ में पूर्ण प्रकार कह आये हैं, कि जो अनन्य-चेतस होकर नित्य मुझको स्मरण करता है उसको मैं अत्यन्त सुलभ हूं। ऐसा प्राणी भगवत्को प्राप्त होकर फिर संसार-सागरमें नहीं आता। फिर इसी अध्यायके श्लो० २२ में कह आये हैं, कि " पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यः " हे अर्जुन ! सो परमपुरुष मैं केवल अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता हूं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि एक अष्टांगयोग और एक भक्ति-योग इन दोनों प्रकारके योगधारण करनेवाले योगीजन मुझहीको

प्राप्त होते हैं। इसलिये अब इन दोनों प्रकारके प्राणियोंको मरणके पश्चात् किस मार्ग होकर जाना है तिस मार्गका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्** ] इस "देवयान" मार्गमें पहले अग्नि है, फिर ज्योति है, फिर अहः है, फिर शुक्ल है और छौ महीने सूर्य "उत्तरायण" रहता है। तात्पर्य यह है, कि इन छौ महीने उत्तरायणमें जो प्राणी शरीर छोडता है उस मार्गमें उसे अग्नि, ज्योति इत्यादि मिलते हैं।

पाठकोंके पूर्ण बोधार्थ यहां यह पृथक्—पृथक् दिखलाया जाता है, कि अग्नि, ज्योति, अह, शुक्ल इत्यादि क्या हैं? और कैसे मिलते हैं?

जो मार्ग देवयान कहलाता है जिधर होकर जानेवाले फिर जन्म नहीं पाते अर्थात् पुनरावृत्तिको नहीं प्राप्त होते। यह मार्ग अष्टांग-योगियोंको तो प्राणायामादि क्रिया द्वारा आपसे आप प्राप्त होता है पर जो भगवान्का परम प्रिय भक्त है और इस कठिन मार्गका साधन आयुष्पर्यन्त नहीं करसकता केवल भगवत्की सेवा, पूजा तथा यशो-गानमें दिन रात बिताता है उसके लिये तो भगवान् यह मार्ग स्वयम् खोल देता है और आप उसको अपने साथ लेजाता है।

अब कहते हैं, कि प्रथम योगमार्गके जाननेवालोंका जब प्राण वियोग होने लगजाता है उस समय प्राण कुण्डलिनीसे ऊपरको उठना आरम्भ होता है। तहां पहले मृतककी दृष्टिमें अग्निके समान लाल वर्ण दीखने लगजाता है। कारण यह है, कि प्राण निकलते

समय कुण्डलिनी नाडी जो इस जीवका आधार है और जो सर्पणीकी ऐसी साढेतीन लपेटोंसे लिपटीहुई मूलाधारचक्रमें सोयीहुई रहती है जगपडती है और सीधी होजाती है। योगीजन उसे (हूँ) वा ॐ ऐसा शब्द बार-बार उच्चारण कर जगा देते हैं। उसके जगते ही अरुणोदयके समान लाल वर्ण दीखने लगजाता है। फिर वह लालवर्ण अग्नि शिखावान् होजाती है अर्थात् दीपशिखाके समान सीधी दीख पडती है सीधी होजाती है उसी शिखाके आधारसे मृतकका प्राण ऊपरको उत्क्रमण करता है। जैसे-जैसे ऊपरको प्राण चढताजाता है उजियाली बढती जाती है। और जैसे अरुणोदयके पश्चात् सूर्यकी रश्मियों से आकाश निर्मल ज्योतिर्मय होजाता है और पीछे सूर्य निकल आता है। इसी प्रकार प्राण कुण्डलिनीसे चढते-चढते जब हृदय-कमल तक आता है तब सर्वत्र ज्योति ही ज्योति होजाती है। इसलिये भगवान्ने अग्निके पश्चात् "ज्योति" शब्दका उच्चारण किया। एवम्प्रकार प्राण ऊपरको चढते-चढते जब कण्ठमें आता है तो बिजलीके बेगके समान झट भ्रूमध्यमें पहुंचजाता है। इसी कारण भगवान् पहले कहचुके हैं, कि 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' अर्थात् बडी सावधानताके साथ दोनों भउहोंके मध्य प्राणको प्रवेश करके जो परमेश्वरको स्मरण करता है "स तं परमपुरुषमुपैति" वही उस परमपुरुषको प्राप्त करता है। क्योंकि जब प्राणी भ्रूमध्यमें प्राणको खींच लावेगा तो अवश्य वहां दशों दिशाओंमें शुक्लता फैल जावेगी और जैसे दो पहर दिन चढते-चढते सर्वत्र दृष्टि फैल जाती है और स्वच्छ निर्म्मल आकाश होजाता है। इसी प्रकार मृतककी दृष्टिमें सर्वत्र

चारों ओर शुक्लता फैल जाती है और दिनके समान भान होने लगता है इसलिये भगवान्‌ने अग्निके पश्चात् ज्योति शब्द कहा।

अब कहते हैं, कि ' अहः शुक्लः ' आगे चढते-चढते दिन और शुक्ल है अर्थात् इस मार्गमें ज्योतिके पश्चात् अहः है और शुक्ल है। तात्पर्य यह है, कि मृतकको कुछ और ऊपर चढते-चढते ब्रह्मरन्ध्रके समीप होते-होते सर्वत्र दिनके समान भासने लगजाता है और उजियाली बढती चली जाती है। इसलिये भगवान्‌ने ' अहः शुक्लः ' कहा। अब किस समयके मरनेवालेको ऐसा भान होता है ? तो कहते हैं, कि " षरामासा उत्तरायणम् " जो उत्तरायणके छौ महीने हैं उसी कालमें अर्थात् जिस समय सूर्य्य उत्तर ध्रुवकी ओर रहता है मरनेवालेको अग्नि, ज्योति, अहः और शुक्लवर्ण वा शुक्लपक्ष प्राप्त होते हैं। क्योंकि मनुष्यके मस्तिष्कके सब अवयवोंकी खिंचावट उत्त-रायणकालमें ऊर्ध्वमुख सूर्यकी ओर रहती है। इसलिये सूर्य्य उसके प्राणको झट खींच लेताहै अर्थात् मृतकका प्राण ब्रह्मरन्ध्र होकर झट ऊपर सूर्यलोकको चलाजाता है। तहांसे देवलोककी ओर चला जाता है। क्योंकि छौ महीनोंतक उत्तरायणमें देवताओंका दिन रहता है। इसलिये मृतक सूर्यलोक होकर ऊपर देवलोकको गमन करता है तहां नाना प्रकारके प्रलोभन दिखानेवाली अप्सरा इत्यादि उसके समीप आती हैं। ये अप्सराएँ उस मृतक योगीको अपने साथ लेकर भोग बिलासकी ओर प्रवृत्त करती हैं। यदि प्राणी विषयी रहा और पहलेसे उसकी विषयवासना हृदयसे नहीं निकल गयी है तो वह देव-लोकादि लोकोंके सुखमें फँस कर्मानुसार सुख भोगता है तहांसे कर्मके

क्षय हुए फिर नीचेको गिरता है। पर जिसने " अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते " इस भगवान्के वचनानुसार अभ्यास और वैराग्यका दृढ साधन कररखा है वह तहां इन अप्सराओंके संग नहीं फँसता । वरु वहांसे बढते-बढते बृहस्पतिलोक होता हुआ प्रजापतिलोक तक पहुंचजाता है । तहांसे ब्रह्मलोकको पहुंचता है । यदि योगमें उसका परिश्रम यहांही तक है, कि ब्रह्मलोकहीके आनन्दतक भोग करे तब तो वह ब्रह्माके दिन पर्य्यन्त अर्थात् एक कल्प पर्य्यन्त ब्रह्मलोकमें निवासकर हजार चतुर्युगीकी रात्रिमें सुषुप्तिके समान स्थित रहकर फिर दूसरे कल्पमें लौट आता है ।

यहां तक पहुंचनेवालोंकी तो पुनरावृत्ति होती है पर जिसने ब्रह्मलोकके सुखको भी तिरस्कार करे भगवत्स्वरूपके सुखका अभ्यास किया है अर्थात् " अव्यक्तादव्यक्त " जिसके विषय भगवान् श्लोक २० में कहचुके हैं, कि " परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः " अर्थात् अव्यक्तसे भी अव्यक्त ऐसा विशेषण देकर दिखलाया है। ऐसे भगवत्स्वरूपके अभ्यासी ब्रह्माके लोकसे भी आगे उत्क्रमण कर उसी भगवत्स्वरूपमें लय होजाते हैं जहांसे फिर लौटकर नहीं आना होता जिसके विषय भगवान् कहआये हैं, कि ' यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम " ।

फिर इसी देवयान-मार्गके विषय श्रुति कहती है— " ॐ तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति

मासाꣳस्तान ॥ मासेभ्यः सम्वत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति " ( छां० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० १, २ ) ।

पहले तो श्रुतियोंने 'पंचाग्निविद्या' जिससे यह बोध होता है, कि यह जीव कैसे बार-बार भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है ? कथन की है सो इस गीताके अध्याय २ श्लोक २२ की टीकामें कथन करदिया गया है।

अब श्रुति कहती है, कि 'तद्य इत्थं विदुः' वे जो पंचाग्नि विद्याको जानते हैं अर्थात् ठीक-ठीक पुनर्जन्मके कारणोंको जानते हैं सो संसृतिव्यवहारोंसे त्यागका अभ्यास कर बनमें जा "श्रद्धा तपः" भक्तियोग और ज्ञानयोगकी उपासना करते हैं वे मरणके समय अर्चि अर्थात् अग्नि होते हैं। तहांसे फिर छौ महीने उत्तरायणको; तिस उत्तरायणके महीनोंसे चढते-चढते सम्वत्सरको अर्थात् विराट्की रचना को समाप्त करनेके लिये एक वर्ष तक ऊपरको चढते चलेजाते हैं। इस विराट्में सब देव, देवी, ध्रुव, सप्तर्षि, नवग्रह इत्यादि तथा अन्य सब तैंतीस कोटि देवताओंके लोकोंको देखलेते हैं।

एक सालतक जब चढते-चढते चले जाते हैं तब आदित्यलोकको प्राप्त होते हैं, तिस आदित्य लोकसे सुन्दर शीतल चन्द्रलोकको प्राप्त

टिप्पणी— यहां केवल अर्चि कहनेसे अग्नि और ज्योति दोनोंका तात्पर्य है और अहः कहनेसे केवल दिवाका तात्पर्य है। इसलिये इस श्लोकमें जो भगवान् " अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः " अग्नि और ज्योति फिर अहः तत्पश्चात् शुक्लः कहा। इस शुक्लसे शुक्लपक्षका ही तात्पर्य है।

होते हैं अर्थात् तप्त-किरणोंसे बचकर शीतल किरणोंको पहुंचते हैं। (यहां चन्द्रलोकसे इस चन्द्रमाका तात्पर्य नहीं है जिसे नित्य देखते हैं) फिर उस चन्द्रलोकसे विद्युत्को अर्थात् बिजलीके समान शीघ्र गतिको प्राप्त होते हैं, तहांसे ब्रह्मका मानसपुरुष ब्रह्मलोकमें लेजाता है। क्योंकि अन्य किसी देवताका उधर गम नहीं है, यही "देवयान" मार्ग कहलाता है।

अब विचारने योग्य है, कि ब्रह्मलोकतकको श्रुतिने मार्ग ही बताया मार्ग रहने वा विश्रामका स्थान नहीं कहलाता। वरु मार्गसे आगे विश्रामस्थान होता है। इसीसे श्रुतिका भी यही तात्पर्य्य है, कि ब्रह्मलोकके मार्ग होकर योगी परम अव्यक्त अर्थात् भगवत्स्वरूप तक पहुंचता है। इसलिये ब्रह्मलोककी गणना भी मार्गहीमें है।

इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः**] अर्थात् जो ब्रह्मोपासक हैं वे मरणके पश्चात् इस शरीरसे उत्क्रमण कर इस देवयानमार्ग होतेहुए सब लोक-लोकान्तरोंकी शोभा देखतेहुए तिस भगवत्के परमधामको चलेजाते हैं अर्थात् भगवत्में जामिलते हैं।

भिन्न-भिन्न आचार्य्योंने इस श्लोकका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है. पर सबोंका सारांश इतनाही है जो यहां कथन कियागया।

अब यहां यह वार्त्ता विचारने योग्य है, कि जो लोग योग-क्रियाके जाननेवाले हैं वे तो इस प्रकार कुण्डलिनीसे हृत्कमल, भ्रूमध्य, तथा मूर्द्धा होकर चलेजाते हैं। पर जो भगवान्के भक्त हैं

और भक्तियोगवाले हैं उनके मरणके समय भगवत् कृपादृष्टिकर ये सब मार्ग आपसे आप खोलदेता है और इन सब लोकलोकान्तरोंकी शोभा दिखलाताहुआ इस देवयानमार्गपर सवार कराकर आप अपने साथ करलेता है सो पहले भी कहचुके हैं। जैसे किसीका मित्र जब अपने मित्रको घर लेजाना चाहता है तब वह उसके घरसे उसके साथ हो अपने साथ ( सवारीपर ) बिठाल मार्गमें अपनी बनायीहुई वाटिका और वन, उपवन, वापी, तडाग, हर्म्य, अटारी, अट्टालिका इत्यादि दिखलाताहुआ अपने घरके भीतर लेजाता है।

दूसरी बात यह है, कि जो भगवत्का भक्त "सद्यः" अर्थात् मरणकालके साथही बिना किसी विलम्बके मोक्षका पात्र है और सर्वत्र सब ठौरोंमें भगवत्स्वरूपको देखरहा है, एक तृणभी जिसकी दृष्टिमें भगवत्से विलग नहीं दीखता तथा सब ठौरमें वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक इत्यादि लोकोंको देखरहा है, सब चैतन्य आत्मामें आत्मभूत होकर अपने आसपासके सब जीवोंको भगवत्स्वरूपही जानता है।

भगवान् भी जिसके विषय कह आये हैं, कि " वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः " ऐसे सम्यग्दर्शनशील प्राणीको उत्क्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह तो जहांही मरता है वहांही भगवत्में झट लय होजाता है वह कहीं आता जाता नहीं है इसीको साक्षान्मुक्ति भी कहते हैं। तहां श्रुतिभी कहती है, कि " न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति " ऐसे प्राणीके प्राण शरीरको छोड कहीं उत्क्रमण नहीं करते, ज्योंके त्यों रहते हैं और भगवत्स्वरूपमें लय होजाते हैं।

श्रीभाष्यकार शंकराचार्य्य इस श्लोकपर भाष्य करतेहुए अन्तमें इसी श्रुतिका प्रमाण देकर कहते हैं, कि "**नहि सद्यो मुक्ति भाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिरगतिर्वा क्वचिदस्ति**" अर्थात् जैसे पहले कह आये हैं, कि जो सद्यः मुक्तिका पात्र है और सम्यग्दर्शनशील है। तात्पर्य यह है, कि सर्वत्र सबोंमें भगवत्को देखता है उसकी गति अगति कुछ भी नहीं है वह कहीं भी आता जाता नहीं। उसकेलिये देवयान अथवा पितृयान इत्यादि किसीकी भी आवश्यकता नहीं। यदि **भक्तियुक्तयोगबल** भी उसमें है तो अति उत्तम सोनामें सुगन्ध है। नहीं तो केवल भक्तियोगसे भी उसका उद्धार होजाता है सो पहले भी दिखला आये हैं ॥ २४ ॥

यहांतक भगवान "**उत्तरायण**" अर्थात् "**देवयान**" मार्गका वर्णन करचुके अब "**दक्षिणायन**" अर्थात् "**पितृयान**" मार्गको जहांसे लौटआना होता है सो अगले श्लोकमें दिखलाते हैं।

**मू०— धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।**
**तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५**

**पदच्छेदः—** धूमः ( आर्द्रेन्धनप्रभवः। मरुद्वाहः। शिखिध्वजः ) रात्रिः ( निशा। तमस्विनी। यामिनी। श्यामा ) तथा, कृष्णः ( कृष्णपक्षः ) षण्मासा दक्षिणायनम् ( कर्कटसंक्रमणादारभ्य धनसंक्रमणपर्यन्तं श्रावणादि षण्मासेषु सूर्यस्य दक्षिणा गतिः ) तत्र ( तस्मिन् काले मार्गे वा ) योगी ( कर्मयोगानुरक्तकर्मी अपक्कयोगी वा इष्टापूर्तदत्तकारी ) चान्द्रमसं ज्योतिः ( चन्द्रोपलक्षितं स्वर्गलोकम् ) प्राप्य ( लब्ध्वा ) निवर्तते ( पुनरावर्तते ) ॥ २५ ॥

पदार्थः—( धूमः ) वह मार्ग जिसमें धूम है और उस धूमका अभिमानी देवता है अर्थात् धूमकी पूर्ण शक्ति है ( रात्रिः ) घोर अन्धकाररात्रि है ( तथा, कृष्णः ) तथा कृष्णपक्षके समान घोर तमस है अर्थात् अँधियालीकी पूरी शक्ति घन होगयी है ( षण्मासा दक्षिणायनम् ) छौ महीने सूर्यदेवकी चाल दक्षिणायन है तिस का अभिमानी देव अर्थात् छौ महीनेके अन्धकारकी पूरी शक्ति जिस मार्गमें है ( तत्र ) तिस मार्गमें जानेवाला ( योगी ) कर्मयोगी दान, पुण्य, तीर्थ और व्रत अर्थात् इष्टापूर्त, दत्त इत्यादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला कर्मयोगी ( चान्द्रमसं ज्योतिः ) चन्द्रमाकी शीतल और सुहावनी किरणोंसे शोभायमान स्वर्गलोकके सुखको ( प्राप्य ) प्राप्त करके अर्थात् कर्मानुसार स्वर्गके सुखको भोगकर ( निवर्तते ) फिर पंचाग्निद्वारा संसारके बन्धनमें लौट आता है ॥ २५ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें भगवान् देवयानमार्गको दिखाकर अब इस श्लोकमें पितृयानमार्ग और तिस मार्गसे जानेवाले अर्थात् दान, पुण्य, तीर्थ, व्रत इष्टापूर्तादि करनेवाले कर्मयोगीकी गति दिखलातेहुए कहते हैं, कि [ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ] धूम है, रात्रि है, कृष्ण है और छौ महीने सूर्य दक्षिणायन रहता है अर्थात् कर्मयोगी जब प्राण छोडने लगजाता है तब उसके सामने उसकी दृष्टिमें पहले धूम दीख पडता है, अर्थात् धूम की पूर्ण शक्ति सम्मुख आपडती है और उसको ऐसा भान होता है, कि नेत्रोंके सामने एक धूमका घोर अन्धकार चक्कर खाताहुआ ऊपरको चढ़रहा है। जैसे इन दिनों रेलगाडीके इञ्जनके बम्बेपर देखाजाता है।

उसीके साथ लिपटाहुआ मृतक भी ऊपरकी ओर चढता चलाजाता है फिर एवम्प्रकार धूमकी पूरी शक्ति जब अपना कार्य करलेती है तब उस की दृष्टिमें "रात्रिः" रात्रि दीखने लगजाती है अर्थात् जैसे सायंकालके समय पहले आकाश चारों ओर धुमैला होजाता है फिर पूर्व दिशासे अन्धकार उठता चलाआता है। इसी प्रकार उस मृतकके सामने उसके अन्तःकरणमें ऐसा भान होने लगजाता है, कि रात्रि उठती चली आरही है। जब एवम्प्रकार रात्रिका अभिमानी देवता अर्थात् रात्रिकी पूरी शक्ति कार्य करलेती है तब वह महा घोर रात्रि "कृष्णः" कृष्णपक्ष की १५ रात्रि तकका जितना समय होता है उतनी देर तक उस मृतकके सामने भाद्रमासकी अमावश्याकी रात्रिके समान घोर अन्धकार भासता है अर्थात् शून्यमें केवल अन्धकार ही अन्धकार भासता है।

फिर "षण्मासा दक्षिणायनम्" छः महीने तक दक्षिणायन मार्ग है जिसमें कर्मी पुरुष चलाजाता है अर्थात् दक्षिणायनका जो अभिमानी देवता। तात्पर्य यह है, कि सूर्यके दक्षिणायन होनेसे जो छः महीने तक सूर्यके पृष्ठभागकी पूर्ण शक्ति जब अपने पूर्ण कार्यको करलेती है। तात्पर्य यह है, कि मृतकके सामने जो छः महीनेकी घोर रात्रि उदय होती है तिस रात्रिमें वह मृतक बराबर ऊपरकी ओर चलाजाता है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि "कर्ककी संक्रान्तिसे आरम्भ करके धनकी संक्रान्ति तक" जब मरने वालेका प्राण छूटेगा तब तो वह जबतक दक्षिणायनकी समाप्ति होगी तबतक बराबर अन्धकारमें दक्षिणकी ओर चलताही चलाजावेगा अर्थात् सूर्यके पृष्ठभागकी ओर अथवा यों कहलीजिये,

कि, सूर्यको अपने-अपने पृष्ठभागकी ओर किये हुए अन्धकारमें चढता चला जाता है। एवम्प्रकार दक्षिणायनकी शक्ति जब समाप्त होजाती है तब [ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ] तहां चन्द्रलोक करके उपलक्षित जो प्रकाशमय सुख है उसे कर्मयोगी प्राप्त करके अर्थात कर्मोंके फलोंकी अवधि पर्यन्त सुख भोग करके फिर इस संसारमें लौट आता है। चन्द्रोपलक्षित करके जो सुख कहा तिस का तात्पर्य यह है, कि जैसे इन्द्रलोकादि लोकोंके सुख हैं जो आदित्य देव करके उपलक्षित हैं इसी प्रकार पितृलोकका सुख चन्द्र करके उपलक्षित है। सो कर्मी पुरुष पितृलोकके सुखको भोगकर यदि कर्ममें कुछ विशेषता रही और गुरूपदेश द्वारा कुछ प्रबल पुण्यकी प्राप्ति रही तो ऊपरकी ओर देवलोकमें पहुंच तिस देवलोकका सुख जो पितृलोकसे दश सहस्र गुणा अधिक आनन्दका देनेवाला है भोगने लगता है।

प्र० श्रु०— "ॐ ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः" (तैति० बल्ली० २ अष्टमोनुवाकः)

अर्थ— वह जो सौ गुणा पितृलोकका आनन्द है सो एक आजानज देवका आनन्द है फिर वह जो सौ गुणा आजानजदेवका आनन्द है सो एक कर्मदेवका आनन्द है। इसीलिये १००×१०० गुणा करने से पितरोंके आनन्दसे कर्मदेवोंका आनन्द दशहजारगुणा अधिक सिद्ध होता है। सो कर्मयोगी नाना प्रकारके पुण्योंका संचय करनेवाला कर्मानुसार कुछ काल सुख भोगकर फिर मातृगर्भमें आता है।

इस श्लोकमें भगवान्के कहे हुए पितृयानमार्गके विषय श्रुति भी स्वच्छ और अधिक स्पष्टकरके परिष्काररूपसे कहती है।

"ॐ अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिँ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥

ॐ मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥

" ॐ तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति "। ( छा० प्रपा० ५ खं० १० श्रुति ३, ४, ५ )

अर्थ— जो गृहस्थ अथवा ब्रह्मचारी इष्टापूर्त्त, दत्तादि कर्मोंको करते हैं सो मृत्युके समय पहले धूमको प्राप्त करते हैं जैसा, कि पहले कह आये हैं, कि तिस धूमसे रात्रिको फिर रात्रिसे अपरपक्ष जो कृष्णपक्ष है तिसको प्राप्त करते हैं, तिस कृष्ण पक्षसे छः महीने दक्षिणायन मार्गको प्राप्त करते हैं। तहांसे सम्वत्सरके अभिमानी देवताको प्राप्त करते हैं अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गोंके जाननेवालोंके लिये " मासेभ्यः सम्वत्सरम " कहा। तिसका तात्पर्य्य यह है, कि छः मास जो सम्वत्सरका अवयव है तिससे सम्वत्सर अवयवीको प्राप्त होते हैं अर्थात् दोनों मार्गोंके जाननेवालोंको सम्वत्सरके अभिमानी देवसे साक्षात्कार होता है जो न तो दिवा है और न रात्रि है वरु इन दोनोंसे विलक्षण है। जिस सम्वत्सरके विषय वेदमंत्र यों कहता है,

कि "ॐ सम्वत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपासते सा न आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण संसृज" ( अथर्व० ३-६-१० )

अर्थ— हे सम्वत्सरकी प्रतिमा अर्थात एक साल पर्य्यन्त भिन्न-भिन्न रचनाओंको अपने-अपने स्थानपर रखनेवाली भगवत्की शक्ति मैं तेरी उपासना करता हूं सो तू मेरे लिये दीर्घायुवाली प्रजाको और लक्ष्मी इत्यादि सुखके पदार्थोंकी रचना करदे।

इस वेदमन्त्रसे ज्ञात होता है, कि सम्वत्सर विशेष शक्तिमान काल है जिसमें दोनों मार्गोंके जानेवाले पहुंचते हैं पर देवयान वाले तिस सम्वत्सरसे आदित्यलोककी ओर चले जाते हैं। इसी कारण देवयानमार्गका वर्णन करती हुई श्रुतिने "सम्वत्सरादादित्यम्" कहा और पितृयानका वर्णन करती हुई "सम्वत्सरात्" कहकर "मासेभ्यः पितृलोकम्" कहा।

जैसे पूर्व, पश्चिम इत्यादि चारों ओरके जानेवाले किसी चौरस्तेपर मिल जाते हैं इसी प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गोंके जानेवाले सम्वत्सरके चौरस्तेपर जा मिलते हैं। तहांसे फिर अपना-अपना मार्ग लेते हैं। संभव है, कि तिस सम्वत्सररूप चौरस्तेसे देवयानवाले पितृयानको और पितृयानवाले देवयानको चले जावें। पर श्रुति स्मृतियोंने इसके विषय कुछ कहा ही नहीं। इसलिये इस प्रकारके अनुभवका प्रमाण नहीं मिलता पर इससे किसी प्रकारकी हानि नहीं केवल इतनाही कहना है, कि सम्वत्सर होकर दोनों यान वाले अपने-अपने यानकी ओर चले जाते हैं। यह वार्त्ता श्रुतिस्मृतिकी सम्मतिके अनुसारही कही गयी है।

अब श्रुति कहती है, कि सो जो सम्वत्सरके छः मास हैं जिनका अवयवी सम्वत्सर है तहांसे पितृयान वाले पितृलोकको फिर ' **पितृलोकादाकाशम्** ' तिस पितरलोकसे अकाशकी ओर ऊपर चढते जाते हैं और तिस आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं जहां अमृतके समान सुखके उपकरण इत्यादि हैं और जिसे **सोमराजा** भी कहते हैं जो देवताओंका अन्न है अर्थात् जिसे देवगण भक्षण करते हैं । यहां भक्षणकरनेसे खानेका तात्पर्य्य नहीं है वरु भोगनेका तात्पर्य्य है । क्योंकि श्रुतियोंने जहां-जहां अन्नभक्षण रखा है तहां-तहां अन्नभक्षणसे भोगनेहीका तात्पर्य रखा है । प्रमाण श्रु०— " **ॐ स्त्रियोऽन्नं पशवोन्नं विशोऽन्नं राज्ञामिति** " अर्थात् स्त्री, पशु, वैश्य, भृत्य इत्यादि सब राजाके अन्न होते हैं अर्थात् भोगके पदार्थ होते हैं ।

अब श्रुति कहती है, कि " **तास्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा** " अर्थात् तिन देवताओंके साथ क्रीडा करतेहुए चन्द्रलोकका आनन्द

---

टि०— **सोमराजा** इसका सांगोपांग वर्णन देखो हंसनाद भाग दूसरा व्याख्यान पुनर्जन्ममें ।

यदि सोमराजाका अमृतपिण्ड अर्थ कियाजावे तो कोई हानि नहीं । क्योंकि देवगण इसे भक्षण करते हैं और यह संसारी जीवभी पंचाग्नि मार्गद्वारा चन्द्रमामें पहुंचकर जब अमृतपिण्डके साथ कुछ दिन निवास करता है तो पर्जन्यद्वारा अन्नमें आते समय अमृतका अंश अपने साथ लेआता है तिस अन्नको जब संसारी जीव भक्षण करते हैं तो उनका वीर्य्यरूप होकर गर्भमें जाता है तिस गर्भसे उत्पन्न होनेके पश्चात् वही अमृतरस उसके जीवनका कारण होता है ।

लेतेहुए जबतक कर्मका क्षय नहीं होता तबतक प्राणी वहां निवास करके फिर उसी मार्गसे आकाशको लौट आते हैं। आकाशसे फिर वायु होजाते हैं, वायुसे धूम और तिस धूमसे अभ्र ( वादल ) होते हैं। तहांसे पर्जन्य ( मेघमाला ) द्वारा जल होकर अन्नोंमें आते हैं, फिर वह अन्न मनुष्यमें आकर वीर्य्य होता है, तिस वीर्य्यके साथ गर्भमें जाकर प्राणी उत्पन्न होते हैं। एवम्प्रकार इनकी "पुनरावृत्ति" होती है, यह विषय छान्दोग्योपनिषद्में विस्तारपूर्वक वर्णन कियाहुआ है। और इस पर्जन्यसे संसारमें आकर जन्म लेनेके विषय भगवान् इस गीताके अ० ३ श्लो० १४ में भी पूर्णरूपसे कहचुके हैं।

इसीको पितृयान मार्ग कहते हैं जिस मार्गसे प्राणी लौट आया करते हैं।

शंका—जब चन्द्रलोकसे भी लौटनाही होता है और "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन" ( श्लो० १६ ) भगवानके इस वचनके अनुसार भी ब्रह्मलोकादि लोकोंसे भी लौटनाही पडता है तो इतना परिश्रमकर योगधारणामें स्थित हो प्राणायामादि कठिन साधनोंके साधन करनेका फलही क्या होगा ? जब कुछ विशेष फल नहीं हुआ तो योगादि क्रियामें अनवरत परिश्रमकरना व्यर्थ हुआ ऐसा क्यों ?

समाधान— पितृयानमार्ग जानेवाले तो एक कल्पमें करोडोंबार आते-जाते हैं वरु उनको तो ब्रह्मलोकतक पहुंचनेका संयोग भी नहीं होता। पर अष्टांगयोगी वा ध्यानयोगियोंका परिश्रम

कदापि निरर्थक नहीं जासकता । ध्यानयोगी अष्टांगयोगके साधन द्वारा ब्रह्मलोकको पहुंचते है तिनमें असम्प्रज्ञातसमाधि वाले ब्रह्माकी आयुष्पर्य्यन्त तहां निवासकर पुनः संसारमें लौटते हैं और जो "सम्प्रज्ञातसमाधि" वाले योगी हैं वे तो ब्रह्माकी आयुभरमें ३६००० बार लौटते हैं अर्थात् प्रति कल्पमें एकबार अवश्य लौटते ही हैं। ये दोनों प्रकारकी पुनरावृत्तिवाले योगीजन फिर मनुष्यही होते हैं।

ये दोनों यान उनहीं लोगोंकेलिये हैं जो किसी प्रकारके योगी हैं चाहे वे (ध्यानयोगी) अष्टांगयोग साधनवाले हों चाहे यज्ञादि कर्मकरनेवाले कर्मयोगी हों पर जो न अष्टांगयोगी है और न कर्मयोगी है उसकी तो श्रुतियोंने तीसरी गति कही है। प्रमाण श्रु०— " ॐ अथैतयोः पथोर्न कतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳस्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेषश्लोकः " ( छान्दो० प्र०५ खं० १० श्रु० ८ )

**अर्थ—** ये जो दो मार्ग कहेगये इन दोनोंकी ओर न जाकर जो तीसरे मार्गकी ओर जाते हैं उनको कीट, मशक इत्यादि अत्यन्त क्षुद्र योनियां प्राप्त होती हैं तहां उनकेलिये भगवत्की यही आज्ञा हैं, कि " जायस्व म्रियस्व " जन्मो और मरो ।

यही तीसरा स्थान वा मार्ग है इससे स्वर्गलोकका पेट नहीं भरता। क्योंकि स्वर्गलोकमें बहुत कम जीव जाते हैं और इनमें अधिकांश

जीव लौटकर क्षुद्र योनियोंमें प्राप्त होते हैं। इसीलिये बुद्धिमानोंको चाहिये, कि अपनेको इस तीसरे मार्गसे बचानेके लिये पापाचरणोंको त्यागें और शुभाचरणोंका सम्पादन करें जिससे ऐसी निषिद्ध योनियोंकी प्राप्ति न हो ' तदेषश्श्लोकः ' ऐसे पुरुषोंके लिये यह श्लोक ' मंत्र ' प्रमाण है। अर्थात् कैसे-कैसे प्राणी किन पापोंके करनेवाले इन क्षुद्र योनियोंमें पतित होते हैं और इस तीसरे मार्गके अधिकारी हैं? सो कहते हैं— " ॐ स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पंचमश्चाचरंस्तैरिति ॥ "

( छां० प्रपा० ५ खं० १० श्रु० ९ )

अर्थ— सोना चुरानेवाले, मद्य पीनेवाले, गुरुपत्नीसे भोग करनेवाले, ब्राह्मणको मारनेवाले ये चारों प्रकारके आततायी क्षुद्र योनियोंमें गिरते हैं और पांचवां वह जो इन चारोंके साथ आचरण करता है।

इसलिये अष्टांगयोग साधनकरनेवालोंमें, पितृयानमार्ग होकर जानेवालोंमें और साधारण प्राणियोंमें बहुत ही अन्तर है। शंका मत करो ॥ २५ ॥

अब भगवान् उपर्युक्त दो यानोंके कथनका उपसंहार करतेहुए कहते हैं—

मू०— शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमावृत्तिंचैव योगिनः ॥२६

पदच्छेदः— जगतः ( ज्ञानकर्माधिकारिणः । संसारनिवासिनः ) शुक्लकृष्णे ( शुक्ला अर्चिरादि गतिः प्रकाशमयत्वात् । कृष्णा धूमादि गतिस्तमोमयत्वात् ते ) एते, हि ( निश्चयेन ) गती ( मार्गौ ) शाश्वते ( अनादिरूपे ) मते ( अभिप्रेते सम्मते वा ) [ तयोः ] एकया ( शुक्लया ) अनावृत्तिम् ( निवृत्तिम् ) याति ( गच्छति ) अन्यया ( कृष्णाया ) पुनः ( भूयः ) आवर्तते ( संसारसागरे पतति ) ॥ २६ ॥

पदार्थः— ( जगतः ) इस संसारमें रहनेवाले ज्ञानी और कर्माधिकारी पुरुषोंके लिये ( शुक्लकृष्णे ) शुक्ल जो प्रकाशमय देवयान तथा कृष्ण जो अन्धकारमय पितृयान ( एते, हि ) ये ही ( गती ) दोनों मार्ग ( शाश्वते मते ) श्रुतिस्मृतियों द्वारा अनादि मानेगये इन दोनोंमें ( एकया ) एकसे ( अनावृत्तिम् ) प्राणी निवृत्ति अर्थात् मोक्षको ( याति ) प्राप्त होता है और ( अन्यया ) दूसरेसे ( पुनः ) फिर ( आवर्तते ) इस संसारबन्धनमें लौट आता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस श्लोकमें दोनों मार्गोंके कथनका उपसंहार करतेहुए कहते हैं, कि [ शुक्लकृष्णे गती ह्येते

**जगतः शाश्वते मते** ] जगत्में रहनेवालोंकी शुक्ल और कृष्ण ये ही दो प्रकारकी गति अनादि मानीगयी हैं ।

'जगतः' कहनेसे यहां भगवानका तात्पर्य सब संसारियोंसे नहीं है केवल उन्हींसे है जो ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके अधिकारी हैं । भगवान् शंकराचार्यकी भी यही सम्मति है । वे अपने भाष्यमें लिखते हैं, कि " **जगत् इत्यधिकृतानां ज्ञानकर्मणोर्न जगतः सर्वस्यैवैते गती संभवतः** " अर्थात् जगत् कहनेसे केवल ज्ञान और कर्म करने वालोंको समझना चाहिये । सम्पूर्ण जगत् निवासियोंसे तात्पर्य नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण कहना होता तो तीन गति कहते । क्योंकि श्रुतियोंसे अभी सिद्ध होचुका है, कि इन दोनोंसे इतर एक तीसरी गति भी है जिसमें साधारण मनुष्य और इनसे भी इतर क्षुद्र जीव आते जाते हैं। अथवा थोड़ी देरके लिये यों भी कह सक्ते हैं, कि ये दोनों गतियां केवल मनुष्यमात्रकी हैं इनसे इतर तिर्यक् योनियोंके लिये तो तीसरी गति है । क्योंकि मनुष्यके मस्तिष्ककी रचना आकाशकी ओर सीधी खड़ी है । इसलिये उनका प्राण निकलकर आकाशकी ओर जाता है अर्थात् ऊर्ध्वमुख गमन करता है । और शेष जितने पशु पक्षी हैं उनके मस्तककी रचना वक्र अर्थात् टेढी है इसलिये इनकी गति कुलालचक्र के समान यहां ही घूमतीहुई चक्कर खातीरहती है अर्थात् ये जीव एक योनिसे दूसरी योनिमें यहां ही चक्कर खाते रहते हैं । इन्हींके लिये श्रुतियोंने कहा है, कि " जायस्व म्रियस्व " अर्थात् जन्मा करो और मरा करो । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि शुक्ल कृष्ण ये दोनों गति मरनेके पश्चात् मनुष्योंकी ही होती हैं ।

शंका— मनुष्योंमें तो बडे-बडे आततायी, गुरुतल्पगामी, ब्रह्महा इत्यादि घोर पापी हैं ये भी तो सीधे बनाये गये तो क्या ये सीधी गतिको अर्थात् पितृलोकादि लोकोंको जावेंगे ?

समाधान— वे भी अवश्य सीधी गति आकाशकी ओर जावेंगे पर पापकर्मवश नरककी ओर चले जावेंगे और नरक भोगकर फिर कूकर, शूकरादि योनियोंमें उत्पन्न होंगे ।

अब भगवान् कहतेहैं, कि यह बात नवीन नहीं है । हे अर्जुन ! मैंने पहलेहीपहल तुम्हहीको यह नवीन वार्त्ता नहीं कही है वरु "शाश्वते मते" अनादिकालसे श्रुतियों और स्मृतियोंके मतसे ये दोनों गति सिद्ध कीहुई हैं ।

प्रिय पाठको ! "शाश्वते मते" कहकर भगवानने यह जनाया, कि इस संसारमें अनेक प्रकारके नवीन मत निकलते आते हैं और निकलेंगे जो इन बातोंको न जान सकते हैं, न जान सकेंगे और न उनकी इतनी शक्ति है और न होगी, कि इस प्रकार प्राणायामादि क्रियाकर "उत्तरायणमार्गसे" ब्रह्मलोकको प्राप्त होसकें । इसलिये अन्य मतावलम्बी जो इष्टापूर्त्त, दत्त इत्यादि कर्मोंको करनेवाले हैं वे इस दक्षिणायनमार्गको जानें वा न जानें पर इस मार्ग होकर वे अवश्य पितृलोकको जा सुख भोगकर फिर इस संसारमें लौटते रहते हैं ।

शंका— क्या भारतनिवासियोंने भगवानको कुछ उत्कोच ( घूस ) दियाथा जिस कारण इसी भारतदेशवाले इस उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं और अन्य देशीय नहीं होते। भगवानने ऐसा पक्षपात क्यों किया ?

समाधान— यह सभी जानते हैं, कि जब कोई प्राणी किसी गृहको बनाता है तब जो सबसे उच्चस्थान रहता है वहां आप रहता है अथवा अपने किसी देवताको स्थापन करता है। तात्पर्य यह है, कि उसे सबसे ऊंचा जानकर सबसे प्रिय पदार्थको वहांही रखता है। प्रत्येक घरोंमें भोजन, शयन, स्नान, पूजन इत्यादिके स्थान बने रहते है पर इनमें जो पूजनका स्थान रहता है वह सबसे ऊंचा और पवित्र रहता है।

इसी प्रकार भगवानने जो पृथिवी अर्थात भूलोक बनाया तो इसमें यह जो हिमालय पर्वत इसे सम्पूर्ण पृथिवी मंडलसे ऊंचा बनाया यह सर्वसम्मत है। इससे सिद्ध होता है, कि इस हिमालय पर्वतके आसपास जितने स्थान हैं और जितने बडे-बडे देश हैं सब पृथ्वीके अन्य स्थानोंसे ऊंचे हैं। जैसे कश्मीर, गढवाल, कुमाऊँ, आलमोडा, बदरी, केदार, तिब्बत, नैपाल, भुट्टान, शिमला, नैनीताल, हिन्दुस्तान ये सब इस हिमालयके आस पास स्थित हैं। इसलिये ये सब देश अन्य देशोंसे परम पवित्र और पूज्य स्थान हैं।

इसी कारण इनही देशोंमें बडे २ पवित्र ऋषि, मुनि इत्यादि उत्पन्न हुए और जितने हुए सब ज्ञानी, ध्यानी, विद्वान् और तपस्वी हुए। बडे-बडे योगी इसी हिमाचलमें अब भी निवास करते हैं। पृथिवी-मण्डलभरमें जितने पर्वत हैं सबसे यह पर्वत अधिक ऊंचा है। इसी कारण इसको नगराज, अद्रिराज इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। कुमार सम्भव स० १ श्लो० १ में लिखा है, कि "**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः**" अर्थात भारतकी उत्तर दिशामें हिमालय नामका पर्वत सब पर्वतोंका राजा तथा देवतात्मा है, अर्थात् देवतादि परम पवित्रात्मा इसीके शिखरपर निवास करते हैं। तहां यह पर्वत कैलासपर्वतसे लगाहुआ है। इसी पर्वत होकर प्राणी कैलास जासकता है, तथा इसके आस-पासमें सब पवित्र देशोंकी स्थिति होनेसे राम, कृष्ण इत्यादिका अवतार भी इसीके मूलमें हुआ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डलमें इस पर्वतके आसपासके स्थानोंको भगवत्ने परम पवित्र बनाया जिनमें भारतवर्ष मुख्य है। इसलिये इस भारतवर्षमें योगियोंका निवासस्थान है। अतएव यहां वाले तो अवश्य उत्तरायण होकर गमन करते हैं। यहांके जितने नरेश हुए उनमें प्रायः बहुतेरे साधुही हुए सब नरेश अन्तमें अपना राज्य अपने पुत्रको देकर वनस्थ हो श्रद्धासे तपकी उपासनाकर उत्तरायणमार्ग होकर ब्रह्ममें जामिले। यह देश आत्म-ज्ञान (Spiritualism) के कारण प्रसिद्ध है। अन्य देशोंमें पदार्थ विद्या (Materalism) की चर्चा अधिक है तथा अन्य देशीय संसारी विष-

यकी ओर अधिक ध्यान देते हैं और विषयकी उन्नतिको उन्नति समझते हैं। पर इस भारत-देशवाले विषयको तुच्छदृष्टिसे देखते हैं। इस देशवाले आत्मोन्नतिको उन्नति समझते चलेआरहे हैं।

इसी कारण केवल इसी देशवाले इस योगक्रिया द्वारा उत्तरायणमार्ग जो देवयानमार्ग है तिसके अधिकारी हैं। दक्षिणायनके अधिकारी तो सब देशीय हैं। क्योंकि अन्य सब देशवाले केवल इष्टापूर्त्त, दत्त इत्यादि कर्मोंके ही सम्पादन करनेवाले हैं, योगादि क्रियाओंसे वंचित हैं।

शंका— क्या अन्य देशीय उत्तरायणमें नहीं मरते? यदि मरते हैं तो वे क्यों नहीं ब्रह्मलोकतक जा पहुंचेंगे।

समाधान— योगरहित प्राणी उत्तरायणमें चाहे दक्षिणायनमें किसी समय क्यों न मरे पर उसे ब्रह्मलोक नहीं होगा। क्योंकि वह मूर्द्धा अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र होकर शरीरसे नहीं निकलता, उसकी कुंडलिनी सीधी नहीं होती। जैसे सूर्य्योदयमें जो प्राणी घोर निद्रामें खर्राटा लेताहुआ सोगया है उसकेलिये वह दिन अर्धरात्रिके समान है। इसी प्रकार अज्ञानी अज्ञानकी घोर अंधकारमयी यामिनीमें सोयाहुआ उत्तरायणमें भी अन्धकार ही अर्थात् तीसरे मार्गका ही अधिकारी है।

शंका— यदि ऐसा है तो योगी जो दक्षिणायनमें मरेगा वह तो ब्रह्मलोकको नहीं जावेगा?

समाधान— जो योगी है वह दक्षिणायनमें मरेहीगा नहीं। क्योंकि योगियोंको शरीर छोडना न छोडना अपने हाथमें है। इसलिये योगी तो

उत्तरायणहीमें शरीर छोडेगा। क्योंकि उत्तरायण प्रकाश—स्वरूप अर्थात् ज्ञानरूप है। देखो! भीष्मपितामहने दक्षिणायनतक शरीर नहीं छोडा जब सूर्य्य उत्तरायण हुआ तब शरीरका परित्याग किया। इसी प्रकार सब योगीजन उत्तरायणमें शरीरको त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान्ने अर्जुनसे "शाश्वते मते" ऐसा पद कहा। अर्थात् इन दोनों मार्गोंका पूर्ण विचार शाश्वतमत जो सनातनधर्म तिसीमें है अन्य किसी धर्मवाले इस गूढ रहस्यको नहीं जानते हैं।

अब भगवान् फिर इसी वार्त्ताको दृढ करतेहुए कहते हैं, कि [ **एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः** ] वह जो एक उत्तरायण देवमार्ग है तिस होकरे जानेवालेको मोक्ष प्राप्त होता है। अर्थात् ब्रह्मलोकको पारहोकर परम अव्यक्त जो भगवत्स्वरूप तिसमें लय होजाता है। दूसरा जो दक्षिणायनका कृष्णमार्ग है अर्थात् पितृयानमार्ग है तिस मार्गको जानेवाला ब्रह्माके लोकतक भी जावे तो भी वहांसे लौट आता है।

इतना कहकर भगवान्ने इन दोनों मार्गोंके गुण और दोषोंके कथनका उपसंहार किया ॥ २६ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें दोनों मार्गोंके जाननेवालोंकी स्तुति करतेहुए अर्जुनको योगी होनेकेलिये अर्थात् उत्तरायण मार्गके अधिकारी होनेकी आज्ञा देतेहैं—

मू०—नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

**पदच्छेदः**— [ हे ] पार्थ! ( पृथापुत्र अर्जुन ! ) एते, सृती ( मार्गौ आवृत्यनावृत्तिफले ) जानन् ( निश्चिन्वन् ) कश्चन ( कोऽपि ) योगी ( ध्यानयोगी ) न ( नैव ) मुह्यति ( धूमादि मार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन प्रत्येति । सुखबुद्ध्या स्वर्गादिफलं कामयते ) तस्मात्, अर्जुन! सर्वेषु कालेषु, योगयुक्तः ( अपुनरावृत्तये समाहितचित्तः ) भव ॥ २६ ॥

**पदार्थः**— ( पार्थ! ) ( हे पृथाका पुत्र अर्जुन! ( एते, सृती ) इन दोनों देवयान और पितृयान मार्गोंको ( जानन् ) जानता हुआ ( कश्चन ) कोई ( योगी ) योगविद्यामें निपुण ( न, मुह्यति ) मोहको प्राप्त नहीं होता ( तस्मात् ) इसलिये ( अर्जुन! ) हे अर्जुन! तू ( सर्वेषु कालेषु ) सर्व समयमें अर्थात् सदा ( योगयुक्तः ) समाहितचित्त ( भव ) होजा अर्थात् पितृयानमार्गसे बचकर देवयानमार्गसे जानेका यत्न कर ॥ २७ ॥

**भावार्थः**— अब भगवान् इस श्लोकमें दो बार अर्जुनको सम्बोधन कर पुकारते हैं, पहले तो पार्थ कहते हैं फिर अर्जुन कहते हैं। पृथापुत्र कहनेमे तो यह तात्पर्य है, कि तू मेरा परम प्रिय है। क्योंकि पृथा जो मेरी फूफी है तिसका पुत्र है इसलिये मैं तुझको सदा तेरे हितकी बात कहूँगा।

फिर दुबारा जो अर्जुन कहा इसका तात्पर्य यह है, कि " अर्जयति देवयानमार्गजनितं व्यापारत्वमित्यर्जुनः " जो देवयानमार्ग होकर जानेका व्यापार करे उसे कहिये अर्जुन ! सो भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि तू इस देवयान-मार्गके जानेका अधिकार रखता है इसलिये तू इन दोनों मार्गोंका जाननेवाला है सो तू निश्चय करके जान! कि [ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ] इन दोनों मार्गोंका जाननेवाला जो योगी है हे पार्थ ! वह मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात पितृयानमार्गसे लौट आनेका कारण जो नाना प्रकारकी कामनाएं हैं वे ऐसे योगीके चित्तमें नहीं उदय होतीं। क्योंकि वह भली भांति जानचुका है, कि इष्टापूर्त्त, दत्त इत्यादि कर्मोंके फलोंके चाहनेवाले स्वर्गमें अप्सरादिके संग सुख भोगनेके पश्चात इस संसार-निगडबन्धमें आफँसते हैं। इसलिये भगवान कहते हैं, कि ऐसा चतुरयोगी सावधानताके साथ निष्कामकर्मोंका सम्पादन करताहुआ मोहमें न पडकर इन विषयोंका संग्रह न करके देवयानमार्गका अधिकारी होता है। अब भगवान कहते हैं, कि [ तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ] हे अर्जुन ! इसलिये तू सब समय अर्थात् सर्व कर्मोंका सम्पादन करताहुआ भी अन्तःकरण द्वारा सबसे विलग रहकर योगयुक्त होजा अर्थात् सब विषयोंसे मुह मोड मेरे स्वरूपमें समाहितचित्त होजा ! इससे पहले भी भगवान " योगमातिष्ठ" "तस्माद्योगी भवार्जुन " इत्यादि वचन कहआये हैं।

शंका— भगवान एक बार तो अर्जुनसे कहआये हैं, कि " युध्यस्व विगतज्वरः " सर्व प्रकारके शोकोंसे रहित होकर युद्ध

कर ! जिससे " हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् " अर्थात् यदि मारागया तो स्वर्गकी प्राप्ति करेगा और यदि जय प्राप्त हुई तो राज्यसुख भोगेगा ।

तो क्या ये दोनों कामनाएं नहीं हैं ? यदि हैं तो अर्जुन देवयानमार्गका अधिकारी नहीं होसकता । और अब ' योगयुक्तो भवार्जुन ! ' ऐसा कहकर देवयानमार्गका अधिकारी बता रहे हैं ऐसा विरोध क्यों ?

**समाधान**— विशेष कर इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् यहां कहते हैं, कि ' योगयुक्तो भवार्जुन ' अर्थात् हे अर्जुन ! तू योगमें युक्त होजा ! ऐसा कहनेसे भगवान्का मुख्य तात्पर्य यही है, कि "सकामकर्म " युद्धका सम्पादन करताहुआ भी उसके फलोंकी चाहका अन्तःकरणसे परित्याग करदे । अर्थात् युद्धका सम्पादन करना जो तेरी क्षत्रियजातिका गौरव और धर्म है उसे नहीं छोडताहुआ अर्थात् जातिधर्मका उल्लंघन नहीं करताहुआ युद्धके फलोंको त्याग मेरेमें समाहितचित्त होजा । इसी कारण भगवान्ने जिस ठौर युद्धका फल दिखलाकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी है उसी ठौर झट यों उपदेश कर-दिया, कि " सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ " अर्थात् युद्ध करते समय तू सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय सबोंको समान जानकर युद्ध कर। यही योगका परम सिद्धान्त है और देवयान-मार्गका यथार्थ मूल है । क्योंकि ' युध्यस्व विगतज्वरः ' वाक्य में विगतज्वर शब्दका यही तात्पर्य है, कि हर्ष शोक रहित होकर युद्ध कर ! जब जय, अजय, हर्ष शोकको समान करके युद्ध किया तो कामना नहीं रही । शंका मत करो ! ॥ २७ ॥

अब भगवान् इस प्रकार महापुरुषार्थयुक्त योगीकी स्तुति अगले श्लोकमें करतेहुए इस अध्यायको समाप्त करते हैं–

मू०— वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— वेदेषु ( ब्रह्मचर्य्यपालनत्वपवित्रपाणित्व प्रांमुखत्वगुर्वधीनत्वादिभिः सम्यगधीतेषु ) यज्ञेषु ( श्रद्धयांगोपांग-साहित्येन साद्गुण्येनानुष्ठितेष्वश्वमेधादिषु ) तपःसु ( शास्त्रोक्तेषु श्रद्धया मनोबुद्ध्याद्यैकाग्र्यपूर्वकं मौनचान्द्रायणकृच्छ्रादि व्रतेषु सुतप्तेषु ) [ च ] दानेषु ( श्रद्धया पुण्यकाले पुण्यदेशे च पात्रेभ्यः सम्यग्दत्तेषु) एव, यत्, पुण्यफलम् ( धर्मस्य यत् स्वर्गस्वाराज्यादि फलम् सुखम् ) प्रदिष्टम् ( वेदशास्त्रेषूपदिष्टम् ) योगी ( ध्याननिष्ठः । ब्रह्मोपासकः ) इदम् ( सप्तमप्रश्ननिर्णयेनोक्तं तत्त्वम् ) विदित्वा ( ज्ञात्वा अनुष्ठाय च ) तत्, सर्वम् ( अध्ययनयज्ञतपोदानादिभिरर्जितम् पुण्यम् ) अत्येति ( अतिक्रामति ) च ( तथा ) आद्यम् आदौ भवम् कारणम् ) परम् ( सर्वोत्कृष्टम् प्रशस्यतरम् ) स्थानम् ( विष्णोः परमं धाम ) उपैति ( प्राप्नोति ) ॥ २८ ॥

पदार्थः— ( वेदेषु ) सांगोपांग वेदोंके अध्ययन करनेमें ( यज्ञेषु ) श्रद्धायुक्त अश्वमेध, दर्श, पौर्णमासादि यज्ञोंमें ( तपःसु) मौन, कृच्छ्र, चन्द्रायणादि तपोंमें और ( दानेषु ) गौ, हिर-

श्रद्धादि दान करनेमें ( एव ) निश्चय करके ( यत्पुण्यफलम् ) जो पुण्यफल ( प्रदिष्टम् ) वेदशास्त्रादिमें उपदेश कियागया ( इदम् ) इस मेरे पूर्व कहेहुए देवयानादि मार्गोंके भेदको ( विदित्वा ) जानकर योगी ब्रह्मवेत्ता योगी ( तत्सर्वम ) इस सम्पूर्णफलको ( अत्येति ) अतिक्रमण करता है अर्थात् त्याग देता है और ( आद्यम् ) इस जगत्के आदिकारण ( परम् ) सबसे उत्तम ( स्थानम् ) मुझ विष्णुके परम धामको ( उपैति ) प्राप्त करलेता है ॥ २८ ॥

भावार्थः--- अब भगवान् देवयान और पितृयान दोनोंके जाननेसे जो परमगति प्राप्त होती है तिसकी स्तुति करते हुए कहते हैं, कि [ **वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्** ] वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें और दानोंमें जो पुण्यफल कहागया है । अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादिके नियमको पालन करते हुए परम पवित्रतासे शौचके अंगोंको पूर्ण करते हुए समित्पाणि होकर गुरुकी शरण जा गुरुकुलमें निवास कर आयुर्वेद, धनुर्वेदादि उपवेदों तथा व्याकरण आदि षडंगोंके सहित ऋग्वेदादि चारों वेदोंको बडी सावधानताके साथ अध्ययन करनेसे तथा श्रद्धा पूर्वक दर्श, पौर्णमास, अश्वमेधादि यज्ञोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे मौन, चान्द्रायण, कृच्छ्र इत्यादि तथा वनमें जाकर वर्षा, आतप, बात इत्यादिको सहनेसे फिर देश, काल, पात्र इत्यादिका विचार करके गऊ, अश्व, गज, हिरण्य, अन्न, वस्त्र इत्यादिके दान देनेसे जो पुण्यफलकी प्राप्ति श्रुतिस्मृतियोंमें कथन कीगयी है [ **अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्** ] तिन सब फलोंको ब्रह्मकी उपासना करनेवाला

योगी पूर्व कथन किए हुए देवयानादि मार्गोंके भेदको जानकर अति-क्रमण करडालता है अर्थात् इन सब कर्मोंके फलोंकी ओर तनक भी आंख उठाकर नहीं देखताहुआ परमधामको प्राप्त होता है।

**शंका**— इन सब कर्मोंके पुण्यफलका अतिक्रमण करना तो बडी वीरता और बडे वैराग्यका कार्य्य है यह तो सहज और साधारण कार्य्य नहीं है। ऐसा कौन प्राणी है जो इतना परिश्रम करके तिसके फलको तिरस्कार कर अलग होजावे। क्योंकि गुरुशुश्रूषा करतेहुए ब्रह्मचर्य्यके कठिन व्रतको पालन करनेमें कितनी सावधानताका काम है तथा यज्ञ, तप, दान इत्यादिमें कितना समय लगता है और द्रव्य व्यय होता है इसे सबही अनुभव करसकते हैं। फिर कृच्छ्रचान्द्रा-यण इत्यादिमें कितना शरीरको कष्ट होता है सबही जानते हैं तो कब संभव है, कि इतना परिश्रम करके उपार्जन किये हुए पुण्यको कोई एकबारगी अतिक्रमण करसके?

**समाधान**—इसी शंकाके निवारणार्थ भगवानने अर्जुनके सातवें प्रश्न '**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**' का उत्तर देतेहुए देवयानादि मार्गोंका व्याख्यान किया है उन्हींका जाननेवाला योगी इन कर्मोंके फलोंके त्याग करनेमें समर्थ होसकता है अन्य नहीं। इस-लिये भगवान ईस श्लोकमें कहते हैं, कि "**इदं विदित्वा**" अर्थात् मरणके समय प्राणको मूर्द्धातक चढाकर तहांसे ब्रह्मरन्ध्रमें पहुंच देव-यानमार्ग होकर ब्रह्मलोक होताहुआ भगवत्स्वरूप तक पहुंच जानेकी रीति ( जिसका वर्णन भगवानने इस अध्यायके श्लो० ५ से २७

तक किया है ) जाननेवाला ही योगी कर्मफलोंका अतिक्रमण कर सकता है। शंका मत करो।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें " परं स्थानमुपैति चाद्यम् " कहा तिसका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उक्त गुणविशिष्ट योगी उस परम धामको जो सबका आदि कारण है जिससे पहले न कोई है, न हुआ और न होगा प्राप्त होता है।

जिस धामके विषय भगवान्‌ने इस अध्यायके नवें श्लोकमें " सर्वस्यधातारम् " तथा इस श्लोकमें " आद्यम् " कहा है।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने एक योगीकेलिये " अत्येति " और " उपैति " दो क्रियाओंका प्रयोग किया जिनसे ऐसा बोध होता है, कि किसी तत्वके अतिक्रमणसे दूसरे तत्त्वकी प्राप्ति विवक्षित है। जैसे मार्गमें पथिकको किसी पर्वतकी चढाई आजावे अथवा किसी समुद्र, नदी वा नदका विस्तार आजावे तो पथिक जब तक इसका अतिक्रमण नहीं करेगा तबतक अपने नियत स्थानतक नहीं पहुंच सकता। इससे बोध होता है, कि भगवत्प्राप्तिके मार्गमें वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, दान इत्यादि रूप नदी, नद, पर्वत इत्यादि हैं।

क्योंकि इनका फल स्वर्गादि लोकोंका सुख है जहां अप्सराएं चारों ओरसे घेर लेती हैं। इसलिये इनका अतिक्रमण करना अत्यन्तही आवश्यक है। अतएव भगवान् कहते हैं, कि मेरा उपासक योगी ही " अत्येति " इन सबोंका अतिक्रमण करता है और तिसके पश्चात् " उपैति " मुझ ब्रह्मको प्राप्त होता है।

शंका— जब इन वेदाध्ययनादि शुभ कर्मोंके फलोंका त्याग ही करना अर्थात् इनका " अतिक्रमण " करदेना ही प्रयोजन था तो पहले इन कर्मोंके फलोंके एकत्र करनेकी आज्ञा वेदोंने क्यों की ? ' प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् " जिस मलको धोना पडे उस को धोनेसे पहले लगालेना तो बुद्धिमत्ता नहीं है उचित तो यह था, कि पहलेहीसे मल नहीं लगने देते । अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, तपादि कुछ नहीं करनेकी आज्ञा देते तो इनके फलोंको अतिक्रमण करनेमें परिश्रम तथा समय नष्ट करना नहीं पडता ।

समाधान— जिस कार्यसे थोडी हानि और अधिक लाभ हो वह अवश्य कर्तव्य है । जैसे किसी पुखराज ( लाल ) की प्राप्तिके लिये हीरेका त्यागना मूर्खता नहीं है इसी प्रकार भगवत्प्राप्तिके लिये वेदाध्ययनादिके फलोंका त्यागना बुद्धिमान ब्रह्मवेत्ता योगी ही का काम है । सो इन वेदाध्ययनादि कर्मोंसे केवल हानि इतनी है, कि थोडा समय जाता है और शारीरिक क्लेश उठाना पडता है पर अधिक लाभ यह है, कि इनको निष्काम होकर करनेसे और इनके फलोंको भगवत्में अर्पण करदेनेसे मनुष्यको अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है तिस अन्तःकरणकी शुद्धिसे प्राणी उपासनाका अधिकारी होता है । तिस उपासनासे विष्णु-परम-पद अर्थात भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होती है । फिर जिस क्लेश वा परिश्रम तथा समयकी हानिसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति हो उसकी गणना हानि वा क्लेशमें नहीं करनी चाहिये ।

दूसरी बात यह है, कि जिसके पास कुछ होहीगा नहीं वह त्याग ही क्या करेगा? किसी धनकी प्राप्ति करके त्यागदनेकी प्रशंसा है पर दरिद्र अथवा मधुमक्खीके मधुके समान संचय करनेवालेकी प्रशंसा नहीं है।

एवम्प्रकार जब वेदाध्ययन इत्यादि कर्मोंके फलोंका अतिक्रमण होजाता है तब योगी कुछ पाता है इसी कारण भगवानने कहा "उपैति" पाता है। क्या पाता है? तो 'परं स्थानम्' परमधामको पाता है अर्थात् मुझ भगवत्‌को प्राप्त करता है।

यदि कोई पूछे, कि सो भगवत् कैसा है? तो कहना पडेगा, कि "आद्यम्" सबसे आदि भी है अर्थात् ब्रह्मादि देवोंसे पूर्व है इसी कारण पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें कहा है, कि "स एव पूर्वेषामपि गुरुः" सो जो परब्रह्म जगदीश्वर है वह सबसे पूर्व जो ब्रह्मा, महेश, गणेशादि हैं उन सबोंका भी गुरु है अर्थात् उनसे भी पहलेसे है।

(योगसूत्र पा० १ सू० २६)

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि वह परब्रह्म निर्मल, निश्चल, शान्त, अरूप, अलक्ष, अगोचर, अच्युत, अनन्त, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वात्मा, शुद्ध, सर्वातीत, विश्वम्भर इत्यादि उपाधियोंसे युक्त है। वरु यों कहना भी अधिक नहीं होगा, कि वह विश्रामका भी परम विश्रामस्थान है, आत्माराम है, जगदभिराम है और आदिपुरुष है उसके समान कोई दूसरा नहीं है।

इसी कारण महापुरुषार्थी योगी अपने आत्मज्ञानद्वारा आत्मतत्त्वको पहचानकर, अन्य सब फलोंको तुच्छ समझकर भगवद्धामको प्राप्त करलेते हैं। जैसे व्यास, वशिष्ठ, नारद, जनक, वामदेव, वाल्मीकि, अत्रि, शौनक, सनकादि, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ इत्यादि अनेक महात्मा अपने शुद्ध ज्ञान और प्रबल-पुरुषार्थ द्वारा भगवद्धामको प्राप्त करचुके हैं।

यह आत्मज्ञान ही सर्वधर्मोंका सार है। तीर्थ, व्रत, तप, दान इत्यादि उग्रकर्मोंके द्वारा प्रयत्न करनेपर जिन अनुपम फलोंकी प्राप्ति होती है उन्हें आत्मज्ञानी इसीलिये तुच्छ समझते हैं, कि वे परमात्म-सुखसे अधिक अन्य किसी भी सुखको स्थायी नहीं पाते हैं। क्योंकि " **पृथिव्यां यानि तीर्थानि स्नानदानेषु यत्फलम्। तत्फलं कोटि गुणितं ब्रह्मज्ञानसमं हि न** " अर्थात् सब तीर्थ स्नान, दान इत्यादिके जो फल हैं उनको करोडगुणा करनेसे भी जो फल हो वह ब्रह्मज्ञानके समान नहीं होसकता। भगवान् स्वयं कह रहे हैं, कि हे पार्थ! " **नानाशास्त्रं पठेल्लोको नानादैवतपूजनम्। आत्मज्ञानं विना पार्थ! सर्वकर्म निरर्थकम्॥** " बिना आत्मज्ञानके विविध-शास्त्रोंका अध्ययन करना और अनेक देवताओंका पूजन करना निरर्थक है। अर्थात् यदि इन कर्मोंसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई तो ये सर्व कर्म निरर्थक हैं सो उन्हीं परमपुरुषार्थी योगीजनोंको इसकी प्राप्ति होती है जिन्होंने निरन्तर अपने प्रबल पुरुषार्थसे **प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म**, इन महावाक्योंका भली-भांति विचार किया है और ब्रह्ममय होगये हैं।

इस प्रकार आत्मज्ञानका घोर मंथन करते—करते जब यह संपूर्ण प्रकृति इन्द्रजालके सदृश दृष्टिमें भासने लगती है और विषयोंके कूरे-कचरे ज्ञानाग्निमें भस्म होजाते हैं तथा अन्तःकरणके गंभीर सरोवरमें पूर्णानन्दकी लहरें उमडने लगजाती हैं, जगत्की असारता अनित्यता विदित होने लगजाती है तब यह निश्चय होजाता है, कि मैं जो अपनेको बुद्-बुद समझरहाथा सो मैं उन आनन्दपूर्ण लहरोंसे विलग नहीं हूं वरु सरोवरही हूं। बस ऐसी दशा आतेही सन्देहकेलिये कोई स्थानही शेष नहीं रहजाता फिर तो सब साधन और सिद्धान्त नाममात्र रहजाते हैं।

जब एवम्प्रकार पूर्णब्रह्मानन्दसे अन्तःकरणका सरोवर भरजाता है तब स्वर्गकी नैसर्गिक छटा, नन्दन काननका मनोरम लावण्य जो वर्णनातीत है, जहांकी सुरम्य भूमिके अन्तर्गत बडी-बडी पर्वतमालाएं सुन्दर सुगन्धयुक्त पुष्प वृक्षोंसे ढकीहुई हैं। जिनसे निकलीहुई शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर सारे वनको सुगन्धित कररही है, जिसके झोकोंसे लहलहातेहुए सुन्दर सुकोमल पल्लवयुक्त वृक्ष बडे मनोहर लगते हैं। यत्र तत्र सुन्दर-सुन्दर जलाशय बनेहुए हैं जिनमें विविध भांतिके विकसित कमलोंपर भृंग-वृन्द गुंजार कररहे हैं, मयूरगण नृत्य कररहे हैं, पपीहा पीपी और कोइलियां पञ्चमस्वरमें मधुर कूक सुनारही हैं। इतनाही नहीं वरु जहां अनेकानेक सुन्दर अप्सराएं अपने मधुरालापसे देवताओंको भी मोहित कररही हैं। जहां सर्वकामनाओंका देनेवाला कल्पवृक्ष नन्दनकाननमें बडी शोभाके साथ अडा खडा है।

अधिक क्या कहाजावे जहां विषयसुखकी इति श्री ही होरही है। ऐसे परम मनोरमस्थान भी पूर्वोक्त ब्रह्मानन्दमय अन्तःकरणवाले योगियोंकी दृष्टिमें तुच्छ भासने लगजाते हैं।

जैसे कोई चक्रवर्त्ती महाराज स्वप्नमें अपनेको भिखारी देखकर परमदुःखको प्राप्त होरहा है पर जगजानेपर फिर अपने चक्रवर्त्तीसुखका अनुभव करने लगजाता है। इसी प्रकार जिस प्राणीका अन्तःकरण संसारके स्वप्नमें दुखी होरहा था वह इस घोर मोहकी निद्रासे जगते ही अपने निज ब्रह्मानन्द—सुखको भोगने लगजाता है। इसी कारण श्रीआनन्दघन व्रजचन्द्र इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि योगी जब वेदाध्ययन, दान, तप इत्यादि फलोंको " अत्येति " अतिक्रमण करजाता है तब मुक्त परब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दकन्दको " उपैति " प्राप्त करता है।

अब आनन्दकन्द श्री व्रजचन्दने मन्द-मन्द मुसकानसे अर्जुन ऐसे भक्तरूप भ्रमरको अपने मुख सरोजके छबिरूप मकरन्दका पान कराते हुए तथा इस अध्यायके आरम्भसे उसके कियेहुए सातों प्रश्नोंका मृदु एवं मधुरवाणीसे उत्तर देतेहुए इस अध्यायकी समाप्ति की है।

क्यों न हो आपका नाम तो जगत् हितकारी है इसलिये सदा जगत्के कल्याणमें तत्पर रहते हैं। युद्धके समय अर्जुनको रथपर उपदेश करनेके मिससे मानो सम्पूर्ण जगत्को उपदेश किया है ॥ २८॥

मुक्तो येन गजेन्द्र आशु जलधौ ग्राहाननाद्भीषणाद्,
येनाधारि कनिष्ठया गिरिवरो गोवर्धनो गोकुले।
नद्धो येन करालदंष्ट्रभुजगः सूर्यात्मजाया जले,
तेनैवातकरेण नाथ! कृपया 'हंसस्य' दोर्गृह्यताम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना
हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां
हंसनादिन्यां टीकायां ब्रह्माक्षरनिर्देशो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः

# शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

| पृष्ठ | पं० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १८३४ | ४ | न्द | न्दा |
| ,, | १७ | यह | वह |
| १८३६ | १६ | री | रि |
| १८३७ | १५ | ची | चि |
| १८५६ | १६ | सूहृदा | सुहृदा |
| १८६५ | १२ | पुरुपु | पूर्पु |
| १८६८ | ४ | प्रपद्यन्ते-ऽअन्य | प्रपद्यन्तेऽन्य |
| १८७१ | ६ | चोदहों | चौदहों |
| १८७८ | १० | जे | जो |
| १८७९ | ३ | व्यवति-ष्ठतेति | व्यवतिष्ठ-तीति |
| ,, | ४ | यति यशवयं | यितुमशक्यं |
| १८८९ | २ | रह | रहे |
| १८९८ | १७ | भगववन् | भगवन् |
| १९०७ | १४ | ऱ्निय | नित्य |
| ,, | १५ | का० | क० |

| पृष्ठ | पं० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १९१३ | २० | श्वासो-च्छ्वास | श्वासोच्छ्वास |
| १९२३ | १८ | चक्षन्ता | चक्षन्तो |
| १९२७ | १२ | तमसावृत्ते | तमसावृते |
| १९४९ | २ | तदनुकृ-तिहरस | तदनुकृतिर्हरस |
| १९५६ | १३ | चितस्य | चित्तस्य |
| १९५९ | १७ | मारण-कालमें | मरणकालमें |
| १९६० | १२ | तम् | तत |
| १९७१ | ८ | चतर्युग | चतुर्युग |
| १९७२ | ५ | स्वात | स्यात |
| १९७४ | ६ | सहस्रांन्तां | सहस्रान्तां |
| १९८८ | ३ | वहा है | कहा है |
| २००६ | ३ | अक ती | आकाशकी |
| २०२३ | २१ | चन्द्राय-णादि | चान्द्रायणादि |



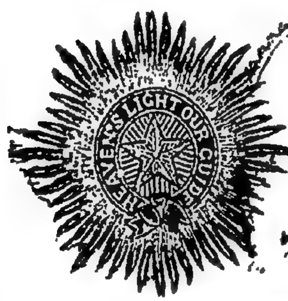


श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

# श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

# श्रीमद्भगवद्गीता





उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

## नवमोऽध्यायः

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम वार | अलवरराजधान्याम | सम्वत् १९८५ |
| | श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये | विक्रमी। |
| १००० | मुद्रितः | सन् १९२८ ई० |



● तत्सद्ब्रह्मणे नमः ●

श्रीनिखिलजगदात्मने नमः

श्रीपरब्रह्मपरमात्मने नमः ।

अथ



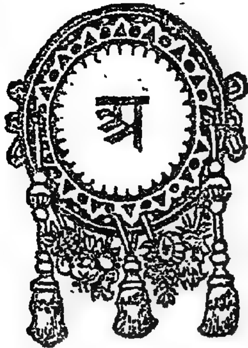

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

## * नवमोऽध्यायः *

ॐ अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो

अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेतमायन् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! ( ऋ० अ० ६ मं० ३ वं० १५
मं० २ )



अव्यस्तान्व्यमपूर्वमर्थधिषणौगाह्यं पुमर्थास्पदम्,
लक्ष्यं लक्षणभेदतः श्रुतिगतं निर्द्धूतसाध्यार्थकम् ।
आम्नायान्तविभातविश्वविभवं सर्वाविरुद्धं पदम्,
सत्यं ज्ञानमनर्थसार्थविधुरं ब्रह्म प्रपद्ये सदोम् ॥१॥

नवीननीरदश्यामं नीलेन्दीवरलोचनम् ।
वल्लवीनन्दनं वन्दे कृष्णं गोपालरूपिणम् ॥ २ ॥

कदम्बकुसुमोद्भवनमालाविभूषितम् ।
स्फुरद्बर्हदलोद्भिन्नीलकुञ्चितमूर्द्धजम् ॥ ३ ॥

गण्डमण्डलसंसर्गि चलत्कुञ्चितकुन्तलम् ।
स्थूलमुक्ताफलोदारहारोद्योतितविग्रहम ॥ ४ ॥

अहा ! आज प्रचण्ड शंखध्वनिसे कान फटते चलेजारहे हैं पृथ्वीसे लेकर आकाशपर्य्यन्त ध्वनि ही ध्वनि व्यापरही है। ऐसा अनुभवहोता है, मानो वीररस घोरघमण्डघटाका रूप धारणकिये मत्त हो गरजरहा है जिसके मध्य बाणोंकी चमक चञ्चलचपलाके समान प्रकट हो-होकर लुप्त होजायाकरती है। सहस्रों श्वेत पताकाओंका फहराना ऐसी सुन्दर शोभा देरहा है मानो बककी पंक्तियां आकाशमें उड़रही हों। इधर जगदभिराम पूर्णकाम श्रीघनश्याम अपने गम्भीर वचनोंकी सुधा-धाराझरीसे अर्जुनके हृदयरूप उपवनमें दृढ़ता तथा अनेक युद्धकलाओंकी निपुणतारूप लतिकाओंको सींच-सींचकर प्रफुल्लित कररहे हैं।

हरिभक्तो ! तथा रणमें स्थिर रहनेवाले योद्धाओं ! आओ ! आओ ! और भगवन्मुखारविन्दसे मुक्तिकी शिक्षारूप वर्षाकी झरीमें टुक खडे होकर संसाराग्निसे तप्त हृदयको शीतल करलो ? और देवयानरूप रथपर सवार हो इस संसाररूप महाभारत-संग्रामके विजय करनेका उपाय सीखलो ! चलो ! अब सुनें भगवान् अर्जुनसे क्या कहते हैं ?

श्रीभगवानुवाच—

मू०— इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
॥ १ ॥

पदच्छेदः— इदम् ( साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं प्राग्बहुशो-क्तमग्रे च वक्ष्यमाणमधुनोच्यमानम् ) गुह्यतमम् ( अतिगोप्यम् ) विज्ञानसहितम् ( अनुभवयुक्तम् ) ज्ञानम् ( ध्येयाद्विलक्षणं ज्ञप्ति-मात्रस्वरूपम् ) तु, अनसूयवे ( दोषदृष्टिरहिताय ) ते ( तुभ्यम् ) प्रवक्ष्यामि ( कथयिष्यामि ) यत् ( ज्ञानतत्वम् ) ज्ञात्वा ( साक्षा-त्कृत्य ) अशुभात् ( सर्वदुःखहेतोः संसारबन्धनात् ) मोक्ष्यसे ( मुक्तो भविष्यसि ) ॥ १ ॥

पदार्थः— ( इदम् ) यह जो ( गुह्यतमम् ) अत्यन्त गुप्त ( विज्ञानसहितम् ) अनुभवसहित ( ज्ञानम् ) परमात्मस्वरूपका ज्ञान है, ( तु ) निश्चयकरके ( ते ) तुझ ( अनसूयवे ) दोषदृष्टि-रहित अर्जुनकेलिये ( प्रवक्ष्यामि ) मैं कथन करूंगा ( यत् )

जिसको ( ज्ञात्वा ) जानकर ( अशुभात् ) परमदुःखका कारण जो यह अशुभ संसारबन्धन तिससे ( मोक्ष्यसे ) तू मुक्त होजावेगा ॥ १ ॥

**भावार्थः—** अब जानना चाहिये, कि मुक्ति दो प्रकारकी है एक "क्रममुक्ति" दूसरी "साक्षान्मुक्ति"। इनमें पितृयानमार्गसे जानेवालोंको तो किसी प्रकारकी मुक्ति लाभ नहीं होती उनको तो चन्द्रोपलक्षित स्वर्गादिके सुखोंको भोगकर फिर इस संसारमें लौट आना पडता है, पर जो देवयानमार्गके जानेवाले हैं उनको क्रममुक्ति की प्राप्ति होती है अर्थात् मरणके पश्चात् अग्नि, ज्योति, शुक्ल, अर्थात् उत्तरायण मार्ग होकर ( जिसका वर्णन पूर्व अध्यायमें कर आये हैं ) धीरे-धीरे ब्रह्मलोकको पहुंच फिर वहांसे भगवत्स्वरूपमें जामिलते हैं।

इन दोनोंसे इतर जो साक्षान्मुक्ति है वह केवल हरिभक्तोंको जो सम्यग्दर्शी हैं, भगवत्को सर्वत्र सब कीटपतंगोंमें भी देखरहे हैं और अहर्निश भगवत्स्वरूपमें मग्न सर्वप्रकारकी कामनाओंको हृदयसे दूर कररखा है उनहीको प्राप्त होती है। ऐसे प्राणी जहां मृत्युको प्राप्त होते हैं वहांही झट भगत्स्वरूपमें लय होजाते हैं इसीको साक्षान्मुक्ति कहते हैं। उनको देवयान वा पितृयानकी अपेक्षा नहीं रहती। यह साक्षान्मुक्ति केवल ज्ञानीभक्तोंको ही प्राप्त होती है अर्थात् आर्त्त, अर्थार्थी इत्यादि चार प्रकारके भक्तोंमें उसी भक्तको लाभ होती है जो ज्ञानतत्वसे परिपूर्ण हैं। तात्पर्य्य यह है, कि

आर्त्तादि चार प्रकारके भक्तोंमें सर्वदा भगवत्में युक्त तथा एक भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है इसलिये भगवान् तिस ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय है तथा सो ज्ञानी उस परमेश्वरको अत्यन्त प्यारा है।

ऐसेही ज्ञानी—भक्तकेलिये साक्षान्मुक्तिका उपदेश कियागया है इसी कारण भगवान् इस नवें अध्यामें जो ज्ञानी-भक्तोंको प्राप्त होता है तिस ज्ञानका वर्णन करेंगे।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आठवें अध्यायमें भगवत्के ध्येयस्वरूपका वर्णन कियागया और इस नवें अध्यायमें भगवान् अपना ज्ञेयस्वरूप वर्णन करेंगे।

यह अध्याय सम्पूर्ण गीतामें अत्यन्त क्लिष्ट है, जिसके समझनेकेलिये प्राणीको वेदान्तका कुछ ज्ञान होना चाहिये तथापि यथाशक्ति मैंने ऐसी साधारण भाषामें कहनेका यत्नकिया है जिससे सर्वसाधारण भी समझजावें।

इस ज्ञानतत्वके विषय भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि [ **इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे** ] हे अर्जुन! तुझ निर्दोष अधिकारीके निमित्त मैं यह अत्यन्त गूढ रहस्य कहूंगा। "इदम्" कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य यह है, कि इस रहस्यके विषय बहुत कुछ मैं पहले कह आया हूं और जो कुछ मैं आगे कहूंगा तथा अब कहरहाहूं ये सब गूढ रहस्य हैं क्योंकि परमात्मा स्वयं गुप्तस्वरूप है और गूढ है। "ॐ **अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि**" इस श्रुतिके वचनानुसार जो कुछ आजतक बडे-बडे बुद्धिमानों तथा ऋषि महर्षियोंकी बुद्धि और विचारमें आया उससे वह महाप्रभु विलग

रहा तथा जो कुछ आजतक किसीपर विदित नहीं हुआ अब आगे विदित होगा उससे भी वह अन्तर्यामी घट-घटव्यापी सदा अविनाशी त्रिलोकीनाथ विलक्षण और न्याराही रहेगा। तथा "यत्र वाचो निव-र्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" जहां मनके साथ वचन जिसे प्राप्त न कर रुकजाते हैं । मुख्य अभिप्राय यह है, कि उसके गुप्तस्वरूपके जाननेमें सब इन्द्रियां शक्तिरहित होजाती हैं । इसी कारण वह जगद्र-क्षक गुप्त है, गुप्तस्वरूपसे सबोंका साक्षी होरहा है और सबके शुभा-शुभकर्मोंको देखरहा है पर किसीपर प्रकट नहीं होता । अन्त-र्यामीरूपसे सबोंको अपनी आज्ञामें रखछोडा है सबोंमें सृष्टिका कार्य करवारहा है पर कोई यह नहीं जानता, कि वह कैसा है और किस-प्रकार सब जड चेतनको अपनी आज्ञामें कररखा है ? यहांतक उसने अपनेको गुप्त रखलिया है, कि बडे-बडे बुद्धिमानोंमें उसके होने न होनेका विवाद चलरहा है कोई कहता है 'अस्ति' अर्थात् 'है' और कोई कहता है, कि नास्ति "नहीं है"। तहां श्रीगौडपादाचार्य माण्डूक्योपनिषत्की कारिका करतेहुए कहते हैं, कि "अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति वा पुनः। चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः" (गौडपादीयकारिका चतुर्थप्रकरण)

अर्थ— है, नहीं है, है, नहीं है, पुनः नहीं है, फिर कोई कहता है, वह चल है, कोई कहता है, स्थिर है और कोई दोनोंका अभाव मानता है । अर्थात् न चल कहता है न स्थिर एवं उसके जाननेमें असमर्थ ये बालकगण उसका आवरण करते हैं । यहां बालक कहनेसे यथार्थ बालकका बोध नहीं करनाचाहिये वरु बडे बडे

विद्वान् उसके रहस्यके जाननेमें बालकहीके समान हैं यह तात्पर्य है। एवम्प्रकार जब महान् पुरुषोंसे भी अगोचर होरहा है अर्थात् इनसे भी वह गुप्त है तो मूढोंकी क्या गिनती है? तहां श्रुति भी कहती है, कि

" ॐ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन "
( मु० ३ खं० २ श्रु० ३ में देखो )

अर्थ— न यह आत्मा प्रवचनसे अर्थात् वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे न (मेधया) बुद्धिसे न बहुत वार्त्ताओंके श्रवणकरनेसे लाभ होता है क्योंकि यह सदा गुप्त है (आत्मासे यहां परमात्माका ग्रहण करना।)

फिर इसी मुण्डककी श्रुति कहती है, कि " ॐ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा " ( मु० ३ खं० १ श्रु० ८ में देखो )

अर्थ— वह महाप्रभु आँखसे ग्रहण नहीं होता, अर्थात् उसे आंखें नहीं देखतीं, न वचनसे उसके विषय कुछ बोलाजासकता, न अन्य इन्द्रियोंसे, न तपसे और न कर्मसे वह ग्रहणकरनेमें आता है। क्योंकि वह सदा ही गुप्त है। इसीलिये भगवान्ने इस श्लोकमें इस ब्रह्मज्ञानको " गुह्यतम " कहा।

शंका— जब वह इतना गुप्त है, कि किसी प्रकार ग्रहणमें नहीं आता तो भगवान् अर्जुनसे ऐसे गूढरहस्यके कहनेकी प्रतिज्ञा कैसे करते हैं?

समाधान— यद्यपि वह महाप्रभु गुप्त है इसलिये उसका रहस्य भी गूढ है पर जैसे मलीन जलमें अथवा मलीन दर्पणमें अपना

मुँह नहीं दीखता पर वह जल वा दर्पण सर्वप्रकारके मलोंसे शुद्ध होजाता है तब मुख स्वच्छरूपसे देखनेमें आता है। इसी प्रकार जब विषयोंके मलोंसे अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब वह ब्रह्मज्ञान आपसे आप झलकने लगजाता है। इसी कारण भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति "अनसूयवे" पदका प्रयोगकिया क्योंकि तू असूयादि दोषोंसे रहित है अर्थात् तेरा अन्तःकरण पूर्वजन्मार्जितकर्मोंके बलसे शुद्ध होरहा है इसी कारण किसी प्रकारकी दोषदृष्टि तेरे अन्तःकरणमें नहीं है अतएव तुझ ऐसे असूयारहित अन्तःकरणवालेकेलिये मैं अति गूढ इस रहस्यको कहूंगा शंका मत करो!

वह गूढ रहस्य कैसा है! सो भगवान कहते हैं [**ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**] यह ज्ञानतत्व जो विज्ञान अर्थात् अनुभवके सहित है जिसे जानकर तू अशुभ जो संसारबन्धन तिससे छूटजावेगा।

दूसरी बात यह है, कि यह गुप्ततत्व भगवान्‌से गुप्त नहीं रहसकता अन्य देव देवी ऋषि महर्षियोंसे गुप्त कहागया है न कि भगवान्‌से। जैसे किसी प्रकारका गुप्तधन उस धनके रखनेवालेसे गुप्त नहीं रहसकता चाहे धनवाला उस धनको काममें लावे वा न लावे। इसी प्रकार श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र जो स्वयं धनवाले हैं तो भला उनसे यह परमधन कब गुप्त रहसकता है? इसलिये प्रतिज्ञा करते हैं, कि हे अर्जुन! तेरेलिये मैं इस गुप्तरहस्यको अवश्य कहूंगा अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करूंगा।

अब यहां भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि " ज्ञानं विज्ञानसहितम् " में ज्ञानको विज्ञान सहित अर्थात पूर्ण अनुभव सहित कथन करूंगा ।

अनुभव क्या है ? सो कहते हैं— ( अनु+भू+भावे+अप् ) स्मृतिभिन्नज्ञानम् । अनुमानादि धारावाहिज्ञानम् । उपलम्भः । अर्थात् स्मृतियोंसे भिन्न जो ज्ञान हो, अनुमानादि प्रमाणोंसे जो विचारमें आवे वही ( अनुभव ) कहलाता है उसीको " विज्ञान " कहते हैं । "चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः । विज्ञानमितरं विद्या येन धर्मो विवर्द्धते । अधीत्य विधिवद्विद्यामर्थञ्चैवोपलभ्यतु । धर्मकार्य्यान्निवृत्तश्चेन्न तद्विज्ञानमिष्यते ( कौर्म १४ अध्यायमें देखलो )

अर्थ— चौदह विद्याओंकी जो यथार्थ धारणा है वह तो विद्या है अर्थात् ज्ञान है पर विज्ञान वह है जो इनसे इतर है जिससे धर्मकी वृद्धि होती है । यदि कोई प्राणी विधिपूर्वक चारों वेदोंको उनके अंगों तथा उपवेदोंके साथ अध्ययन करलेवे और उनके यथार्थ अर्थोंको भी भली भांति जानलेवे पर धर्मके कार्य्योंमें उसकी प्रवृत्ति न होवे तो वह विज्ञानी नहीं कहाजासकता ।

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि विज्ञान अर्थात् अनुभव इन विद्याओंसे इतर है जो महात्माओंके मस्तिष्कमें आपसे आप उदय हो आता है । इस विज्ञानके द्वारा उन सब विद्याओंको जो गुरुके द्वारा उपार्जन कीजाती हैं उनसे एक शक्ति उत्पन्न होती है और उसी शक्ति द्वारा प्राणी प्रत्येक विद्याके रहस्यको विस्ताररूपसे जानलेता है । तात्पर्य

यह है, कि थोडी भी विद्या अर्थात् ज्ञान विज्ञानके साथ मिलनेसे विस्तृत होजाती है ।

ऋषि महर्षियोंने संसारके कल्याण निमित्त जितनी बातें फैलायी हैं सब विज्ञानसेही अर्थात् अनुभवसे ही प्रकटकी हैं। जैसे कार्पाससे वस्त्रोंका बुनना, वस्त्रके खण्डमें तेल वा घृत मिलाकर प्रकाश करना तथा लोहसे खुरपा, खुरपी, हल, कुदाल इत्यादि बनाकर पृथ्वी खोदना इत्यादि नाना प्रकारके संसृतिव्यवहारोंके चलानेके लिये अनुभव द्वारा बहुतसी बातें प्रकटकीं। फिर जिस अनुभव द्वारा संसृतिउपकारके लिये जब महर्षियोंने इतना परिश्रम किया तब कब सम्भव है, कि उसी अनुभव द्वारा पारलौकिक लाभ पहुंचानेकेलिये परिश्रम न कियाहो ? प्रमाण श्रुतिः— "ॐ विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते" (तैत्तिरीय अ० २ ब्रह्मानन्द बल्ली पञ्चम अनुवाकमें देखो )

अर्थ—विज्ञान यज्ञको विरतार करता है अर्थात् वेदोंमें जो यज्ञका विधान है उस विधानका विस्तारे नाना प्रकारके कर्मोंका विस्तार करता है। तिनके मर्म समझानेके निमित्त विज्ञानकी आवश्यकता है। एक-एक यज्ञ तथा एक—एक छोटे कर्मका अभिप्राय भी विज्ञान द्वारा यथार्थ रूपसे समझमें आजाता है । इसका विस्तार पूर्वक वर्णन अवकाश पाकर आगे किया जावेगा । पर इस स्थानपर केवल इतना ही कहना बहुत है, कि विज्ञान द्वारा ज्ञानका यथार्थ मर्म समझमें आजाता है। यह विज्ञान स्वयं अपने चैतन्यकी विभूति है और वेद शास्त्रोंके द्वारा केवल इसकी उन्नति होसकती है पर उत्पत्ति नहीं । महापुरुषोंके

ष्कमें यह आपसे आप उत्पन्न होता है, षड्दर्शन जो इस समय सम्पूर्ण विश्वमें फैल रहे हैं केवल महात्माओंके मस्तिष्कके अनुभव हैं। जैसे जैसे जिस महापुरुषके मस्तिष्कमें जिन नवीन-नवीन तत्वोंका अनुभव हुआ वही एक शास्त्र बनगया। विज्ञान स्वयं चैतन्यकी विभूति होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप ही है। इसी कारण श्रुतिने कहा है, कि "ॐ विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते" अर्थात् सब देवता विज्ञानरूप ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं।

इसी विज्ञान द्वारा ज्ञानका यथार्थ मर्म समझमें आता है इसी कारण भगवान्‌ने विज्ञान सहित ज्ञानोपदेश करनेके लिये प्रतिज्ञा की है। सो जब पुरुष विज्ञान-तत्त्वसे विभूषित होता है तब कहने लगता है, कि " किं करोमि ? क्व गच्छामि ? किं गृह्णामि ? त्यजामि किम् ? आत्मना पूर्यते सर्वं महाकल्पाम्बुना यथा " अर्थात् मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? क्या ग्रहण करूं ? और क्या त्यागदूँ ? क्योंकि जैसे महाकल्पके समय सर्वत्र जल ही जल भरा दीखपडता है इसी प्रकार सर्वत्र आत्मा ही आत्मा फैलाहुआ बोध होता है। तब ही यों अनुभव करने लगता है, कि जिसकी दृष्टिमें आत्मज्ञान नहीं है उसीकी दृष्टिमें यह प्रपंच भासता है और वही अज्ञानी समझने लगता है, कि यह दुःख और यह सुख है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धन है, यह शत्रु है, यह मित्र हैं इत्यादि-इत्यादि। जैसे किसी प्राणीके नेत्रोंमें कामला ( पीरी ) रोग होजानेसे जिधर देखता है सर्वत्र पीला ही पीला दीख-पडता है। इसी प्रकार जिसकी दृष्टिमें अनात्मदोष पड़गया है उसकी

दृष्टिमें प्रपञ्च ही प्रपञ्च भासता है। इसी प्रकार ज्ञानद्वारा प्राणी सब विषयोंको त्यागते-त्यागते जब निष्कामकर्मोंके सम्पादनद्वारा अन्तः-करणकी शुद्धि प्राप्त करलेता है तब उसे सर्वत्र सब वस्तु ब्रह्मस्वरूप ही भासने लगजाती हैं फिर ग्रहण, त्याग, बन्ध, मोक्ष, सबको भ्रमरूप जानता है क्योंकि उसके अन्तःकरणकी पीरी छुटजानेसे फिर वह कहीं किसी प्रकारका बन्धन देखता ही नहीं। यहां अर्जुनके प्रति "मोक्ष्यसेऽशुभात्" कहनेसे भगवान्‌का यही तात्पर्य है, कि हे अर्जुन! यद्यपि तेरा अन्तःकरण असूया दोषसे रहित है तथापि उस अन्तःकरणरूप नेत्रके किसी कोणेमें यदि यह सम्पूर्ण संसार दुःख रूप पीतवर्ण भासरहा हो तो वह दोष इस मेरे विज्ञानसहित ज्ञानकी शिक्षारूप शलाका ( सलाई ) से स्वच्छ होजावेगा और सर्वत्र तुझको ब्रह्मरूपही भासने लगजावेगा ॥ १ ॥

अब इस गुप्त विज्ञान सहित आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा उप-जानेके तात्पर्यसे भगवान् अगला श्लोक कहते हैं—

मू०— राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

पदच्छेदः— इदम्, उत्तमम् ( उत्कृष्टतमम् ) पवित्रम् ( अनेकजन्मसहस्रसंचितमपि धर्माऽधर्मादि समूलं कर्म क्षणमात्राद्भस्मी-करोति यतोऽतः सर्वेषां पावनानामपि पावनम् ) राजगुह्यम् ( सर्वेषां गुप्ततत्त्वानां राजा ) राजविद्या ( सर्वाऽविद्यानाशकत्वात् सर्वासां विद्यानां राजा ) प्रत्यक्षावगमम् ( अपरोक्षेण सुखादेरिवावगमो यस्य ।

दृष्टफलम् ) सुसुखं कर्तुम् ( अनयाससाध्यम्। सुखेनैव सम्पादयितुं शक्यम् ) धर्म्यम ( अनेकजन्मार्जितसुकृतसाध्यत्वात् धर्मादनपेतम् ) अव्ययम् ( अक्षयफलम् ) ॥ २ ॥

**पदार्थः—** ( इदम् ) यह जो ( उत्तमम् ) अत्यन्त श्रेष्ठ ( पवित्रम ) परम पवित्र ( राजगुह्यम ) जितने गुप्त तत्व हैं तिनका राजा अर्थात् अत्यन्त गुप्त तत्व होनेके कारण ( राजविद्या ) जो सब विद्याओंका राजा है ( प्रत्यक्षावगमम् ) जिसका फल प्रत्यक्ष-रूपसे जाननेमें आता है अर्थात् तुरंत देखाजाता है इसलिये ( सुसुखं कर्तुम ) जो अनायास साधन करने योग्य है तथा ( धर्म्यम् ) धर्म-विरुद्ध न होकर सर्वधर्मानुकूल है इसी कारण ( अव्ययम ) अक्षय है जिसका कभी नाश नहीं होता ( ऐसा यह विज्ञान सहित ज्ञान है ) ॥ २ ॥

**भावार्थः—** भगवान इस श्लोकमें भिन्न-भिन्न उत्तम विशेष-णोंके साथ विज्ञान सहित ज्ञानकी स्तुति करते हुए कहते हैं, कि [ **राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्** ] यह जो विज्ञान सहित ज्ञान है सो " राजविद्या है " सब विद्याओंका राजा है पवित्र है और अत्यन्त श्रेष्ठ है अर्थात् मतोंके भेदसे जो १४ अथवा १८ विद्याएं हैं उन सबोंका राजा है ।

वे १४ वा १८ विद्याएं कौन हैं सो कहते हैं— " अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थ-शास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥ ( इति प्रायश्चित्ततत्वम् )

अर्थ— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ( वेदोंके छः अंग ) ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ( चारोंवेद ) मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये सब मिलकर १४ विद्याएं हुईं। यदि इनमें चारों उपवेद अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र मिलादिये जावें तो सब मिलकर अष्टादश १८ विद्याएं होती हैं सो भगवान् कहते हैं, कि इन सब विद्याओंका राजा अध्यात्म-तत्व है क्योंकि प्रजा तथा मन्त्री इत्यादिकी शोभा बिना राजाके नहीं होती। इसी प्रकार यह गूढ रहस्य जो अध्यात्मविद्या है जिसके विषय अर्जुन आठवें अध्यायमें प्रश्न करचुका है, कि "अध्यात्मं किम्" जिसका उत्तर संक्षिप्त रीतिसे भगवान् आठवें अध्यायमें देचुके हैं उसीको पुनः इस अध्यायमें विस्तार पूर्वक कहनेके तात्पर्यसे पहल इसकी स्तुति करते हैं, कि यह विद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या ही ( राज-विद्या ) है जिससे अन्य सब विद्याओंकी शोभा होती है । क्योंकि अन्य विद्याओंकी प्राप्तिसे प्राणी केवल "श्रोत्रिय" कहाजासकता है "ब्रह्मनिष्ठ" नहीं और जब इस गुप्त राजविद्याको जानलेता है तब श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ भी कहाजाता है । अर्थात् सोनेके पक्षीके तुल्य उडकर मोक्षके रत्नजटित वृक्षपर बैठ आनन्दकी सुरीली ध्वनि भर-भरकर मत्त होजाता है । इस विद्याके बिना अन्य विद्याओंसे सुशोभित प्राणी ऐसा दीखपडता है जैसे किसी स्त्रीको सब भूषणोंसे भूषित करडालिये पर एक वस्त्र न दीजिये तो डाकिनी सी दीखपडेगी। इसी कारण भगवान इस विद्याको "राजविद्या" कहते हैं।

अब कहते हैं, कि यह विद्या कैसी है, कि राजगुह्यम् गुप्तरहनेवाले तत्वोंका राजा है अर्थात् जितनी वस्तु आजतक गोपनीय कही गयी हैं उन सबोंमें भी अत्यन्त गुप्त है जिसके विषय श्रुति कहती है, कि " अविदितादधि " जितनी वस्तु अविदित हैं उनसे भी पश्चात् अर्थात् न्यारी और विलक्षण है। फिर इस विद्याके विषय श्रुतिका वचन है, कि " ॐ वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् । नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः " ( श्वेता० अ० ६ श्रु० २२, २३ )

अर्थ— यह आत्मविद्या वेदान्तमें अन्य सब गुप्त तत्वोंसे भी अत्यन्त गुप्त है जिसका कथन कल्पकी आदिमें किया गया है । इसलिये यह केवल शान्तात्माको देना चाहिये जो कुपुत्र हो वा कुशिष्य हो उसे भूलकर भी नहीं देना चाहिये पर जिस प्राणीको भगवत्में परमभक्ति हो तथा श्रीगुरुदेवमें भी उतनाही प्रेम हो जितना भगवत्में तो ऐसे प्राणीकेलिये महात्मा पुरुष इस रहस्यको प्रकाश करदेते हैं । इसी कारण भगवान्ने इस विद्याको राजगुह्य कहा। फिर भगवान् कहते हैं, कि पवित्रम् यह परमपवित्र है अन्य सब पावनकरनेवालोंसे श्रेष्ठ पावनको भी पावन करनेवाला है। क्योंकि एक-एक पापकेलिये शास्त्रोंने विलग-विलग एक-एक प्रायश्चित्त लिखा, पर सो भी परमपावन करनेवाला नहीं । क्योंकि प्रायश्चित्त करनेके पश्चात् फिर प्राणी उसी पापको करने लगजाता है अर्थात् प्रायश्चित्तादिकर्म सदाकेलिये प्राणीको पवित्र नहीं करसकते पर यह अध्यात्मविद्या अर्थात्

विज्ञानसहित ज्ञान इस प्रकारे पवित्र करदेता है, कि सहस्रों जन्मोंके दुष्कर्मोंको नाशकरे शुद्ध स्वर्णके समान अथवा शुद्ध गंगाजलके समान सदाकेलिये पवित्र और निर्मल करदेता है इसलिये इसको 'पवित्रम्' कहकर स्तुति करते हैं। फिर यह गुह्यतत्व कैसा है, कि 'उत्तमम्' सबसे श्रेष्ठ है। इसे उत्तम और श्रेष्ठ इसलिये कहा, कि इसीके द्वारा वह ब्रह्म जो स्वयं सबोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है जानाजाता है और इस अध्यात्मविद्या द्वारा जो प्राणी उस श्रेष्ठ और ज्येष्ठ ब्रह्मको जानता है वह भी श्रेष्ठ और ज्येष्ठ होजाता है। प्रमाण श्रु०— " ॐ यो ह वै श्रेष्ठञ्च ज्येष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति " ( छान्दो० उ० प्र० ५ श्रु०१ )

अर्थ— जो प्राणी ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वही सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । इसी कारण भगवान्‌ने इस गूढ रहस्यको उत्तम कहा क्योंकि यह अपने जाननेवालेको उत्तम बनादेता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि यह राजविद्या [ प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ] प्रत्यक्ष रूपसे बोधमें आनेवाली धर्मयुक्त, सुख पूर्वक सम्पादन करने योग्य और अविनाशी है अर्थात् जिसका फल प्रत्यक्ष आपसे आप ऐसे देखनेमें आता है जैसे आम खानेवालोंको आमकी मिठाई और मिरच खानेवालोंको मिरचकी तिताई तथा नीबू खानेवालोंको नीबूकी खटाईका बोध बिना किसीके समझाये आपसे आप समझमें आजाती है। यदि शंका हो, कि इन फलोंके खानेवाले तो बार-बार इन फलोंको खाते हैं इसलिये इनको

इनके रसकी स्मृति बनी रहती है अतएव आपसे आप रसोंका बोध होजाता है पर यह राज-विद्या तो एकही बार प्राप्त होनेसे मुक्त करदेती है इसलिये इसकी स्मृति तो रह नहीं सकती जो प्रत्यक्ष हुआ करे फिर इसे ( प्रत्यक्षावगमम् ) क्यों कहा ? तो उत्तर यह है, कि 'प्रत्यक्षावगमम्' शब्दका दो प्रकार अर्थ कर सकते हैं प्रथम तो यह, कि "**अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानम्**" अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु-तत्त्वका बोध होवे उसे '**अवगम**' अर्थात् '**मानप्रमाण**' कहते हैं। क्योंकि प्रमाण द्वारा सबका अवगम होता है। दूसरा अर्थ है "**अवगम्यते प्राप्यत इत्यवगमः फलम्**" अर्थात् किसी कार्यकी पूर्त्ति होजानेसे उसके कर्त्ताको जो कुछ फल प्राप्त होवे उसे 'अवगम' कहते हैं सो यहां भगवान्‌के कहनेका यह तात्पर्य है, कि इस अध्यात्मविद्याका प्रमाण भी प्रत्यक्ष रूपसे देखाजाता है, कि जो ज्ञानी होता है उसकी वृत्ति तदाकार ज्ञानमय होजाती है और फल भी प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि वह संसार-बन्धन से छूट जाता है जिसको भगवान् पहले ही कहआये हैं, कि '**मोक्ष्य-सेऽशुभात्**'। जब किसी वस्तुका ज्ञान होजाता है तब उस समय प्राणी यह कहने लगजाता है, कि मैंने पहलेसे इस वस्तुको कुछ भी नहीं जाना था अब जाना है और अब मेरी अज्ञानता दूर होगयी है। इससे बोध होता है, कि इस ज्ञानतत्वकी प्राप्ति बार-बार नहीं होती एक ही बार होनेसे इसके पूर्ण फलकी प्राप्ति होजाती है और पूर्ण रसका बोध होजाता है यही तो इसमें विचित्रता है। फलोंसे इसकी उपमा मत दो क्योंकि यह अनुपमेय है।

जैसे दो प्रकारके अन्धे होते हैं एक वह जो जन्मान्ध है दूसरा वह जो युवा वा वृद्ध होनेपर अन्धा होगया है। अब मानलो, कि वैद्यने दोनोंकी आंखें खोलदी हैं जो जन्मान्ध है वह तो आंख खुलते ही इस सृष्टिको जब देखेगा तब उसे सब बातें नवीन समझमें आवेंगी और सूर्य, चन्द्र इत्यादिको देख परम प्रसन्नताको प्राप्त होगा और ऐसा कहेगा, कि मुझे पहले सृष्टिकी वस्तुओंका कुछ भी ज्ञान नहीं था अब ज्ञान हुआ है। यहां उस जन्मान्धको सृष्टिका प्रत्यक्ष होजाना ही आंख खुलनेका प्रमाण है और सृष्टिकी वस्तु-तस्तुसे सुख उठाना फल है पर जो मध्यमें अन्धा होगया है वह आंख खुलनेसे केवल प्रसन्नताको प्राप्त होगा अतः वह यह नहीं कह सकता, कि मैंने पहले पहल इस सृष्टिको देखा है। इसी प्रकार पुरुषको जब यह अध्यात्म-विद्याका लाभ होता है तब वह पहले पहल आंख खुलना समझ कर कारण और फल दोनोंको एक ही समय जानलेता है इसलिये इसे 'प्रत्यक्षावगम' अर्थात् दृष्टफल कह सकते हैं। अतएव यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है।

अब यदि फिर ऐसी शंका हो, कि जब यह प्रत्यक्षावगम है तो इसमें कुछ भी परिश्रम वा पुरुषार्थकी आवश्यकता न होगी। इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं, कि ऐसा मत समझो वरु यह राजविद्या ( धर्म्यम् ) धर्मोंका फल है अर्थात् अनेक जन्मोंसे जो प्राणीने धर्मविहित कार्य किये उन सब धर्मोंके फलने एकत्र होकर आज उसकी बुद्धिको ऐसा बनादिया है, कि इस राजविद्याका अधिकारी होगया सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " तत्र तं बुद्धि-

संयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ” ( देखो अ० ६ श्लो० ४३ ) अर्थात् योगभ्रष्ट जब किसी पवित्र धनवान कुलमें अथवा किसी योगीके कुलमें जन्म लेता है तब उसे पूर्वदेहसम्बन्धिनी ब्रह्मविषयिणी बुद्धि आपसे-आप प्राप्त होती है ।

इसी कारण भगवान्‌ने यहां “ सुसुखं कर्तुम् ” प्राप्ति करनेमें अत्यन्त सुखकारी कहा अर्थात् यह बिना क्लेश सुखसे लाभ होजाने वाली है क्योंकि यह सिद्धान्त है, कि जिसकी बुद्धि पूर्व जन्मके संस्कारानुसार जैसी जिस विद्याकी ओर बनी बनायी आई है उसको उस ...याके लाभ करनेमें तनक भी परिश्रम नहीं होता । प्रायः देखाजाता है, कि छो... ...े-छोटे बालक बिना किसी सुर तानके सीखेहुए और बिना सरगमके साधन कि... ...ेहुए ऐसा सुन्दर आलाप लेकर गान करते हैं, कि बडे २ गानविद्याके जानन... ...वालोंसे भी नहीं होसकता फिर उसी गाने वाले बच्चेका दूसरा भाई बरसों गु... ...णियोंके पास सर पटक कर मर-जाता है पर उससे उस प्रकारका सुन्दर गान ... नहीं होसकता । फिर भगवानके वचनसे यह सिद्ध होता है, कि पूर्वदेहसम्ब... ...न्धिनी बुद्धि को प्राणी बिना आयास प्राप्त करलेता है तो अनेक जन्मोंके परिश्रमा का फल इस जन्ममें अवश्य उस विद्याकी प्राप्तिमें सुखावह होगा और शीघ्र फल दिखलावेगा ।

अब शंका यह है, कि जब यह अनायास प्राप्त होती है तो इस का फल भी छोटा-मोटा साधारण होता होगा ? क्योंकि जो वस्तु कठिनतासे प्राप्त होती है वह कुछ विशेषता रखती है और जो अत्यन्त

सुगमतासे प्राप्त होती है वह साधारण ही होती है इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि ' अव्ययम् ' ऐसा नहीं वरु इसका फल अव्यय है अर्थात् अविनाशी है कभी नाश होनेवाला नहीं है ।

अन्य विद्याओंसे इस अध्यात्मविद्यामें यही तो विशेषता है, कि अन्य विद्याओंका फल नश्वर है शरीरके नाश हुए नाश होजाता है पर इस राजविद्याका फल अविनाशी है कभी नाश नहीं होता यह निश्चय है। क्योंकि इसका फल साक्षात् मोक्ष ही है अन्य कुछ नहीं ।

और यद्यपि यह साधन सुखावह है तथापि इसका फल [illegible] महान् है । [illegible] ब्रह्मसूत्रका प्रमाण है— " पुरुषार्थोऽतः श[illegible] [illegible]ब्दादिति बादरायणः " अर्थात् इस विज्ञानसहित ज्ञानसे [illegible] पुरुषार्थकी सिद्धि होती है। ऐसा कैसे जानाजाता है ? तो उ[illegible]र यह है, कि शब्दात् अर्थात् श्रुतियोंसे जानाजाता है ऐसा [illegible] बादरायणाचार्यका मत है ॥ २ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जब यही मार्ग अत्यन्त सुलभ है और महान् फल मोक्षका देनेवाला है तो क्या कारण है ? कि संसारी प्राणी ऐसे सुलभ मार्गको छोड तपस्यादि कठिनकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा बहुतेरे प्राणी जो संसारदुःखको बार-बार मातृ-गर्भमें आकर पाते हैं क्यों नहीं मोक्षफलका लाभ कर सदाकेलिये सुखी होजाते हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले हे अर्जुन ! सुन! मैं तुझे इसका कारण स्पष्टकर जनाता हूं ।

मू०— अश्रद्दधानाः पुरुष[illegible] धर्मस्यास्य परन्तप ! ।
अप्राप्य मां [illegible] निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

पदच्छेद [illegible] — [ हे ] परन्तप ! ( परामश्रद्धादीन शत्रून् तापयन् [illegible] अज्ञाने श्रद्धां कर्त्तुंयोग्यार्जुन ! ) अस्य, धर्मस्य ( विज्ञान-स[illegible]हतज्ञानस्य ) अश्रद्दधानाः ( श्रद्धाविरहिताः असुरसम्पदमारूढा नास्तिकाः ) पुरुषाः ( जनाः ) माम् ( परमेश्वरम ) अप्राप्य ( अलब्ध्वा ) मृत्युसंसारवर्त्मनि ( मृत्युयुक्तसंसारस्य नरतिर्यगादिप्राप्तिमार्गे ) निवर्त्तन्ते ( निश्चयेनावर्त्तन्ते ) ॥ ३ ॥

पदार्थः— हे ( परन्तप ! ) अश्रद्धादि शत्रुओंको तापदेनेवाला अर्जुन ! ( अस्य, धर्मस्य ) इस विज्ञान सहित ज्ञानरूप धर्मके सम्पादन करनेमें जो ( अश्रद्दधानाः ) नहीं श्रद्धा करनेवाले नास्तिक पुरुष हैं वे ( माम ) मुझ परमेश्वरको ( अप्राप्य ) नहीं प्राप्त होकर (मृत्युसंसारवर्त्मनि) मृत्युसे युक्त संसारमार्गमें ( निवर्त्तन्ते ) फिर लौटकर आते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि जब यह विज्ञान सहित ज्ञानरूप धर्म ही अन्य सब साधनोंमें सुलभ और महान् फलका देनेवाला है तब सब प्राणी इसीका साधन क्यों नहीं करते ? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [ **अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप !** ] हे परन्तप अर्जुन ! तू सर्व प्रकारके लौकिक शत्रुओंका नाश करनेवाला तो है ही पर यह निश्चय है, कि अश्रद्धादि युक्त नास्तिकत्व रूप जो पारलौकिक शत्रु

हैं तिनका भी तू नाश करनेवा... ा है इसलिये तू इस मेरे वचनको अवश्य ही विचारपूर्वक समझेगा, कि ... म धर्ममें नहीं श्रद्धा करने- वाले पुरुष जो एक वारगी नास्तिक हैं, वेद वेदान्त ... कुछ भी नही मानते क्योंकि वे आसुरी सम्पदासे उत्पन्न होनेके कारण स्... भावतः धर्मके विरोधी हैं जो किसी प्रकारके धर्मका नाम सुनते ही नाक ... कोड़ते हैं, अहर्निश मद्यपान, मांसाहार, हिंसा तथा वेश्यागमन इत्यादि भ्रष्ट आचरणोंमें मग्न रहते हैं ऐसे पुरुष [ **अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि** ] मुझको न प्राप्त होकर मृत्युसे युक्त इस संसारमार्गमें गिरते हैं अर्थात् जहां सदा जन्म मरण होता रेहता है तहां लौटकर बार-बार आते रहते हैं। ऐसे प्राणियोंके भाग्यमें तो यह सुलभ मार्ग भी नहीं लिखा है। ऐसेको तो कुछ भी लाभ नहीं होसकता।

इसी विषयको श्रुतिने इन्द्रका दृष्टान्त देकर दिखलाया है, कि "ॐ **स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः** " ( कौषीतक्युपनिषद अ० ४ श्रु २० में देखो )

अर्थ— जब तक यह इन्द्र अपने आत्माको नहीं जानता तब ही तक उसको असुर लोग पराजय करते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब तक यह प्राणी इस ज्ञानको लाभ नहीं करता तब तक उसकी आसुरी बुद्धि उसको संसार-बन्धन में गिराती रहती है।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि यह रहस्य सुलभ है तथापि आसुरी सम्पदा वाले इसकी ओर नहीं जाते।

शंका— आसुरी-सम्पदा वालेकी निन्दा भगवान् क्यों करते हैं? वे तो जब जिसे जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं आसुरी, दैवी सब तो उन्हींके उपजाये हुए हैं फिर एक पुत्रकी निन्दा और एक पुत्रकी स्तुति क्यों? उनके तो हाथमें ही था, कि आसुरी-सम्पदा वालोंको न उत्पन्न करते सब दैवी सम्पदावालों ही को उत्पन्न करते तो इतनी निन्दा करनेकी आवश्यकता न होती और न इतना पछताना ही पडता।

समाधान— भगवान् आसुरी सम्पदावालोंकी निन्दा नहीं करते वा पछताते नहीं वे तो सबके जनकस्वरूप हैं और सबको साक्षीरूपसे देखते रहते हैं वे कुछ करते नहीं इसलिये आसुरी और दैवी दोनों सम्पदा वाले जीवोंके साक्षीरूप होकर उनके कर्म और भोग दोनोंको देखते रहते हैं किसीको कुछ रोक टोक नहीं करते। इसलिये भगवान् यहां पछताते नहीं हैं वरु दोनोंकी ठीक-ठीक दशाका वर्णन कररहे हैं ये दोनों शुभाशुभके वन्धनमें पडे फूलरहे हैं इनमें जो भगवतके सम्मुख होजाते हैं उनकी सुधि वह अवश्य लेता है पर भेद इतना ही है, कि दैवी-सम्पदा वाले स्वभावतः सत्वगुणकी प्रधानताके कारण भगवानके सम्मुख शीघ्र होते हैं और आसुरीसम्पदा वालोंको अनेक जन्मोंका विलम्ब होता है।

दूसरी बात यह है, कि भगवान्ने तो त्रिगुणात्मक सृष्टिकी रचना स्वयं की है यदि ऐसा भेद न कियाजाता तो रचना होती ही नहीं और शुभाशुभ तथा गुण अवगुण, भला बुरा, दुःख सुख इत्यादि

यदि नहीं बनायेजाते तो किसी प्रकार कोई भी रचयिताकी ओर आंख उठाकर नहीं देखता और सुखका भी अनुभव नहीं होता। यदि ग्रीष्म ऋतुकी उष्णता नहीं होती तो कदम्बके वृक्षकी शीतल छायाके सुखका कैसे भान होता ? जब उसने पिपासा (प्यास) बनाई तब ही तो शीतल गंगाजलकी अभिलाषा हुई और शीततत्वका सुख बोध हुआ। यदि ठण्ढक ( हिमऋतु ) नहीं बनाता तो अग्निके उष्णत्व-सुखका कैसे बोध होता ? यदि रसना क्षुधायुक्त न होती तो पकान्नोंकी मधुरताका सुख कैसे मिलता ?

इसी प्रकार भगवान् यदि आसुरी-सम्पदाकी रचना न करता तो दैवी-सम्पदाका आनन्द किसे लाभ होता ? इसी कारण भगवान्ने दो विरुद्ध वस्तुओंकी रचना कर एकके द्वारा दूसरेका आनन्द प्रकट कर दिखलाया। शीतसे उष्णका और उष्णसे शीतका।

इसी कारण भगवान् अर्जुनसे आसुरी-सम्पदावालोंकी निन्दा नहीं करते वरु उनका यथार्थ स्वरूप वर्णन करते हैं, ज्ञानतत्वमें आनन्दका स्वरूप दिखलारहें हैं और साथ ही साथ यह भी दिखलारहे हैं, कि आसुरी-सम्पदावाले शीघ्र मेरी ओर नहीं आते। विलम्बसे आते हैं इसी कारण वे इस अध्यात्मविद्यारूप सुलभ साधनकी ओर जानेकी रुचि नहीं रखते मृत्युमय संसारके मार्गमें मरते जीते रहते हैं॥ ३ ॥

इतना सुन अर्जुन बोला भगवन् ! तिस विज्ञान सहित ज्ञानका वर्णन करो ! अर्जुनकी ऐसी अभिलाषा देख अब भगवान् दो श्लोकोंमें तिस विज्ञान सहित ज्ञानका वर्णन करते हैं।

मू०— मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— मया, अव्यक्तमूर्त्तिना ( न व्यक्ता मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य तेन ) इदं, सर्वम्, जगत् ( ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तं चराचरात्मकं विश्वम् ) ततम् ( व्याप्तम् ) सर्वभूतानि ( स्थावरजंगमानि ) मत्स्थानि ( मयि स्थितानि ) च ( किन्तु ) अहम्, तेषु ( भूतेषु ) न, अवस्थितः ( कृतावस्थानः ) ॥ ४ ॥

पदार्थः— ( मया, अव्यक्तमूर्त्तिना ) मेरी जो इन्द्रियोंसे नहीं ग्रहण होनेवाली विलक्षण मूर्त्ति सच्चिदानन्दरूप है तिससे ( इदम् ) यह ( सर्वम् ) सम्पूर्ण ( जगत् ) चराचर विश्व ( ततम् ) व्याप्त है इसी कारण ( सर्वभूतानि ) ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सकल चराचर भी ( मत्स्थानि ) मुझमें स्थित हैं ( च ) पर ( अहम् ) मैं ( तेषु ) उन भूतोंमें ( न अवस्थितः ) स्थित नहीं हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः — अर्जुनने जो ज्ञानतत्व पूछा है उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ] मेरी अव्यक्त ( अगोचर ) मूर्त्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त होरहा है । अर्थात् मेरी मूर्त्ति अगोचर है इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेमें नहीं आती जिसे ब्रह्मादि भी नहीं देख सकते औरोंकी तो क्या गिनती है ? जिस मूर्त्तिके विषय श्रुति कहती है-" ॐ बृहच्च

तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ” ( मु० ३ खं० १ श्रु० ७ में देखो )

अर्थ— जो महाप्रभु बृहत् है अर्थात् बडेसे भी बडा है, सर्वत्र व्यापक है और सब उसमें हैं फिर वह दिव्य है, प्रकाशस्वरूप है, अत्यन्त सुन्दर स्वरूप है और इन्द्रियोंसे परे होनेके कारण अचिन्त्यरूप है अर्थात् किसीकी बुद्धिमें उसका यथार्थ स्वरूप नहीं प्रवेश करसकता फिर सूक्ष्म जो आकाश तिससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है फिर एवम्प्रकार सूक्ष्मरूपसे सर्वत्र व्यापकर सूर्य, चन्द्र इत्यादि स्वरूप करके शोभायमान होरहा है अतएव वह परमानन्दस्वरूप है। ऐसे अपने परमानन्द अव्यक्त स्वरूपसे वह सर्वत्र व्यापरहा है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् उसमें ओत-प्रोत है जैसा, कि भगवान् पहले कहआये हैं, कि “ मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ! मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ” ( अ० ७ श्लो० ७ )

अर्थ— हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् ऐसे गुथा हुआ है जैसे सूतमें मणिकाएं पिरोयी रहती हैं।

अव्यक्त शब्द तो महत्तत्वके लिये भी आता है तथा नाना प्रकारकी शक्तियां जो इन्द्रियोंसे समझमें नहीं आतीं उनको भी अव्यक्त कहते हैं, प्रकृतिको भी अव्यक्त कहते हैं, वेदान्तमें सूक्ष्म शरीरको भी अव्यक्त कहते हैं पर ये जितने अव्यक्त हैं सब नश्वर हैं इन सबोंसे परे जो अव्यक्त साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर है सो यथार्थ

अव्यक्त है जो इन अनेक प्रकारके अव्यक्तोंके नाश हुए भी नाशको प्राप्त नहीं होता जिसके विषय आनन्दकन्द स्वयं कहआये हैं, कि " परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः " ( अ० ८ श्लो० २० )

अर्थ— जगत्‌के कारण भूत सब अव्यक्तोंसे परे जो अव्यक्त है सो अव्यक्तका भी अव्यक्त है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके नाश हुए भी नाशको नहीं प्राप्त होता अर्थात ब्रह्मादि देवोंके नाश हुए भी जो नाशको प्राप्त नहीं होता।

यहां श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो उन की मूर्त्ति बुद्धिसे परे है जिसके विषय कठोपनिषद्‌की श्रुति कहती है, कि " ॐ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः " अर्थात महत्तत्वसे परे जो अव्यक्त है तिससे भी परे वह अव्यक्त है जो " परम पुरुष " कहाजाता है। इसलिये इससे सिद्धान्त होता है, कि यह भगवानकी मूर्त्ति बहुत ही विशाल है । जैसे आकाशको अव्यक्त मानकर कोई प्राणी इस आकाशको पूर्णरूपसे जाननेकी इच्छाकर सहस्रों वर्ष पर्यन्त ऊपर, नीचे, दायें, बायें दशों दिशाओंमें अपनी बुद्धि फैलाताजावे तो भी इस आकाशका अन्त नहीं मिलसकता, कि इसकी गोलाई कितनी बडी है जहां तक बुद्धि विशाल होतीजावेगी यह आकाश भी विशाल होता चला जावेगा, अन्तमें बुद्धि थकथकाकर अप्रमेय जान लौट आवेगी इसका अन्त नहीं पावेगी । इसी प्रकार यदि कोई प्राणी बुद्धिसे उस सच्चिदानन्द महाप्रभुके महत्--स्वरूपका

भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ!" श्लो० ११ तक सब वस्तुओंमें अपनेको कहचुके हैं फिर अ० ४ के श्लो० २४ में भी कह आये हैं, कि "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" अर्थात् सुवादि यज्ञपात्र, यज्ञका घृत, अग्नि तथा होम सब ब्रह्म ही है। फिर अ० ३ के श्लो० १५ में कहा है, कि "तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म" अर्थात् जो ब्रह्म सर्वगत है सो ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है।

भगवान्के इन पूर्व वचनोंसे सिद्ध होचुका है, कि वह सबमें है और अब इस श्लोकमें कहते हैं, कि मैं इन भूतोंके मध्य किसीमें नहीं हूं, इसलिये भगवान्के वचनोंमें पूर्वापरविरोध पायाजाता है जो नहीं होनाचाहिये। क्योंकि यह गीता भी तो पांचवां वेद ही समझाजाता है इसमें पूर्वापरविरोधहोना उचित नहीं।

समाधान— ये जितने वचन कहेगये हैं इनसे भगवान्की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है क्योंकि पहले जो कहा, कि मैं देहधारियोंकी देहमें हूं तहां ऐसा नहीं कहा, कि मैं अव्यक्तरूपसे हूं वरु यही कहा, कि यज्ञरूपसे हूं अर्थात् अधियज्ञ हूं। तात्पर्य्य यह है, कि सर्वप्रकारके कर्मोंके करनेकी जो शक्ति इन देहधारियोंमें है वह मैं ही हूं। जैसे घटमें जो सूर्य है वह सूर्यका यथार्थरूप नहीं है वरु बिम्बमात्र है और वह घट सूर्यके प्रकाशमें है सूर्य तो उस घटमें नहीं है। इसी प्रकारे भगवत् प्रकाशकी प्रखर शक्तियां सब देहधारियोंमें व्याप्तहोरही हैं।

इसी प्रकार भगवानने "रसोऽहमप्सु" से जो अपनी व्यापकता कहनी आरम्भ की है सो सर्वत्र भिन्न २ नामोंसे कही है। जैसे

जलमें रसरूपसे, चन्द्रसूर्यमें प्रभारूपसे, वेदोंमें प्रणवरूपसे, आकाशमें शब्दरूपसे, मनुष्योंमें पुरुषार्थरूपसे' पृथ्वीमें सुगन्धिरूपसे, अग्निमें तेजरूपसे, जीवोंमें आयुरूपसे, तपस्वियोंमें तपरूपसे, सर्वभूतोंमें कारणरूपसे, बुद्धिमानोंमें बुद्धिरूपसे, तेजस्वियोंमें तेजरूपसे, बलवानोंमें बलरूपसे, और शुद्धप्रकार स्त्री पुरुषोंमें कामरूपसे हूं।

यहां भी भगवानने ऐसा कहकर यद्यपि इन सब पदार्थोंमें अपनी व्यापकता दिखलायी पर मैं अव्यक्तरूप से हूं ऐसा कहीं भी नहीं कहा वरु भगवान् अन्तर्यामी, दूरदर्शी, शक्तिशालीको यह स्मरण था, कि आगे ज्ञान उपदेश करते समय जब विज्ञानको हाथमें लूंगा तब अपने अव्यक्तस्वरूपको कथन करना होगा इसीलिये ७ वें अ० के ११ वें श्लोकतक अपनी भिन्न २ शक्तियोंकी सबठौर व्यापकता दिखलातेहुए बारहवें श्लोकके अन्तमें कहदिया, कि "न त्वहं तेषु ते मयि" मैं उनमें नहीं हूं वरु वे ही मुझमें हैं अर्थात् मेरा स्वरूप जो अव्यक्त है सो सर्वत्र व्यापक तो है पर ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त किसीमें भी नहीं अट सकता। अर्थात् जो विषय भगवान् इस अध्यायमें कहरहे हैं वही पहले भी कहआये हैं।

'व्यापक होना' और 'सबमें होना' ये दोनों दो विषय हैं एक नहीं। तहां 'व्यापक' से निरपेक्ष व्यापकता समझी जाती है और 'सबमें' कहनेसे सापेक्ष व्यापकता समझी जाती है सो भगवान्का जो यथार्थरूप अव्यक्त है वह निरुपाधि है। इसलिये सर्वत्र व्यापक है और मायाको स्वीकार कर सृष्टि, पालन, संहार करते समय जो उसका सोपाधिक रूप है वह सापेक्ष व्यापक होकर एक रूपसे एक ठौर है दूसरी

ठौर नहीं। जैसे जलमें रसरूपसे व्यापक है तो है स्वर्गमें नहीं तथा स्वर्गमें तेजरूपसे व्यापक है तो है जलमें नहीं। इसी प्रकार अन्यस्थानोंकी व्यापकताको भी जानना।

अतएव यह सिद्धान्त है, कि वह अपने महदव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक है पर किसीके अन्तर अट नहीं सकता अर्थात् भगवान् सबसे असंग है किसीके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे घटके भीतर भी जो आकाश है वह घटसे असंग है क्योंकि घटको तोड दीजिये पर आकाश नहीं टूटता और विज्ञान अर्थात अनुभव भी इस विषयको सिद्ध करता है, कि जो निरपेक्ष व्यापक है वह असंग रहता है। इसी प्रकार भगवत् सबमें व्यापक है पर सबसे निःसंग है भगवान्के वचनमें पूर्वापर विरोध नहीं है। शंका मत करो॥४॥

इस चौथे श्लोकमें तो कुछ थोडासा संग भी दिखलाया था पर अब इस अगले श्लोकमें एकवारगी निःसंगपना दिखलाते हुए कहते हैं—

मू०— न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

**पदच्छेदः—** मे (मम अव्यक्तरूपस्य) ऐश्वरम् (ऐश्वर्ययुक्तम्। असाधारणप्रभावयुक्तम्) योगम् (युक्तिम् मायाविन इवाघटितघटनाचातुर्यम) पश्य (अवलोकय) भूतानि (स्थावरजंगमानि) मत्स्थानि (मयि स्थितानि) च, न, [तथा] मम (सच्चिदानन्दस्य) आत्मा, भूतभृत् (स्थावरजंगमादीनां पोषकः) भूत-

भावनः ( भूतानां वृद्धिकरः । भूतान्युत्पादयितुं समर्थः ) च ( तथा ) भूतस्थः ( भूतेषु स्थितः ) न ( नैव ) ॥ ५ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ? ( मे ) मेरे ( ऐश्वरम ) ईश्वरीय ( योगम ) योगकलाकी अघटित घटनाकी चतुराईको ( पश्य ) अवलोकनकर ! कि ( भूतानि ) ये सब स्थावर जंगम ( मत्स्थानि ) मुझमें स्थित (च) भी ( न ) नहीं हैं और फिर (मम, आत्मा) मेरा स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप जो आत्मा है (भूतभृत) सब भूतोंका धारण करनेवाला है तथा ( भूतभावनः ) सब भूतोंका उत्पादन करनेवाला है ( च ) सो भी ( भूतस्थः ) सब भूतोंमें निवास करनेवाला ( न ) नहीं है अर्थात् मैं इस प्रकार असंग हूं, कि न कोई मुझमें है और न मैं किसीमें हूं ॥ ५ ॥

भावार्थः— भगवान इस श्लोकमें एकवारगी इस संसारसे अपनी निस्संगता दिखलाते हैं । इससे पूर्व चौथे श्लोकमें तो केवल इतना ही कहा था, कि सब मुझमें हैं पर मैं किसीमें नहीं हूं। तब तो यह भी आशा थी, कि यद्यपि वह आनन्दघन सच्चिदानन्द अपने वास्तव रूपसे किसीमें नहीं है पर ये सब चराचर स्थावर जंगम तो उसमें हैं इसलिये इस असार संसारको तथा इसके निवासियोंको सन्तोष था, कि उस महाप्रभुसे कुछ सम्बन्ध होगा, पर अब इस पांचवें श्लोकसे सिद्ध होता है, कि वह महाप्रभु अपने वास्तव स्वरूपसे किसीके साथ कुछ भी संग नहीं रखता ।

इसी वार्ताको दिखलाते हुए भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन !

[ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ] तू

मेरी ईश्वरी योगमायाकी अघटित घटनाकी चतुराईको देख ! कि ये सब स्थावर जंगम मुझसे उत्पन्न होकर भी मुझमें नहीं हैं । जैसे मायावी इन्द्रजाल वाला झटिति गन्धर्वनगरको बनाकर उसमें युद्धकी रचना करलेता है, मारता है और मरता है अपना शरीर टुकड़े २ कर कटवा डालता है पर यथार्थमें न वहां कोई नगर है न कोई वीर है और न कोई खड्ग है वरु वह आप ही आप सबसे भिन्न और असंग आनन्द पूर्वक अपने राग तानमें मग्न रहता है । इसी प्रकार भगवान् अपने वास्तव रूपसे कहीं भी नहीं है । इसीलिये अर्जुनको कहरहा है, कि हे अर्जुन ! तू मेरी ईश्वरी योगमाया की कलाको देख, कि यद्यपि मैं ही सबका प्रभव और प्रलय हूं सारी रचना मुझहीसे उत्पन्न होकर मुझ ही में लय होती रहती है तथापि ' न च मत्स्थानि भूतानि ' इन सब चराचर जड चैतन्योंमें एक भी मुझमें नहीं हैं । जैसे घटाकाशमें जलकी उपाधिसे सम्पूर्ण आकाश सूर्य चन्द्र तारागण सहित भासता है पर वस्तुतः उस घटमें कुछ भी नहीं है इसी प्रकार मेरी अघटित घटनाकी कलासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मुझमें भासता है पर यथार्थमें ब्रह्माण्डका एक तृण भी मुझमें नहीं है क्योंकि मैं सबसे असंग हूं ।

शंका— श्रुतियों कहती है, कि ' ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यस्मिन् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति " ( तैति० भृगव० श्रु० १ )

अर्थ— जिससे ये सब चराचर उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर पाले जाते हैं फिर जिसीमें प्रवेश करजाते हैं उसीको

ढूंढ वही ब्रह्म है। जब श्रुति इस प्रकार कहती है तब तो सारा ब्रह्माण्ड उसी महाप्रभुसे उत्पन्न होनेके कारण उसीका स्वरूप हुआ तथा पालन होनेके कारण उसीसे उसको पोष्य, पोषक, आधार आधेय का सम्बन्ध रहा फिर उसीमें लय होनेसे सबोंकी स्थिति भी उसीके रूपमें हुई तब भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं ? कि इन भूतोंमें एक भी मुझमें नहीं है क्योंकि जब सब उसीसे आते हैं और उसीमें चलेजाते हैं जैसा, कि श्रुतिसे सिद्ध है तब तो यह निश्चय है, कि सब उसीमें हैं फिर ऐसा निस्संग होना कैसे बने ?

समाधान— भगवान् इसी कारण पहलेसे ही कहते हैं, कि मेरी ऐश्वरी योगकलाको देख ! कि मैं सबका कारण हूं तथापि मुझमें इनका लेशमात्र भी नहीं है जैसे आलोक्य यंत्र ( Photographer ) के काच ( Lense ) होकर सम्पूर्ण काशी नगरकी मूर्त्ति निकलकर पट्ट (प्लेट) पर पडती है और प्लेटमें सारा काशी नगर बन जाता है श्वेत, पीत, कृष्ण, अरुण सर्व प्रकारके रंग उसी काच होकर प्लेटपर जाते हैं पर यथार्थमें वह काच स्वयं न पीला होता है, न काला होता है, न लाल होता है और न श्वेत होता है वरु सब रंगोंसे निस्संग रहता है। इसी प्रकार सब उस सच्चिदानन्द मूर्त्ति होकर उत्पन्न तो होते हैं पर उसमें सृष्टिके किसी पदार्थका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता।

इसी तात्पर्यको दृढ करनेके लिये भगवान् कहते हैं, कि ये सब भूत मुझमें नहीं हैं इतना ही नहीं कहते वरु यह भी कहते हैं, कि [ भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ] मेरा आत्मा

अर्थात् मेरा पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप यद्यपि 'भूतभृत' है अर्थात् सब भूतोंका धारण करनेवाला है और "भूतभावनः" अर्थात् सब स्थावर जंगमोंको उत्पन्न करनेवाला है तथापि 'न भूतस्थः' भूतस्थ नहीं है अर्थात् फोटोके काचके समान सबको धारण करताहुआ भी किसी भी उजली, पीली वा काली वस्तुसे लेपायमान नहीं होता। शंका मत करो।

लो और भी सुनो! श्रुति कहती है, कि "ॐ एतस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति" तथा "येन जातानि जीवन्ति" फिर 'ॐ यदूर्द्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथ्वी इमे यद्भूतञ्च भवच्च भविष्यञ्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतञ्च प्रोतञ्च' फिर "ॐ एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च"।

अर्थ— वह भगवत् स्वयं याथात्म्यरूपसे इन भूतोंका उत्पादन करताहुआ इनकी वृद्धि करता है अर्थात् इसी आनन्दस्वरूपसे सब भूतोंका उपजीवन है जिससे सब उत्पन्नहुए पालेजाते हैं तथा स्वर्ग, मर्त्य, पातालमें जितनी रचनाएं होचुकी हैं, होरही हैं और अब होवेंगी सबकी सब आकाशपर्यन्त उसीमें ओतप्रोत हैं ऐसा याज्ञवल्क्य गार्गीसे कहते हैं। सो इनही श्रुतियोंका तात्पर्य्य स्वयं भगवान् अपने मुखारविन्दसे इस श्लोकमें दिखलातेहुए कहते हैं, कि यद्यपि सब करनेवाला मेराही स्वरूप है तथापि मैं भूतस्थ नहीं हूं अर्थात् किसीसे लिप्त नहीं होता।

भगवान्‌के कहनेका संक्षिप्त तात्पर्य यह है, कि न कोई मुझमें है और न मैं किसीमें हूं। इस श्लोक द्वारा भगवान्‌ने एकवारगी इस संसारसे अपना निस्संगहोना दिखलादिया सो जब विज्ञानियोंको विज्ञान द्वारा अनुभव होता है तब वह विज्ञानी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको, ब्रह्माण्डकी एक-एक वस्तुको तथा अपने घर द्वार, कुटुम्ब, पशु, पक्षी, धन, सम्पत्तिको, अणिमा, महिमा इत्यादि अष्टसिद्धियोंको, मनःकामना पूर्तिकरनेवाले देव देवियोंको, अपनेको, अपनी बुद्धिको, अपने शरीरको, अपने बल, पुरुषार्थ, विद्या सहित गुणोंको, मान अपमान, दुःख सुख आदि सबोंको गन्धर्वनगरके समान मिथ्या जान तिलाञ्जलि देदेता है। उस महाप्रभु मायावीकी चतुराईयुक्त अघटित घटनाओंको और अद्भुत लीलाओंको जानकरे सर्वत्रसे विलग केवल भगवत् सच्चिदानन्दको सब मायावी रचनासे निस्संगजान बार-बार शीश नवाता है और उसकी जगद्-वृत्ति ब्रह्मवृत्ति होजाती है।

यदि कहो, कि जब ऐसा है तब इस सारे जगत्‌का कल्पित होना सिद्ध हुआ तो कहते हैं, कि नहीं कल्पित कहना भी कल्पित है। क्योंकि इस कल्पना रूप क्रियाका कर्त्ता, कर्म, अधिकरण इत्यादि होना चाहिये अर्थात् कौन यह कल्पना करता है, क्या कल्पना करता है, किसमें कल्पना करता है तो उत्तरमें यही कहना पडेगा, कि सब अविद्या ही अविद्या है अर्थात् क्रिया, कर्त्ता, कर्म, अधिकरण सब अविद्या है। क्योंकि पहले तो कल्पना करना जो क्रिया है सो भी अविद्या है, जो कल्पना करनेवाला है वह भी अविद्या है, जिस पदार्थकी कल्पना कीजाती है वह भी अविद्या है, जिसमें कल्पना होती है सो भी

अविद्या है, जिसके लिये कल्पना होती है सो भी अविद्या है और जिससे होती है सो भी अविद्या है।

अब तिस अविद्याका लक्षण क्या है ? सो कहते हैं प्रमाण— " अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवहि लक्षणम् " अर्थात् अविद्याका अविद्यात्वही लक्षण है सो अविद्या किसे कहते हैं ? सुनलो ! " अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या " ( योगसूत्र पाद २ सु० ५ )

अर्थ— जो वस्तु अनित्य है , अशुचि है, दुःखरूप है, अनात्मा है, उसमें नित्य, शुचि, सुख और आत्माको समझनेकी बुद्धि अविद्या है।

यदि शंका हो, कि चेतन आत्मामें अविद्या कहांसे आयी तो इसका उत्तर पहले ही दिया जाचुका है, कि यह जहांसे आयी वह भी अविद्याही है। अर्थात् जैसे दिग्भ्रम यथार्थमें कुछ नहीं है क्योंकि न तो भ्रमवालेके अन्तःकरणमें कुछ विकार हुआ है और न दिशाओंमें कुछ उलटा पुलटा हुआ है पर पूर्वका पश्चिम और उत्तरका दक्षिण जो भान होरहा है यही अविद्या है।

इसी कारण भगवानका यह कहना है, कि " मेरा सबमें भान होना और सबका मुझमें भान होना अविद्या है वस्तुतः मेरा वास्तव स्वरूप छोडकर कहीं भी कुछ नहीं है इसलिये यह मेरी मायाका इन्द्रजाल-मात्र सर्वत्र फैला हुआ है " यह निश्चय जानो ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! तुम जो ऐसा कहरहे हो, कि मैं " भूतभृत् " और " भूतभावन " होनेपर भी असंग हूं अर्थात् सब भूतोंका पोषण तथा सब भूतोंकी उत्पत्ति करता हुआ भी सबसे निरसंग हूं सो ऐसा विरुद्ध धर्म एक ठौर कैसे बने ? अतएव कुछ अन्य उत्तम उदाहरण देकरे समझा दो ।

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन—

**मू०— यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।**
**तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥**

**पदच्छेदः**— यथा ( येन प्रकारेण ) सर्वत्रगः ( सर्वस्थानेषु गमनशीलः ) महान् ( प्रमाणतोऽतिविस्तृतः ) वायुः, नित्यम् ( सर्वदा ) आकाशस्थितः ( आकाशे स्थितिर्यस्य सः ) तथा, सर्वाणि, भूतानि ( स्थावरजंगमानि ) मत्स्थानि ( मयि स्थितानि ) इति, उपधारय ( जानीहि ) ॥ ६ ॥

**पदार्थः**— ( यथा ) जैसे ( सर्वत्रगः ) दशों दिशाओंमें जानेवाली ( महान् ) बहुत ही बडी ( वायुः ) हवा ( नित्यम् ) सदा ( आकाशस्थितः ) आकाशमें निरसंगरूपसे फैलीहुई रहती है ( तथा ) तैसे ( सर्वाणि भूतानि ) ये सब स्थावर जंगम ( मत्स्थानि ) मुझमें निरसंगरूपसे स्थिर रहते हैं ( इति ) ऐसा ( उपधारय ) हे अर्जुन ! तू जान ! ॥ ६ ॥

**भावार्थः**— अर्जुनने जो संगरहतेहुए निःसंगताका दूसरा उदाहरण भगवान्से पूछा है उसके उत्तरमें श्यामसुन्दर कहते हैं, कि

[ यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ] जैसे आकाशमें नित्य निवास करनेवाली, दशों दिशाओंमें जानेवाली वायु पृथ्वीसे ४५ मील ऊपरतक भरीहुई है पर आकाश उससे निस्संग है [ तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ] इसी प्रकार ये सब भूतमात्र मुझमें स्थित हैं तथापि मैं इनसे निस्संग हूं ऐसा तू निश्चयकर जान !

शंका— प्रिय पाठको ! भगवान्के मुखसे इस प्रकार इस अध्यायमें ४, ५, ६ श्लोकोंका उच्चारण होना भक्तोंके हृदयको विदीर्ण करता है क्योंकि जो सदाका संगी, जो सदाका मित्र, सदा सखारूपसे एकसाथ रहनेवाला जिसको श्रुति कहचुकी है, कि " ॐ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते " अर्थ— इस शरीररूप वृक्षपर ईश्वर और जीवरूप दो सुन्दर पक्षी सखारूपसे एक संग मिलेहुए बैठे हैं अर्थात् ईश्वर इस जीवका सदा संगी है ।

फिर स्वयं भी जो बार-बार अपने मुखारविन्दसे इस गीताके अ० ४ में श्लो० ६ से ९ तक " अजोऽपि सन्नव्ययात्मा " से लेकर " मामेति सोऽर्जुन ! " तक चार श्लोकोंमें हमारे साथ कैसा गहरा और घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाचुका है अर्थात् कहचुका है, कि मैं जन्मरहित अविनाशी और सब भूतोंका ईश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको आश्रयकरके अपनी मायासे उत्पन्न होता हूं और यहांतक सम्बन्ध दिखलाचुका है, कि हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं अवतार लेता हूं अर्थात् साधुओंकी रक्षाकेलिये, दुष्कर्मोंको नाशकरनेकेलिये और धर्मस्थापन करनेकेलिये युग-युगमें मैं अवतार

लेता हूं अर्थात् साधुओंकी रक्षाके लिये, दुष्कर्मोंके नाशके लिये और धर्मस्थापनके लिये युग २ में मैं अवतार लेता हूं सो हे अर्जुन! जो मेरे ऐसे स्वेच्छाकृत जन्म और अलौकिक कर्मको जानता है सो देह त्यागकर फिर जन्म नहीं पाता किन्तु मुझ ही को प्राप्त होता है। इतना कहनेसे स्पष्ट सिद्ध होता है, कि वह हमारा है और हम उसके हैं। फिर अब इस अध्यायके इन तीन श्लोकोंमें निःसंगताका कठोर वचन उच्चारण कर हमसे अलग हुआ चलाजाता है तनक भी सम्बन्ध रखना नहीं चाहता ऐसा हृदय-विदारक प्रसंग क्यों?

विज्ञानियोंके अनुभव और प्रेमियोंके प्रेमसे तो बड़ी भिन्नता पड़-रही है विज्ञान द्वारा वह निःसंग है और प्रेमद्वारा वह हमलोगोंका संगी बनरहा है तब तो विज्ञानको एकदम त्यागना ही चाहिये क्योंकि जिससे अपना प्रेमी सखा दूर भागता चलाजावे ऐसे तत्वके समीप जानेसे क्या लाभ?

समाधान— विज्ञान और प्रेम दोनों एक ही तत्व हैं दोनोंमें तनक भी अन्तर नहीं है। प्रेमीजन भी अपने प्रेम द्वारा आप सब ओरसे छूटकर अपने परम प्रेमी भगवत्स्वरूपमें लय होजाता है। तहां दूसरा कोई कहीं भी नहीं दीख पडता। क्योंकि प्रेमकी आठ दशाओंमें जो प्रलयकी दशा है वह अपना रूप रेख तो कहीं रहने नहीं देती सर्वत्र श्याम ही श्याम दरशाने लगती है। तन श्याम, मन श्याम, घर श्याम, आंगन श्याम, ऊपर नीचे श्याम, दायें बायें श्याम तात्पर्य यह है, कि कहीं श्यामसे इतर किसीकी स्थिति नहीं रहनेदेती। जैसा, कि गोस्वामी

तुलसीदासजीने कहा है, कि " सोइ जाने जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइजाई " अर्थात् तुम श्याम हो सर्वत्र हो इसलिये जो तुमको जाने सो श्याम होजावे । फिर किसी प्रेमीका वचन है, कि " श्याम तन श्याम मन श्याम ही हमारो धन आठों याम ऊधो यहां श्याम ही सों काम है, श्याम हिय श्याम जिय श्याम बिनु नाहिं तिय आंधरेकी लाकरी आधार नाम श्याम है । श्याम गति श्याम मति श्याम ही प्रताप पत श्याम सुखदाई पै भुलायो सुत धाम है, तुमतो भये बौरे यहां पाती लिये आये दौरे योग कहां राखूं मेरे रोम-रोम श्याम है ॥ "

इधर विज्ञान भी सो ही कहता है, कि तुम अपनेको सृष्टिसे हटालो, सृष्टिको नटकी माया जानो और अपने प्यारे श्यामसुन्दरको सृष्टिसे असंग जान तुम भी असंग होजाओ । क्योंकि असंगका ही असंगसे मेल है स्वजातियोंका मेल स्वजातीयसे होता है विजातीयसे नहीं अतः दोनों एक होजाओ । अर्थात् उस सच्चिदानन्द आनन्दकन्द का जो पूर्ण अव्यक्तस्वरूप है सो ही तुम अपनेको भी समझकर " अहं ब्रह्मास्मि " महावाक्य ही बनजाओ ।

लो अब देखो ! दोनों दशाओंमें एकता और समता देखीजाती है वा नहीं ? इसलिये भगवान् तुमको छोडते नहीं हैं वरु तुमको अपने स्वरूपका उपदेश कर यह बताते हैं, कि जैसे मैं सबसे निस्संग हूं तैसे तू भी होजा । तब तो तू मेरा होगा और मैं तेरा होऊंगा जिसके विषय भगवान् पहले ही कहचुके हैं, कि " मद्भक्ता यान्ति मामपि "

अर्थात् मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं सर्वत्रसे निःसंग हो मुझहीमें आमिलते हैं। फिर भगवान् यह भी कहचुके हैं, कि " **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** " अर्थात् जो मुझको प्राप्त होते हैं वे इस मेरी मायाको तरजाते हैं। तात्पर्य यह है, कि जिस इन्द्रजालके विषय भगवान् अभी पांचवें श्लोकमें कहचुके हैं, कि " **पश्य मे योगमैश्वरम्** " मेरी ऐश्वरी योगमायाकी ओर देख! कि मैं इस संसारकी रचना, पालन और संहार करताहुआ भी सबसे निरसंग हूं। उसी मायाके विषय फिर भगवान् कहते हैं, कि जो मुझको ऐसा जानेगा वह इस इन्द्रजालके चक्रमें नहीं पडेगा वरु इसको पार करजावेगा।

इसलिये प्रिय पाठको ! विज्ञान और प्रेममें अभेद मानकर कुछ चिन्ता न करो तुम उनके हो और वे तुम्हारे हैं। शंका मत करो ! ॥ ६ ॥

इसी सम्बन्धको दृढ करनेकेलिये भगवान् अब
अगले श्लोकमें कहते हैं—

**मू०— सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।**
**कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥**

पदच्छेदः— [ हे ] कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्रार्जुन ! ) कल्पक्षये ( प्रलयकाले ) सर्वभूतानि ( स्थावरजंगमानि ) मामिकाम् ( मदीयाम् । मदधीनाम् ) प्रकृतिम् ( त्रिगुणात्मिकां मायाम् ) यान्ति ( गच्छन्ति ) पुनः ( भूयः ) कल्पादौ ( सृष्टिकाले ) अहम् ( मायावी ) तानि ( भूतानि ) विसृजामि ( पूर्ववद्विविधरूपेणोत्पादयामि ) ॥ ७ ॥

**पदार्थः**— ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( कल्पक्षये ) कल्पके अन्तमें अर्थात् प्रलयकालमें ( सर्वभूतानि ) सब स्थावर जंगम ( मामिकाम् ) मेरी ( प्रकृतिम ) त्रिगुणात्मिका मायामें ( यान्ति ) लय होजाते हैं ( पुनः ) फिर ( कल्पादौ ) कल्पके आरम्भ होते सृष्टिकालमें ( अहम ) मैं जो मायावी हूं सो ( तानि ) इन सब चराचर स्थावर जंगमोंको ( विसृजामि ) विविध प्रकारसे पूर्ववत् रचलेता हूं ॥ ७ ॥

**भावार्थः**— पूर्व श्लोकमें भगवान्की निःसंगता सुनकर जो अर्जुन व्याकुल हो उदासीन होरहा था तिसके हृदयकी गति जानकर अर्जुनके साथ तथा सब भूतोंके साथ अपना संसर्ग दिखातेहुए उसकी उदासीनता और व्याकुलताको दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं कि [ **सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये** ] अर्थात् हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सभी स्थावर जंगम जीव मेरी प्रकृतिमें लय होजाते हैं।

देखो पाठको ! भगवान्की चतुराईकी ओर तो देखो ! कि अपनेको असंग कहते-कहते जब अर्जुनकी व्याकुलताकी ओर विचारा तो झट अपना सम्बन्ध दिखानेके लिये इस श्लोकमें कौन्तेय शब्द कहकर अर्जुन को पुकारा अर्थात् अपनी फूफी कुन्तीके साथ संबन्ध दिखलाकर अर्जुनके संग अपना स्नेह प्रकट किया।

अब भगवान् अर्जुन तथा सारी सृष्टिके साथ अपना सम्बन्ध दिखलातेहुए कहते हैं, कि हे मेरा परमप्रिय अर्जुन ! यद्यपि

मैं इस सृष्टिसे असंग हूं तथापि मैं ही सब कुछ करनेवाला हूं। जिस समय मैं अपने सोपाधिक स्वरूपको अंगीकार कर सृष्टिकी रचना हाथ में लेता हूं तब मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति सृष्टिको रचती है, पालती है और संहार करती है पर यथार्थमें वह स्वयं कुछ नहीं करती मेरी ही शक्ति पाकर मेरी आज्ञाके ही आधीन होकर करती है।

इसी कारण तू निश्चय जान! कि मेरी प्रकृति कल्पके अन्तमें भूतमात्रको अपनेमें लय करके फिर आप मुझमें लय होजाती है। जैसे कदंबोंके फलोंमें एक ही बार केसर निकल पडते हैं ऐसे ही मेरी मायारूप कदंबमें विविध भांतिके भूत रूप केसर निकल पडते हैं इस-लिये मुझको भूतमात्रसे "**कदम्बकोरकन्यायका**" संबन्ध है। घबरा मत! भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "**रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके**" (अ० ८ श्लोक १८ में देखो)

अर्थ— ब्रह्माकी रात्रिके आगमनमें सब अव्यक्त रूप कारणमें लय होजाते हैं। तात्पर्य यह है, कि पहले प्रकृतिमें सब लय होजाते हैं फिर वह प्रकृति अव्यक्तस्वरूपमें लय होजाती है सो अव्यक्त-स्वरूप फिर मुझ परम अव्यक्तमें लय होजाता है।

फिर भगवान कहते हैं, कि [ **पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्** ] फिर मैं उन सब भूतोंको दूसरे कल्पकी आदिमें एकहीवार पूर्ववत् रचना करलेता हूं। अर्थात जब दूसरा कल्प आरम्भ होता है (ब्रह्माका दिन आरम्भ होता है) तब मैं फिर जैसी यह सृष्टि समाप्तिकालमें थी वैसी ही एकवार रचदेता हूं। इसका विस्तारपूर्वक

वर्णन अ० ८ श्लो० १८ में होचुका है इसलिये यहां दुबारा कहनेकी आवश्यकता नहीं देखीगयी ॥ ७ ॥

इसी कारण भगवान फिर इसी अपनी रचनाको पूर्णप्रकार स्पष्टरूपसे कथन करनेके तात्पर्य्यसे और इस सृष्टिका अनादित्व सिद्धकरनेके प्रयोजनसे अलग श्लोक कहते हैं—

मू०— प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

**पदच्छेदः**— स्वाम ( स्वीयाम । स्वाधीनाम् ) प्रकृतिम् ( अविद्यालक्षणां मायाम ) अवष्टभ्य ( आश्रित्य । वशीकृत्य ) प्रकृतेः ( अविद्यायाः ) वशात्, अवशम् ( अविद्यादिदोषैः परवशीकृतम ) इमम, कृत्स्नम, भूतग्रामम् ( भूतसमुदायम् ) पुनः पुनः ( मुहुर्मुहुः ) विसृजामि ( विविधप्रकारेणोत्पादयामि ) ॥ ८ ॥

**पदार्थः**— ( स्वाम् ) अपनी ( प्रकृतिम् ) अविद्यालक्षणयुक्त मायाको ( अवष्टभ्य धारणकरके तिस ( प्रकृतेर्वशात् ) अविद्याके दोषोंके कारण ( अवशम् ) परतन्त्र ( इमम्, कृत्स्नम् ) इस सम्पूर्ण ( भूतग्रामम ) भूतोंके समुदायको ( पुनः पुनः ) बार-बार ( विसृजामि ) विविध प्रकारसे रचता हूं ॥ ८ ॥

**भावार्थ**— अब भगवान् नवनीतनवाहारी सकलसृष्टिकारी वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णमुरारि इस सृष्टिका अनादित्व सिद्ध करनेके तात्पर्य्यसे कहते हैं, कि [ **प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः** ] मैं अपनी प्रकृतिको धारणकरके विविध प्रकारसे बार—बार

सृष्टिकी रचना करता हूं। जैसे छोटे—छोटे बालक खेलते समय मिट्टीका घर बार बार बनाते और मिटाते रहते हैं ऐसे मैं भी बार २ सृष्टिको बनाता और मिटाता रहता हूं। कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे बच्चे उस अपने खेलके घरोंके बनानेमें न आलस्य करते हैं न उकताते हैं वरु बार-बार बनाने मिटानेमें आनन्दका अनुभव करते हैं और तालियां बजाकर प्रसन्न होते हैं। यदि कहो, कि बच्चे तो उस घरको बनाकर हंसते खेलते हैं पर यदि कोई उसे बिगाडदे तो रोने लगते हैं इसी प्रकार हे भगवन्! तुम भी तो इसके बिगडनेपर अप्रसन्न होकर रोते कराहते होगे ? तो उत्तर यह है, कि वे बच्चे जानते हैं, कि मैं खेलता हूं इसलिये प्रसन्न होते हैं पर यथार्थमें वे उससे संग नहीं रखते जब बाप मिष्टान्न लेकर घरकी ओर बुलाता है तो सब मेट-माट कर घर चले जाते हैं। इसी प्रकार मैं इससे कुछ भी संग नहीं रखता। और जो तुमने यह कहा, कि वे लडके घरके बिगाड देनेपर रोने लगते हैं ऐसे तुम भी करते होगे तो उत्तर यह है, कि जब उनके घरको कोई दूसरा बिगाड देता है तब वे रोने लगते हैं आप अपने बिगाडनेपर नहीं रोते। अर्थात उनके घरको बिगाडदेने वाला कोई दूसरा है पर मेरे घरका बिगाडने वाला मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है मैं ही स्वयं बिगाडूं तो बिगाडूं नहीं तो दूसरा ऐसा कौन है ? जो बिना मेरी आज्ञाके मेरा खेल बिगाड देवे इसलिये मेरी अप्रसन्नताका कहीं कुछ भी कारण नहीं है सर्वत्र आन्दही आनन्द है।

यदि शंका हो, कि ऐसा कहनेसे भगवानके स्वरूपमें भी विकारका उत्पन्न होना सिद्ध होता है तो उत्तर यह है, कि नहीं ऐसा मत

कहो ! विकार तो तब कहाजावे जब यथार्थमें कुछ बने और बिगडे सो तो यहां यथार्थमें कुछ बनता बिगडता नहीं पहले कहाजाचुका है, कि बाजीगरके समान तथा स्वप्नके गन्धर्वनगरके समान यह सृष्टि बनती और बिगडती है इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [ **भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्** ] यह सम्पूर्ण भूतग्राम जिनको मैं रचता हूं वे प्रकृतिके वश होनेसे अर्थात् मेरे इन्द्रजालके अधीनहोनेके कारण स्वयं कुछ करनेको समर्थ नहीं हैं वरु जैसे-जैसे यह मेरी माया करवाती है तैसे-तैसे करते हैं। जैसे कलके घोडे जबतक कलकी कमानी चलती रहती है तबतक टाप मारते हैं हिनहिनाते हैं और दौडते हैं आप कुछ नहीं करसकते अथवा मद्यपान किये हुए प्राणीमें उस मद्यकी शक्ति जैसे कराती है वैसेही वह करता है हंसता है, रोता है, कूदता है, नंगा होजाता है इसी प्रकार मायाकी शक्ति जैसे-जैसे करवाती है ये सब भूत वैसे-वैसे करते हैं अतएव ये अवश हैं अर्थात् पराधीन हैं।

शंका— मायावी इन्द्रजालवाला तो स्वयं भगवान् है और उसकी प्रकृति इन्द्रजालहै फिर उस प्रकृतिमें मिल तीसरा कौन है ? जो उस इन्द्रजालके वशीभूत होरहा है जिसके विषय भगवान् कहते हैं, कि " **अवशः प्रकृतेर्वशात्** "

**समाधान**— भगवान् कह रहे हैं, कि " **भूतग्राममिमम्** " यह जो भूतसमुदाय है सो ही प्रेरितहोता है तो कहते हैं, कि यह भूतसमुदाय प्रकृतिके अन्तर्गत नहीं है ? तहां उत्तर होता है, कि

प्रकृतिके अन्तर्गत ही है प्रकृतिसे बाहर नहीं वरु यों भी कह सकते हैं, कि प्रकृतिही है पर यह स्वभाव है, कि जब एकही तत्वकी दो चार दश वस्तु बन जाती हैं तो वे सब एक दूसरेसे भिन्न देखी जाती हैं। यदि एक सहस्र घटके विषय पूछो, कि ये कहांसे बने हैं तो अवश्य कहना पडेगा, कि केवल मृत्तिकासे जो एक ठौर एक क्षेत्रमें कहीं सिमटी हुई थी अब भिन्न-भिन्न घट, दीवट इत्यादि अनेक रूपोंमें होजानेसे कहना पडता है, कि यह घट है यह घट फूटगया दीवट टूटगया। पर यह कोई नहीं कहता, कि मिट्टी टूटगयी। इसलिये यथार्थमें कहीं फूटता टूटता नहीं है रचनामें रूपोंकी भिन्नताके कारण वाचारम्भण विकारमात्र है। जैसे दिग्भ्रमवालेको यथार्थ दिग्‌के परिचय करानेके तात्पर्यसे दिग्दर्शन करवाते हैं नहीं तो यथार्थमें कहीं न दिग् है, न दिग्भ्रम है, न दिग्भ्रमवाला है और न दिग्दर्शन करानेवाला है सब एक आनन्दस्वरूप विज्ञानघन परिपूर्ण आपमें आप मत्त हो झूम रहे हैं और खेलरहे हैं क्योंकि आनन्दका स्वभावही खेल करना है चिन्तारहित परमप्रसन्न बालकोंका स्वभाव ही खेल है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि एक, दो, तीन कहीं कुछ नहीं हैं सब आनन्दस्वरूप सर्वत्र वही अव्यक्तस्वरूप है जिसका वर्णन कर आये हैं।

यदि यह पूछो, कि इस खेलके खेलनेवालेने क्या इस खेलको पहले पहल बनाया है ? तो उत्तर यह होगा, कि पहले पहल नहीं बनाया जबसे खेलनेवाला बालक है तबसे खेल है सो खेलनेवाला अनादि

है जिसका आदि कहीं किसी विशेष कालसे नहीं कहा जासकता इसलिये भगवान् कहते हैं, कि "विसृजामि पुनःपुनः" बार २ मैं इस सृष्टिको बनाता बिगाडता रहता हूं। इस बारबारके कहनेहीसे अनादित्व सिद्ध होता है सो आनन्दगिरिने भी शांकरभाष्यपर टीका करते हुए कहा है, कि "संसारस्यानादित्वद्योतनार्थं पुनःपुनरित्युक्तम्" अर्थात् संसारके अनादित्व सिद्धकरनेके लिये भगवान्ने इस श्लोकमें पुनःपुनः शब्दका उच्चारण किया है।

इस श्लोकसे भगवान्ने सृष्टिका भी अनादित्व दिखलादिया ॥ ८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! अनादि कालसे तुम इस सृष्टिको इन्द्रजालके समान बनाते बिगाडते आते हो तो क्या इस इन्द्रजालको खड़ा करनेमें जो नाना प्रकारके प्रबन्ध करने पडते हैं वे सब कर्म तुमको बाधा नहीं करते?

इतना सुन भगवान् बोले—

**मू०— न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।**
**उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥**

पदच्छेदः— [ हे ] धनञ्जय! ( युधिष्ठिरराजसूयार्थं सर्वान् नृपान् जित्वा धनाहरणशील ) उदासीनवत् ( तटस्थवत् ) आसीनम् ( वर्तमानम् ) तेषु, कर्मसु ( कार्येषु ) असक्तम् ( आसक्तिरहितम् ) च, माम् ( ईश्वरम् ) तानि, कर्माणि ( भूतसमुदायस्य विष्टम्भविसर्गनिमित्तानि ) न ( नैव ) निबध्नन्ति ( बन्धनमापादयन्ति ) ॥ ६ ॥

पदार्थः—( धनञ्जय ! ) हे अर्जुन ! ( उदासीनवत् ) सबसे उदासीनके समान ( आसीनम् ) चुपचाप अलग बैठे रहनेवाले ( तेषु, कर्मसु ) तिन सृष्टिनिमित्त कर्मोंमें ( असक्तम् ) आसक्तिरहित ( माम् ) मुझ ईश्वरको ( तानि, कर्माणि ) ये सब कर्म ( च ) भी जो मैं भूतोंकी रचना, पालन, संहारादिके लिये सम्पादन करता हूं ( न, निबध्नन्ति ) बाधा नहीं करते अर्थात् मेरे बन्धनके कारण नहीं होते ॥ ९ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि हे भगवन् ! आपको इस सृष्टिके उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले कर्म क्या बाधा नहीं करते ? तिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [ न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ] हे धनञ्जय ! अर्थात् युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञकेलिये राजाओंको जीतकर धनका एकत्र करने वाला अर्जुन ! मुझको सृष्टिके सम्पादन, पालन वा संहार करनेके कर्म तनक भी बाधा नहीं करते अर्थात् इन कर्मोंको करते हुए भी मुझको किसी प्रकारका बन्धन नहीं होता । मैं जैसे पहले कहआया हूं ऐसे इन सर्वप्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी सदा इनसे असंग रहता हूँ इनके फन्देमें नहीं फँसता ।

यदि तुझको शंका हो, कि कर्म तो करनेवालोंको अवश्यही बाधाकरते हैं कर्मोंका स्वभाव है, कि अवश्य कर्त्ताके ऊपर अपना फल दिखलाते हैं तिसमें भी जो ऐसा कहता है, कि मैं करता हूं उसको तो कर्तृत्वाभिमान होनेके कारण कर्म और भी अधिक बाधा करते हैं ।

समाधान— भगवान् बालकोंके समान खेलता है पर वह निर्बुद्धि और दयाहीन नहीं है क्योंकि उसने जब अपनी प्रकृतिको अंगीकार कर इस संसारकी रचना की तब पहले शुद्ध न्यायको अपने हाथमें रखलिया इसी कारण वह न्यायकारी कहाजाता है । फिर जो उसने अपने न्यायके अनुसार अपने खेलमें विविध प्रकारके नियम बनादिये उन सबोंका प्रतिपालन करना उचित है क्योंकि खेल करने वाले भी शतरञ्ज, ताश, पोलो, क्रिकेट इत्यादिमें अवश्य ही कुछ नियम बनालेते हैं जिसके अनुसार हारते वा जीतते हैं ।

प्रिय पाठको ! इसी प्रकार भगवान भी प्रकृतिके नियमोंको बनाकर अपनी आज्ञामें रखता है इसी कारण वह 'अनुशासिता' और अन्तर्यामी कहाजाता है अर्थात् सबोंपर आज्ञा चलानेवाला है और सबोंको अपने नियमके भीतर रखनेके लिये वेदोंके द्वारा विधि और निषेधका उपदेश करदिया है । विधि ( पुण्य ) करनेवालोंको स्वर्ग और निषेध ( पाप ) करनेवालोंको नरककी आज्ञा देदी है । फिर निषिद्ध-कर्म सम्पादन करने वालोंका दण्ड होना तो उनकी आज्ञा और नियमके अनुसार उचित ही है । क्योंकि नाना प्रकारके शतरंज इत्यादि खेलोंमें भी नियमविरुद्ध चाल चलनेवाला हारता है और दुःख भोगता है । इसलिये जीवोंका दण्डादि होना नियम उल्लंघन करनेवालोंके कर्मका फल है भगवान्का इसमें कुछ दोष नहीं है इस लिये उसको मिथ्याचारी वा निर्दयी मत कहो ! यदि यह कहो, कि निषेध भी तो वही करवाता है तो ऐसा नहीं क्योंकि उसने जीवोंको चेतन बनाया उनमें भले बुरे समझनेकी शक्ति प्रदान करदी ।

एवम्प्रकार अपने सारे नियमोंको सृष्टिपर प्रकट करदिया। अर्थात् अपने इन्द्रजालमें भी सर्व प्रकारके नियमोंका पालन करना उचित रखा। और जीवोंको शिक्षा देदी, कि "ॐ यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति"
(बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ५)

अर्थ— जैसा करनेवाला करे, जैसा आचरणोंका अनुष्ठान करे वैसा ही होता है पुण्य करनेवाला साधु होता है, पाप करनेवाला पापी होता है अर्थात् पापात्मा नरक और पुण्यात्मा स्वर्गका भागी होता है। फिर कहदिया, कि "ॐ यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि नेतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि"
(शिक्षाध्याय वल्ली १ अनु० ११ श्रु० २)

अर्थ— जो आनन्द देनेवाले कर्म हैं वे ही सेवन करने योग्य हैं उनसे इतर कर्म सेवन करने योग्य नहीं और जो हम लोगोंके शुभ चरित्र हैं वे ही उपासना करने योग्य हैं। पर उसी उपनिषद्में यह भी आज्ञा हुई, कि "ॐ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्" (तै० अ० १ व० १ अनु० ११ श्रु० ३)
"ॐ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्त्तेथाः"
(तै० व० १ अनु० ११ श्रु० ४)

अर्थ—यदि तुमको कर्मके विषय कुछ जाननेकी इच्छा हो, अपने वृत्तके विषय कुछ समझनेकी इच्छा हो तो जैसे बड़े-बड़े विचारशील ब्राह्मण

जो नाना प्रकारके कार्योंमें युक्त हैं वा अयुक्त हैं अथवा सम्यक् प्रकार से लगेहुए हैं और धर्मोंके सम्पादनमें अक्रूर बुद्धिवाले हैं वे जिस प्रकारसे आचरण करते हों वैसे तू भी आचरण कर। ब्रह्मसूत्र भी कहता है, कि "सुकृतदुष्कृत एवेति तु वादरिः" (ब्रह्मसूत्र अ० ३ पा० १ सू० ११) अर्थात सुकृत दुष्कृत इनही दोनोंको चरण अर्थात् आचरण कहते हैं ऐसा वादरि कहता है।

सो भगवान्ने यह अपना इन्द्रजाल बनाकर इसमें भिन्न-भिन्न ८४ लक्ष पुतलियोंका नाच खडा कर भिन्न-भिन्न सुकृत और दुष्कृत के धागेमें लटकाकर सबोंमें चैतन्यसत्ता भरकर समझादिया, कि तुम यों उछलो कूदो! यदि न्यायपूर्वक मेरी आज्ञा और नियमोंको पालन करोगे तो उत्तम अवस्थाको प्राप्त होगे अर्थात् सुखी होगे और जो उस के विरुद्ध मेरी आज्ञाको उल्लंघन कर कुपथपर चलोगे तो नरकाग्निकी प्रज्वलित ज्वाला में जलजाओगे।

तहां फिर ब्रह्मसूत्रका वचन है, कि "संयमने त्वनुभूयेतरेषा मारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्" (ब्रह्मसूत्र अ० ३ पा० १ सू० १३)

अर्थ— जो लोग एवम्प्रकार भगवत्की आज्ञाको नहीं मानते वे चन्द्रलोकके सुखको अर्थात् स्वर्गके सुखको न भोगकर यमलोककी यात्रा करते हैं तहां नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगकर फिर नीचे आते हैं तात्पर्य यह है, कि ऊपरको चढना तथा अवरोहण करना नीचेको उतरना केवल दुःख भोगके निमित्त है। क्योंकि देखनेसे ऐसी ही गति अनुभव होती है।

अर्थात् श्रुतियोंमें ऐसी आज्ञा देखीजाती है, कि " ॐ न साम्परायः प्रतिभाति बालम्प्रमाद्यन्ते वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे "। ( कौषी० अ० १ व०२ श्रु० ६ )

अर्थ— परलोकमें उत्तम गति प्राप्तिके निमित्त भगवत्की आज्ञानुसार नाना प्रकारके साधनोंको ' साम्पराय ' कहते हैं । जो लोग बालक हैं अज्ञानी हैं उनको साम्पराय नहीं भासता अर्थात् उनके सम्मुख ऐसे शास्त्रीय विषयोंका प्रकाश नहीं होसकता । क्योंकि वे वित्त और मोहसे ' प्रमाद्यन्ते ' प्रमादको प्राप्त हुए हैं और इसी प्रमादके कारण ऐसा मानते हैं, कि जो कुछ है इसी लोकमें है इस से इतर कोई दूसरा लोक नहीं है । यमराज कहते हैं, कि ऐसा माननेवाले बार-बार मेरे लोकको प्राप्त होते हैं अर्थात् यमलोकमें आकर दगड पाते हैं ।

अब इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि उस महाप्रभुने अपने खेलमें न्यायको प्रधान रक्खा है तिस न्यायके अनुसार जो जैसा करता है पाता है और आप बैठा-बैठा देखता रहता है उदासीन रहता है इसलिये उसे निर्दयताका दोष लगही नहीं सकता तुम्हारे केवल निज कर्मोंका दोष है । हां केवल दुःख ही दुःख और नरक ही नरक बनाता और तुमको चेतन न बनाकर, समझनेकी बुद्धि न देकर केवल जड ही जड बनाता तो अवश्य उसे निर्दयताका दोष लगता । शंका मत करो !

प्रिय पाठको ! देखो तो सही ! जब, कि उस दयासागरने तुम्हारे लिये चावल, गोधूम इत्यादि अन्न आम, अंगूर, सेव इत्यादि मधुर फल। मलमल, मखमल इत्यादि अच्छे वस्त्र। सवारीके लिये घोडे, हाथी, पालकी। सजानेके लिये तोशक, तकिये, रजाई, दुलाई इत्यादि रमणीय वस्तुओंको बनाकर इस लोकमें नाना प्रकारके सुख दिये और शरीर छोडनेके पश्चात् स्वर्गलोकादि लोकोंके सुख प्रदान किये तब उसको तुम निर्दयी क्यों कहोगे ? ऐसा कहदेनेका साहस भूलकर भी मत कियाकरो ! वरु उसको दयासागर, दयामय, भक्तवत्सल इत्यादि गुणोंसे विशिष्ट जानकर धन्यवाद दियाकरो ' **चलना न जाने आंगन टेढो** ' वाली कहावत चरितार्थ मत किया करो !

इसी कर्मकाण्डके सुधारमें भगवान्ने इस गीताके ६ अध्याय समाप्त किये हैं फिर भी जो प्राणी अपने कर्मोंका सुधार न करके संसार वन्धनसे न छुटे तो वह महाप्रभु क्या करे ? उसने तो यह इन्द्रजाल रचकर कर्मको प्रधान करदिया। जैसा करो वैसा पाओ, जैसा पीसो वैसा उठाओ ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन् ! एक बार तुम कहते हो, कि " **कल्पादौ विसृजाम्यहम्** " कल्पकी आदिमें मैं सृष्टिको रचता हूं अर्थात् अपनेमें कर्तृत्वाभिमान स्वीकार करते हो और फिर कहते हो, कि " **उदासीनवदासीनम्** " मैं उदासीनके समान निरसंग रहता हूं ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध देखपडती हैं इसलिये मुझको समझाकर कहो, कि दोनोंमें क्या यथार्थ है ?

इतना सुन भगवान् बोले । अर्जुन ! सुन ! मैं तुझसे पहले कह चुका हूं पर तू भूलगया इसलिये मैं फिर तुझसे कहता हूं—

मू०— मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

पदच्छेदः— [हे] कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्रार्जुन ! ) अध्यक्षेण ( स्वामिना ) मया ( चेतनरूपेण सर्वविक्रियाशून्येन ) प्रकृतिः ( त्रिगुणात्मिका माया ) सचराचरम् ( विश्वम् ) सूयते ( उत्पाद्यते ) अनेन हेतुना ( मदधिष्ठानेन कारणेन ) जगत् ( सृष्टिः ) विपरिवर्तते ( पुनःपुनर्जायते ) ॥ १० ॥

पदार्थः— ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( मयाध्यक्षेण ) मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतासे अर्थात् मेरी आज्ञासे मेरे सामने ( प्रकृतिः ) यह मेरी त्रिगुणात्मिका माया ( सचराचरम् ) जड चेतन युक्त इस संसारको ( सूयते ) जनती है अर्थात् उत्पन्न करती है ( अनेन हेतुना ) इसी कारणसे ( जगत् ) यह चराचरात्मक संसार ( विपरिवर्त्तते ) बार-बार उत्पन्न हुआकरता है ॥१०॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि तुम कर्तृत्वाभिमान और फिर उदासीनता भी दिखलाते हो ये दोनों बातें कैसे बने ? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि देख ! मैं स्वयम् तो कुछ करता नहीं । जैसे मनुष्यगण अपने हाथोंसे खेतोंको खोदते हैं, बीज बोते हैं, नाज काटते हैं, कूटते हैं, फिर उन्हें खाते हैं ऐसे तो मैं न कुछ

करता हूं और न भोगता हूं मैं तो तुझसे बार-बार पहले भी कहआया हूं और फिर कहता हूं, कि [ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ] मेरी अध्यक्षतामें यह प्रकृति जड़चेतन सहित सारे जगत्को उत्पन्न करती है अर्थात् जैसे घरका स्वामी अपनी गद्दीपर बैठा देखता रहता है और उसकी दासियां गृहकार्योंको सम्पादन करती रहती हैं और वे स्वामीके मुखकी ओर देखती रहती हैं और उसकी भृकुटीके विलासमें सब कार्य सम्पादन करती रहती हैं। क्योंकि कार्योंके सम्पादन करनेकी शक्ति स्वयं उन दासियों में नहीं होती स्वामी जैसे-जैसे विचित्र शक्ति प्रदान करता है और जैसे-जैसे प्रेरणा करता है तैसे-तैसे वे सम्पादन करती हैं। इसी प्रकार मेरी अध्यक्षतामें मेरी प्रकृति कार्य करती है उसका प्रेरक मात्र मैं हूं पर मैं कुछ नहीं करता इसलिये कर्तृत्वाभिमान तो मुझे स्पर्श ही नहीं कर सकता। यदि कहो, कि प्रेरकको भी कर्तृत्वाभिमानका दोष लगना चाहिये सो ठीक है पर प्रेरकको तो किसी कर्मके कर्तृत्वाभिमानका दोष तब लगेगा जब वह प्रेरक कर्मके फलोंके भोगनेकी इच्छा रखेगा अथवा भोगेगा। सो तो किसी कर्मके फलसे मैं कुछ अपना तात्पर्य सिद्ध ही नहीं करता हूं। क्योंकि मुझको किसी प्रकारकी कामना नहीं इसलिये मैं उदासीनवत् बैठा-बैठा सबका साक्षीमात्र बनारहता हूं इसी कारण मुझको फल बाधा नहीं करते।

शंका— भगवान् कर्मोंका अध्यक्ष अर्थात् प्रेरक बनकर उन के फलोंके नहीं भोगनेसे उदासीनता अंगीकार करें निस्संग बनजाता है सो कैसे बने ? क्योंकि जो प्रेरकके अधीन होकर कार्य करता है

वह प्रेरकका सहायक मात्र कहला सकता है इसलिये उसे केवल सहायतामात्रका दोष लगे तो लगे पर उस सहायकको कर्मका सम्पूर्ण दोष क्यों लगेगा ?

दूसरी बात यह है, कि जैसे मोहनने एक खड्ग सोहनके हाथ में देकर नेत्रोंसे संकेत करदिया, कि यज्ञदत्तको मार आओ और आप बैठा-बैठा देखता रहा पर यद्यपि उसके हृदयमें मारनेका फल जो फांसी तिसकी इच्छा नहीं है अर्थात् कर्मफल भोगनेकी इच्छा नहीं है तो क्या वह दोषी नहीं कहाजायगा और फांसी नहीं पडेगा ? फिर भगवान् अध्यक्ष बनकर फलसे निस्संग कैसे होता है ?

इन्द्रजाल बनानेकी शक्ति इन्द्रजालवालेसे भिन्न नहीं होसकती फिर इन्द्रजालवाला यदि किसी वस्तुको जलादेवे तो जलानेका दोष इन्द्रजालसे रचित अग्निको नहीं लगेगा वरु इन्द्रजालवालेको लगेगा इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि सृष्टिका जो कुछ दोष गुण है सब प्रेरकको अर्थात् अध्यक्षको लगना चाहिये क्योंकि अध्यक्ष ही प्रधान कारण होता है उसीकी आज्ञासे सब कुछ होता है ।

इसी कारण अध्यक्ष भी निर्दोषी नहीं होसकता । सो भगवान् अध्यक्ष बनकर प्रकृतिको कर्त्ता बनाकर निस्संग होना चाहता है और आप निकल भागना चाहता है ऐसा क्यों ?

**समाधान**— यहां जो किसी मनुष्य मोहन, सोहन इत्यादिका उदाहरण दिया गया सो यह उदाहरण भगवत्में नहीं घटसकता भग-

वान मनुष्योंके समान कोई व्यक्तिविशेष आंख, कान, नाक इत्यादिको धारण किये कहीं बिछावन बिछाये बैठा प्रकृतिसे कुछ करवाता रहता है ऐसा नहीं क्योंकि एक तो भगवान स्वयं अव्यक्त है और उसकी शक्तियां भी अव्यक्त हैं अर्थात् अरूप हैं इनका रूपरेख नहीं। वह जो महा-प्रभु परमप्रकाशस्वरूप है सो केवल अपने प्रकाशसे अपनी अध्यक्षता धारण करता है। मानुषी आकार धारण करे अध्यक्षताको धारण नहीं करता, हां इतना है, कि जब वह अपनी सत्तामात्रसे अध्यक्षताको धारण करता है तब माया अर्थात् उसी महाप्रभुकी परा और अपरा प्रकृतियां जिनका वर्णन अ० ७ श्लोक ४, ५, में करआये हैं प्रकाशमान होकर सारी सृष्टिमें कार्य सम्पादन करती हैं तहां न तो वह स्वयं किसी विशेष व्यक्तिमात्र स्वरूपको धारण करता है, न उसकी शक्तियां व्यक्तिमात्र होती हैं, दोनों अव्यक्त हैं पर केवल ये प्रकृतियां भगवतके सत्तारूप प्रकाश मात्रको पाकर सारा इन्द्रजाल दिखलाती रहती हैं पर दोनोंमें कोई भी उन कर्मोंसे बद्ध नहीं होता केवल प्रकाशमात्र है सो प्रकाश सदा व्यक्तपदार्थोंसे असंग रहता है।

जैसे किसी बडे महलमें एक बत्ती जल रही है उसके प्रकाशमें एक प्राणी उस महलमें आकर ग्रन्थ लिखगया, दूसरा कपडा सींगया, तीसरा आकर युद्ध करगया थोडी देरके पश्चात् चौथे पुरुषने एक बालकको उस महलमें लाकर उसकी आंखें निकाल लीं एवंप्रकार रात्रि भर वह बत्ती उस घरमें जलती रही और चार आदमियोंने चारों प्रहर रात्रिमें आकरे अपने भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन किये।

अब यहां विचारने योग्य है, कि उस जलती हुई बत्तीके प्रकाशके न होनेसे इन चारोंमें कोई कुछ नहीं करसकता था प्रकाश ही इनके कार्यसम्पादनका मुख्य कारण है पर इन कार्योंके लाभ वा हानि रूप फल उस प्रकाशको नहीं पहुंचते ।

इसी प्रकार भगवान् अपने प्रकाशमात्रसे साक्षीरूप होता है अर्थात् अपने प्रकाशसे प्रकृतिको प्रकाशमान करता है फिर उस प्रकृतिके प्रकाशमें सारे ब्रह्माण्डकी रचना बनती बिनशती रहती है और प्रकाश आप निरसंग रहता है ।

जैसे सूर्य जब उदय होता है तब उसके प्रकाशमें सारा ब्रह्माण्ड कार्य करने लगजाता है कोई पाप करता है, कोई पुण्य करता है पर सूर्यको इन कर्मोंसे कोई तात्पर्य नहीं रहता केवल साक्षीमात्र है प्रमाण श्रु०--"ॐ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (कठो० अ० २ बल्ली २ श्रु० ११)

अर्थ—जैसे सूर्य जो सम्पूर्ण लोकोंका चक्षु है सबको अपने-अपने कार्य करनेकी आंख प्रदान करता है अर्थात् प्रकाश प्रदान करता है परन्तु कार्योंके फलसे लेपायमान नहीं होता तथा मलमूत्रादि अपवित्र पदार्थोंपर भी उसकी किरणें पडती हैं पर सूर्य उनके स्पर्शसे अपवित्र नहीं होता सदा निरसंग रहता है । इसी प्रकार वह भगवान् सब भूतोंका अन्तरात्मा है वह इन जीवोंके पापकर्मोंसे बद्ध नहीं होता अर्थात् वाह्येन्द्रिय (नेत्रके) अवलोकन करनेसे जो यह वाह्य

अपवित्रता है इससे कदापि लेपायमान नहीं होता इसी कारण निस्संग कहाजाता है ।

यदि शंका हो, कि दीपक और सूर्यसे जो उदाहरण दियागया तहां दीपक और सूर्य दोनों जड हैं अपने जडत्वके कारण वे कुछ नहीं जानसकते पर परमात्मा जड नहीं वह तो सदा चेतन है उसकी अध्यक्षतामें जो कुछ होगा उसे वह अवश्य सांगोपांग जानेगा जब जानेगा तब उन कर्मोंके परिणामको देखकर शुभकर्मोंके सम्पादन करने वालोंसे प्रसन्न और अशुभ कर्मवालोंसे अवश्य अप्रसन्न होगा और जब उसमें प्रसन्नता और अप्रसन्नता आयी तब निस्संगता कहां रही ?

इसलिये किसी प्रकारका अध्यक्ष क्यों न हो उदासीन बनकर निस्संग नहीं होसकता । और यही शंका चलीआरही है, कि भगवान्‌ने अपनेको उदासीनवत निस्संग क्यों कहा ? सबका कर्त्ता होकर उदासीन कैसे कहा जासकता है ? तो उत्तर यह है, कि भगवतको चेतन माननेमें सर्व सम्मति है इसमें तनक भी सन्देह नहीं ! वह सब कुछ जानता है और सर्वसाक्षी है पर इतना जाननेपर भी वह दूषित नहीं होसकता और न अप्रसन्न होसकता है। क्योंकि वह तो जानताही है, कि मैंने जितने नियम बनादिये हैं उनके अनुसार सब शुभ अशुभ कार्य चलरहे हैं हां ! यदि उनके नियममें किसी प्रकारका उलट-पुलट होने लगता तब तो उसकी अप्रसन्नता अवश्य होती। जैसे पापी स्वर्ग-चलेजाते, पुण्यात्मा नरक जाते, पापका परिणाम सुख होता, पुण्यका परिणाम दुःख होता तब अवश्य यह कहना योग्य था, कि परमात्माकी

आज्ञाके विरुद्ध कार्य होरहे हैं इसलिये उसको अप्रसन्न होना चाहिये। सो ऐसा तीनकालमें भी नहीं होसकता, कि उस नियन्ताके नियमोंके विरुद्ध एक तृण भी डोलसके इसलिये वह परमात्मा सर्वसाक्षी और सर्वाध्यक्ष होताहुआ भी निरसंगही कहा जावेगा। शंका मतकरो!

सच तो यह है, कि उसने अपने आश्रय रहनेवाली प्रकृति (शक्ति) को जब रचनेकी आज्ञादी तब त्रिगुणात्मक होकर उस शक्तिने रजसे ब्रह्मा, सत्वसे विष्णु और तमसे शिवको उत्पन्नकिया। इस रजमें भगवत्ने अपने परम प्रकाशसे वह शक्ति प्रदान करदी, कि सृष्टि रचना मात्र तो करदेवे और कुछ न करे उसी महाप्रभुकी आज्ञा पाकर ब्रह्माने सृष्टिकी रचना की और ऐसा जाना, कि मैं सृष्टिका करनें वाला हूं। बस देखो! ब्रह्मासे ही परमात्माका निरसंग होना आरंम्भ होगया क्योंकि ब्रह्माने अपनेमें कर्तृत्वाभिमान स्वीकार करलिया।

प्रमाण श्रु०— "ॐसोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्व-मसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत" (बृह० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० ५ में देखो)

अर्थ— उस प्रजापतिने ऐसा जाना, कि मैं सृष्टिका बनानेवाला हूं इसलिये मैं ही सृष्टि हूं। इस सारे जगत्को मैंने ही रचा इसलिये यह सृष्टि मुझसे भिन्न नहीं मैं ही सृष्टि हूं।

इस एक श्रुतिसे यह प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि ब्रह्माने अपनेमें कर्तृत्वाभिमान स्वीकार करलिया इसी प्रकार विष्णुमें पालन करनेका

और शिवमें संहार करनेका कर्तृत्वाभिमान प्रवेश करगया बस इतना होतेही वह सच्चिदानन्द परब्रह्म जगदीश्वर इनसे निस्संग होगया।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इसी प्रकार जैसे-जैसे रचना बढती चलीगयी, तीनों गुणोंके व्यवहार बढते चलेगये तैसे-तैसे एक२ व्यक्तिने अपनेको कर्त्ता मानना आरम्भ करदिया यहांतक, कि आज एक साधारण पुरुष भी कह बैठता है, कि मैं दश मनुष्योंको पालता हूं मैं काशी नरेश हूं, मैं विद्वान हूं, मैं गवैया हूं इत्यादि-इत्यादि ।

तात्पर्य्य यह है, कि इस सृष्टिमें ब्रह्मासे लेकर एक चींटी पर्य्यन्तकी जितनी रचनाएं हुईं सबोंमें अपने स्वरूपका अहंकार प्रवेश करगया और सबोंने अध्यक्षको भूल अपनेहीमें कर्तृत्वाभिमान निरूपण करलिया ।

फिर जब सारी सृष्टिने आपसे-आप अपनेमें कर्तृत्वाभिमान स्वीकार करलिया तो परमात्मामें कर्तृत्वाभिमानका लेशमात्र भी नहीं रहा इसलिये परमात्माका निस्संग होना सिद्ध है ।

अब भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि मैं निस्संगहूं पर मेरी अध्यक्षतामें यह मेरी प्रकृति सबको उत्पादन करती है इसी कारण [ हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ] हे कौन्तेय ! यह जगत् बारम्बार उत्पन्न होता रहता है अर्थात् यह सृष्टि एकबार उत्पन्न होकर नष्ट होजाती है फिर इस ग्रन्थमें बार-बार कहागया है, कि 'यथापूर्वम्' जैसे पहले रहती है दूसरे कल्पमें भी वैसेही बन-

जाती है इसी कारण इस सृष्टिको भी विवेकी पुरुष अनादि और अनन्त कहते हैं ।

इसलिये हे अर्जुन ! मैंने जो अपनी अध्यक्षताका उदाहरण दिया और तुझसे कहा, कि मेरी अध्यक्षतामें मेरी प्रकृति कार्य करती है उस उदाहरणको मनुष्योंकी अध्यक्षताके समान मत समझ ! मैं फिर तुझसे कहता हूं, कि मनुष्योंके समान एक स्थानमें उदासीन बैठकर प्रकृतिके कार्यको चुपचाप देखता रहता हूं ऐसा नहीं वह तो केवल मेरे तेजमात्रकी अध्यक्षता अव्यक्तरूपसे समझनी चाहिये । अर्थात मुझमें जो तेज, बल, पराक्रम, महत्व इत्यादिकी अध्यक्षता है सो अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है स्थूल नहीं । प्रमाण श्रु०— "ॐ एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" ।

अर्थ— वह एक ही महेश्वर सब देवोंका देव सब भूतोंमें गुप्तरूपसे निवास कियेहुआ है तथा सर्वत्र व्यापरहा है फिर सबका अन्तरात्मा अर्थात् अन्तर्यामी है और सबके कर्मोंको अध्यक्षरूपसे देख रहा है तथा वही सर्वभूतोंका आधारमात्र है सबोंका साक्षी है और ज्ञानस्वरूप है अर्थात् सबको देखता है और जानता भी है एक चींटीसे ब्रह्मातकके कर्मोंका अवलम्बन करनेवाला और जाननेवाला है वह केवल है अर्थात अद्वितीय है दूसरा कोई उसके साथ नहीं । पर प्राकृत मनुष्यके समान एक ठौर कहीं नहीं बैठता इसलिये श्रुतिने 'निर्गुणश्च' निर्गुण है अर्थात प्राकृतगुणोंसे रहित है ऐसा कहा ।

शंका— जब भगवान् उदासीनवत् इस संसारका अध्यक्ष होता है तब उसको इस सृष्टिसे कुछ तात्पर्य ही नहीं रखना चाहिये फिर भगवानको इस इन्द्रजालके खडाकरनेका तात्पर्य ही क्या था ?।

समाधान— पहलेतो यह प्रश्न बनता ही नहीं है और न इसका कुछ उत्तर ही होसकता है। क्योंकि जो यथार्थ तत्वके जानने वाले हैं उनकी दृष्टिमें तो सृष्टिकी कहीं भी स्थिति नहीं है फिर जो वस्तु है ही नहीं उसके होनेका क्या कारण कहाजासकता है ? इसलिये न इसमें प्रश्न बनता है और न उत्तर बनता है वह तो इन्द्रजाल मात्र है और मिथ्या है अर्थात् कुछ भी नहीं है। यदि कहो, कि तुमने इसे इन्द्रजाल क्यों कहा ? तो उत्तर यह है, कि इन्द्रजाल उसीको कहते हैं जो वस्तुतः हो नहीं पर हुआ ऐसा भासे। फिर जो कहीं है ही नहीं तो उसमें क्या प्रश्न और क्या उत्तर बनसकता है ? तथा झंझटही क्या है सीधीसी बात यह है, कि ऐसा प्रश्न अज्ञानताके कारण होता है और अशुद्ध है। जैसे कोई बालक अपने बापसे पूछे, कि मेरे खेलनेके लिये चन्द्रमाको आकाशसे मेरेपास कब लादोगे ? तो इसका यथार्थ उत्तर कुछ भी नहीं होसकता क्योंकि प्रश्नका कारण ही अज्ञानता है। शंका मत करो !

यदि कोई पुरुष ऐसा कहे, कि जीवोंके भोगकेलिये और मोक्षकेलिये यह सृष्टि है तो जीवका परमार्थस्वरूप जो निर्विकार है तिसमें भोग बनता ही नहीं क्योंकि भोग नाम विकारहीका है सो इस निर्विकार आत्मामें नहीं होसकता और यदि कहो, कि बुद्धिको भोग

होता होगा सो भी नहीं बनता क्योंकि बुद्धि स्वयं भोगरूप है भोगनेवाली कैसे बनसकती है ? कदाचित् कोई ऐसा कहपडे, कि नहीं जीव और बुद्धि दोनों मिलकर भोगरूप हैं तो ऐसा कहना भी नहीं बनता क्योंकि जीव और बुद्धि दोनोंके मिलनेसे मिथ्यात्वका अनुभव होता है। इसलिये ऐसे प्रश्नका उत्तर ही नहीं। तहां वेद-मंत्रका प्रमाण है— "ॐ कोद्धावेदक इह प्रावोचत कुत आयाः कुत इयं विसृष्टिरिति मन्त्रः" अर्थात् वह कौन दूसरा है ? जो पर-मात्माको साक्षात् जानसकता है और वह कहांसे आकर प्राप्त हुआ ? ऐसा कौन प्राणी कहनेको समर्थ होसकता है ? और इस निर्विकारसे यह विकारवती सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? यह कौन कहसकता है ? जब परमा-त्मासे भिन्न कोई दूसरा परमात्मा हो और पूछनेवाला भी कोई तीसरा परमात्मा हो तब यह प्रश्न बनसकता है सो वह परमात्मा केवल है एक है, अद्वैत है, उससे इतर कोई भी नहीं है।

इसलिये केवल इतना ही कहना उचित है, कि परमेश्वरकी अध्यक्षतासे उसकी माया सारी सृष्टिको बनाती है इसी कारण यह सारा प्रपञ्च केवल मायाविलासमात्र है अन्य कुछ नहीं है। जो केवल व्यवहारदशामें अज्ञानियोंको प्रतीत होरहा है यथार्थमें तो कहीं कुछ भी नहीं है इन्द्रजाल ही मात्र है ॥ १० ॥

अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें यह दिखलावेंगे, कि जो मूढ हैं वे अज्ञानवश मुझे भी मानुषीभावके समान स्वार्थी देखरहे हैं और इसी कारण नास्तिक होरहे हैं—

मू०— अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— मोहिनीम् ( देहात्माभिमानरूपाम बुद्धिभ्रंशकारिणीम् ) राक्षसीम् ( हिंसाहेतुद्वेषप्रधानां तामसीम ) आसुरीम् ( भोगहेतुरागप्रधानाम् राजसीम् ) च, प्रकृतिम् ( स्वभावम ) एव ( निश्चयेन ) श्रिताः ( आश्रिताः ) [ सन्तः ] मोघाशाः ( वृथैव फलप्रार्थना येषां ते ) मोघकर्माणः ( निष्फलान्येव श्रमहेतुभूतानि अग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते ) मोघज्ञानाः ( निष्फलं ज्ञानं येषां ते ) विचेतसः ( विगतविवेकाः ) मूढाः ( विपरीतज्ञानाः ) भूतमहेश्वरम् ( सर्वभूतानां महान्तमीश्वरम् ) मम ( परब्रह्मणः ) परम ( सर्वोत्कृष्टम् ) भावम् ( परमात्मतत्वमाकाशवत्सर्वसंगविवर्जितमाकाशस्यापि मूलकारणभूतं परमात्मस्वरूपम् ) मानुषीम ( मनुष्य सम्बन्धिनीम् ) तनुम् ( देहम् ) आश्रितम ( गृहीतवन्तम ) माम् ( वासुदेवम ) अवजानन्ति ( अवमन्यन्ते ) ॥ ११, १२ ॥

पदार्थः— ( मोहिनीम् ) मोह करके बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली ( राक्षसीम् ) हिंसा इत्यादि करनेके निमित्त जो द्वेष करके तामसी बुद्धि तथा ( आसुरीम् ) नाना प्रकारके विषय भोग करनेके निमित्त राग करके ( च ) भी दूषित जो राक्षसी बुद्धि तिससे युक्त

( प्रकृतिम् ) स्वभावको ( एव ) निश्चय करके ( श्रिताः ) धारण कियेहुए ( मोघाशाः ) वृथा आशा करनेवाले ( मोघकर्माणः ) वृथा यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले ( मोघज्ञानाः ) जिनका ज्ञान निष्फल है तथा ( विचेतसः ) जो विवेक हीन हैं ऐसे ( मूढाः ) मूढ वृन्द ( भूत-महेश्वरम् ) सब भूतोंका महान् ईश्वर ( मम परं भावम ) जो मेरा अत्यन्त श्रेष्ठ भाव है उसको अर्थात् मुझ महेश्वरके निरसंगरूपको ( अजानन्तः ) नहीं जानते हुए ऐसा जानते हैं, कि मैं ( मानुषीम ) मनुष्यके ( तनुम ) शरीरको ( आश्रितम ) आश्रय करके उन्हींके समान व्यवहार करता हूं इसलिये वे ( माम् ) मुझ अव्यक्तका ( अव-जानन्ति ) अपमान करते हैं अथवा यों कहलो, कि मूढलोग मेरे इस कृष्णरूपका अपमान करते हैं ॥ ११, १२ ॥

**भावार्थः**— अब भगवान् ११, १२ इन दोनों श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि अज्ञानी लोग मुझको मनुष्यके ऐसा व्यवहार करने-वाला जानकर मेरे यथार्थस्वरूपका अपमान करते हैं। इसी वार्त्ताको सिद्ध करनेके लिये भगवान् कहते हैं और पहले भी कहआये हैं, कि मैं जो अध्यक्ष इत्यादिका व्यवहार सम्पादन करता हूं सो मानुषी शरीरको धारण कर नहीं करता हूं अर्थात् मेरी अध्यक्षता प्राकृत मनुष्यके समान नहीं है इसीलिये कहते हैं, कि [ **अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्** ] जो लोग विवेकहीन हैं वे मेरा अपमान करते हैं और कहते हैं, कि मनुष्य-शरीरको धारण कर मैं वर्त्तमान हूं। अर्थात् जैसे सर्वसाधारण मनुष्य किसीका अधिपति बनकर अपनेको उसमें बांधलेता है इसी प्रकार मैं भी शरीर धारण करके सब कुछ करता हूं और बद्ध रहता हूं ऐसा

कहनेवाले परम नास्तिक और अज्ञानी हैं । क्योंकि मैं मानुषी-शरीर धारण कर मनुष्योंके समान अपनी अध्यक्षतासे वंधायमान नहीं होता ऐसा कहनेवाले वे ही हैं जो [ **परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्** ] जो सब भूतोंके परमप्रभु मेरे उत्कृष्ट-स्वरूपको नहीं जानते हैं । इसी कारण वे मुझको मानुषभावमें युक्त समझते हैं और सब भूतोंका महान ईश्वरस्वरूप जो मेरा अत्यन्त श्रेष्ठ भाव है तिसको नहीं जानते हैं क्योंकि वह मेरा स्वरूप आकाशके समान सर्वप्रकारके संगोंसे विवर्जित है सो मैं पहले कहआया हूं वह आकाश जो सर्वसंगविवर्जित है उससे भी मैं अत्यन्त सूक्ष्म हूं । इसलिये उसका भी मैं मूल कारण हूं ऐसा जो मेरा अव्यक्तस्वरूप परमानन्दमय है तिसे ये मूढ अज्ञानतावश नहीं जानते । क्योंकि इनकी बुद्धि वासनाओंसे मलिन रहती है इसलिये मेरा परम भाव इनके ध्यानमें नहीं आसकता । जैसे जन्मान्ध सूर्यको जानही नहीं सकता उसके लिये तो आठों प्रहर अन्धकार ही अन्धकार बना हुआ है । इसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य दोनों आंखोंसे अन्धहृदयवालोंको मेरा परम प्रकाशस्वरूप देखनेमें नहीं आसकता । क्यों नहीं देखनेमें आता तो कहते हैं, कि [ **मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः** ] वे नाना प्रकारकी मिथ्या आशा रखनेवाले हैं, नाना प्रकारके मिथ्या कर्मोंके साधन करनेवाले हैं और मिथ्याज्ञानसे जिनका चित्त विमूढ होरहा है उनको किसी देवता देवीमें अथवा मुझमें तनक भी विश्वास नहीं इसलिये उनकी आशा कौन पूरी करे ? अतएव उनकी प्रार्थना इत्यादि निष्फल होती हैं । फिर वे **मोघकर्मा** भी कहलाते

हैं अर्थात् नाना प्रकारके यज्ञादि कर्मोको करते तो हैं पर इनका, परिश्रम व्यर्थ जाता है क्योंकि यथार्थ सात्विकस्वभावसे तो ये कर्म करते नहीं ये तो केवल तामसी वा राजसी स्वभावसे बडे-बडे परिश्रमोंका साधन करते हैं पर वह उनका परिश्रम व्यर्थ जाता है। जैसे हिरण्यकशिपु रावण इत्यादि राक्षसोंने उग्र तप करके अपने-अपने अमर होजानेका परिश्रम किया पर इनका परिश्रम निरर्थक गया अमर न हुए क्योंकि इनकी तपस्या तामसी थी। इसी रावणने युद्ध करते समय तथा उसके पुत्र मेघनादने युद्धविजय करनेके तात्पर्यसे अनेक प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन किया पर युद्धविजय न करसका मारागया। इसी कारण ये भी मोघाशा और मोघकर्मा कहलाते हैं। ऐसेही जो प्राणी हिंसक मद्यपी तथा विषयी हैं तामसी और राजसी प्रकृतिमें डूबे हुए हैं उनकी किसी प्रकारकी कामना सिद्ध नहीं होसकती क्योंकि उनका कर्म ही निरर्थक है चाहें वे लाखों करोडों यज्ञ क्यों न करें उनसे उनको कुछ भी लाभ नहीं होसकता। क्योंकि वे उन यज्ञोंको तामसी बुद्धिसे करते हैं और वे 'मोघज्ञाना' हैं अर्थात् जिनका ज्ञान व्यर्थ है तात्पर्य यह है, कि सर्वप्रकारके वेद-वेदान्तोंको अर्थ सहित पढकर विधि और निषेधको भली भांति जानकर भी वे सदा दुराचारहीमें रत रहते हैं और अन्तमें यमपुरीकी यात्रा करदेते हैं इसलिये उनको ज्ञानका फल कुछ भी नहीं होता। जैसे सर्पको दूध पिलाते चलेजाइये तो वह दूध विषही बनता चलाजावेगा क्योंकि सर्पमें विष होनेके कारण सर्पकी तामसी प्रकृतिही बनी हुई है इसी कारण गुणद दूध भी विष ही होजाता है। इसी प्रकार तामसी प्रकृतिवालेको ज्ञानसे कुछभी लाभ

नहीं होता अतएव भगवान कहते हैं, कि इनका ज्ञान निष्फल है।

फिर ये मूढ कैसे हैं ? कि 'विचेतसः' विवेकशून्य हैं इससे ये आत्मघाती कहे जासकते हैं क्योंकि ये राक्षसी और आसुरी प्रकृतिवाले मूढ यहांही नहीं दुर्गतिको प्राप्तहोते वरु शरीरपातके पश्चात् नरक भोगकरे भी इसी संसारकी क्रूरयोनियोंमें आकर उत्पन्न होते हैं ये मुक्तात्मा नहीं होसकते क्योंकि तमोगुणयुक्त तामसी प्रकृतिमें डूबे रहते हैं। तहां प्रमाण श्रु०— " ॐ असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृतास्तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः " ( ईशा० श्रु० ३ )

अर्थ— जो प्राणी आत्महत्यारे हैं तथा जो आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्मविद्याको छोड ऐसे अशुभ-कर्म करते हैं जिनसे वे नाना प्रकार शूकर कूकर इत्यादि निकृष्ट योनियोंको प्राप्त होते हैं। यही निकृष्ट योनियोंका प्राप्त होना है उनही योनियोंको असूर्यलोक कहते हैं फिर वे लोक कैसे हैं, कि अज्ञानताके अन्धकारसे घिरेहुए हैं। ऐसे अन्धकारमय लोकोंको अर्थात् निकृष्ट योनियोंको प्राप्त कर वे आत्मघातक कहेजाते हैं क्योंकि अध्यात्मविद्याद्वारा अपने आत्माको मुक्त न करके बन्धनमें डालदेते हैं।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि [ राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ] ऐसे मूढपुरुष राक्षसी, आसुरी तथा मोहिनी अर्थात् मोहमें डालनेवाली प्रकृतिके आश्रित रहते हैं। तात्पर्य यह है, कि राक्षसोंकी जैसी प्रकृति होती है ऐसी ही ठीक-ठीक इनकी

भी होती है। देखनेमें तो बडे सुन्दर वीर, चतुर, संसारभरको अपनी बुद्धिके नीचे समझनेवाले होते हैं पर दिन रात जीवोंके बध करनेमें तत्पर, इसे मारो, इसे काटो, इसे फूंको, इसे जलाओ, इसका धन हरण करलो इत्यादि अशुभकर्मोंमें मग्न तथा नाना प्रकारके भोगविलासोंमें अनुरक्त, संसारहीको मुख्य और सत्य माननेवाले राक्षसी और आसुरी अर्थात् राजसी और तामसी प्रकृतिवाले कहेजाते हैं। ये ही प्राणी ऐसा समझते हैं, कि वह परमात्मा मनुष्यके समान आकारादिको धारणकर इस सृष्टिकी अध्यक्षता करता होगा पर ऐसा नहीं वह सर्वेश्वर तो अपने निस्संग और अव्यक्तरूपसे अध्यक्षता करता है।

दूसरा अर्थ इन दोनों श्लोकोंका भाष्यकारोंने योंभी किया है, कि जो आसुरी प्रकृतिवाले हैं वे मेरे राम, कृष्णादि अवतारोंको मनुष्योंके भावके समान मानकर मेरे इन साकार रूपोंका निरादर करते हैं। यद्यपि इस अर्थका यहां प्रसंग नहीं है प्रकरण विरुद्ध है तथापि यह अर्थ भी करने योग्य है निरर्थक नहीं है। क्योंकि भगवान अपने इस श्रृंगाररसमय आनन्दयुक्त कृष्णस्वरूपकी उपासनाको मुख्य बतलातेहुए पहले कह आये हैं, कि "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम्....." ( अ० ८ श्लो० १५ ) अर्थात् मुझको प्राप्तकरके फिर महात्मापुरुष दुःखका घर जो यह पुनर्जन्म सो नहीं पाते क्योंकि वे लोग मेरे भजनद्वारा परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। तहां यह भी भगवान कह आये हैं, कि " अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः " ( अ० ७ श्लो० २४ ) अर्थात् इस ११ वें श्लोक और सातवें अध्यायके इस २४ वें श्लोकका भाव एक समान है तात्पर्य यह है, कि जो मूढ हैं वे

भगवान्‌के परमात्मभावको न जानकर ऐसा जानते हैं, कि वह मनुष्यों के समान शरीर धारण कियेहुआ है तात्पर्य यह है, कि उसको मनुष्य मान अज्ञानी गण अवज्ञा करते हैं ॥ ११, १२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! फिर वे प्राणी कौनसे हैं जो आपके यथार्थ महत्त्वको जानकर आपका भजन करते हैं सो कृपा कर कहो!

भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

**मू०—महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥**

**पदच्छेदः—** [ हे ] पार्थ! ( पृथापुत्रार्जुन! ) दैवीम् ( शमदमादि लक्षणां सात्विकीम् ) प्रकृतिम् ( स्वभावम् ) आश्रिताः ( अवलम्बिताः ) अनन्यमनसः ( एकाग्रचेतसः मद्व्यतिरिक्तेऽन्यस्मिन् नास्ति मनो येषां ते ) महात्मानः ( महान् प्रकृष्टोऽनेकजन्मार्जितयज्ञदानादिभिः संशोधित आत्मा चित्तं येषां ते ) तु, माम् ( ईश्वरम् ) भूतादिम् ( भूतानामाश्रयम्। वियदादीनामप्यादिकारणम् ) अव्ययम् ( अविनाशिनम् ) ज्ञात्वा ( बुद्ध्वा ) भजन्ति ( सेवन्ते ) ॥ १३ ॥

**पदार्थः—** ( पार्थ! ) हे पृथापुत्र अर्जुन! ( दैवीम् ) शमदमादि युक्त सात्विक ( प्रकृतिम् ) स्वभावको ( आश्रिताः ) धारण किये हुए ( अनन्यमनसः ) मेरे बिना किसी अन्यको कभी भी जो

मनमें नहीं लाते ( महात्मानः ) ऐसे महापुरुष ( तु ) तो विलक्षण-रूपसे ( माम् ) मुझ महेश्वरको ( भूतादिम् ) आकाशादि सब भूतों का आदि कारण तथा ( अव्ययम् ) अविनाशीस्वरूप ( ज्ञात्वा ) जानकर ( भजन्ति ) भजते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि वे कौनसे हैं ? जो तुमको भजते हैं तिसके उत्तरमें अब सकल अघगञ्जन, क्लेश-भञ्जन, भक्तजनरञ्जन, आनन्दकन्द, श्री कृष्णचन्द्र अपने भजन करने वालोंका परिचय देते हुए कहते हैं, कि [महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिता भजन्ति ] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न जो महात्मा हैं वे ही मुझे भजते हैं । अर्थात् जिन महापुरुषोंने शुद्ध माता और पितासे जन्म पाया है तहां जो दैवी प्रकृति के आश्रित हैं अर्थात् शम, दम, दया, दान इत्यादिसे सम्पन्न हैं और अनेक जन्मोंसे चारों आश्रमोंके धर्मोंको पालन करते चले आरहे हैं इसलिये वर्त्तमान जन्ममें जो निर्मल और शुद्ध अन्तःकरणवाले होरहे हैं वे ही महात्मा कहे जाते हैं सो हे अर्जुन ! ऐसे जो महात्माजन हैं वे तो निश्चय करके मुझको भजते हैं और वे ही मेरे इस इन्द्रजालसे बाहर निकले हुए हैं वे इससे मोहित नहीं होते। अर्थात् जैसे प्रथम कहे हुए तामसी और राजसी प्रकृतिवाले मेरे स्वरूपका अपमान करते हैं ऐसे इस दैवी प्रकृति वाले नहीं करते ये तो अवश्य ही मुझको भजते हैं।

शंका— भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं ? क्या ऐसा नहीं हो सकता, कि आसुरी ( राक्षसी ) बुद्धिवाले भी उनका भजन करें और दैवी प्रकृतिवालोंमें बहुतेरे न करें !

**समाधान**— ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि प्रकृति कहते हैं स्वभावको सो उस स्वभावका हेर फेर नहीं होसकता जो अमृत है वह सदा अमृत है और जो विष है वह सदाके लिये विष है। प्रमाण—

**न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतन्तथा। प्रकृतेरन्यथा भावो न कथञ्चिद्भविष्यति** "( गौडपादीयकारिका प्रक० ३ श्लो० ११ )

**अर्थ**— अमृत मरणको नहीं प्राप्त होसकता और विष अमृतत्त्वको नहीं प्राप्त होसकता क्योंकि किसी जड वा चेतनका अपने स्वभावसे अन्यथा भाव होता नहीं। कारण है, कि " **सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या। प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या**" (गौडपादीय० प्र० ४ श्लो० ६) अर्थात् यह प्रकृति " **सांसिद्धिकी** " है " **स्वाभाविकी** " है " **सहजा** " है और अकृता है। तहां " **सांसिद्धिकी** " उसे कहते हैं जो आपसे आप सिद्ध है जिसे **स्वयं सिद्ध** भी कहते हैं। फिर स्वभाविकी उसे कहते हैं जिसमें कभी हेरफेर न हो। जैसे अग्नि तीन कालमें भी शीतल नहीं होसकती। इसी प्रकार " **सहजा** " उसे कहते हैं जो जीवके साथ-साथ उत्पन्न हो। फिर " **अकृता** " उसे कहते हैं जो आपसे आप है कोई पुरुष घट पटके समान उसकी रचना नहीं करता। ये चारों बातें प्रकृतिमें पायी जाती हैं इसलिये जिसकी जैसी प्रकृति है वह उसके साथ-साथ सिद्ध है और इसमें कभीभी हेरफेर नहीं होता।

इसी कारण यह सिद्धान्त है, कि आसुरी स्वभाववाले भगवत्स्वरूपको जान नहीं सकते और दैवी स्वभाव वाले भगवत्से विमुख नहीं होसकते।

शंका— यदि स्वभाव ही अटल है तो फिर इतने वेद, वेदान्त तथा इस गीताशास्त्रके उपदेशकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि अज्ञानी ज्ञानी नहीं होसकता और ज्ञानी अज्ञानी नहीं होसकता फिर उपदेशसे क्या लाभ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि वस्तुका स्वभाव नाश नहीं होता क्योंकि स्वभाव नाश होते ही उस द्रव्यका भी अभाव होजाता है पर इतना तो अवश्य दृढ निश्चय करलेना चाहिये, कि जो जिसका स्वामी होता है अर्थात् रचने वाला होता है और उस स्वभावका बनाने वाला होता है वह यदि चाहें तो उस स्वभावको उलट पुलट करदेवे यदि इतनी शक्ति रचयितामें न होगी तो वह श्रेष्ठ रचयिता वा कर्त्ता नहीं कहाजावेगा इसलिये यह सिद्धान्त है, कि राजसी, तामसी, सात्विकी तीनों प्रकारकी प्रकृतियां भगवतके अधीन हैं वह चाहें अग्निको शीतल करदे और विषको अमृत करदे। देखो! प्रह्लादके लिये अग्निका शीतल होजाना सेतुबन्धके लिये प्रस्तरोंका पानी पर तैरना इत्यादि २ नाना प्रकारके ऐसे २ दृष्टान्त देखनेमें आते हैं जिनसे सिद्ध होता है, कि वह महाप्रभु चाहे तो स्वभावको एक बारगी पलट देवे।

फिर तिस भगवान्‌के भक्तोंमें भी उस भगवतका महत्त्व प्रवेश करजाता है अर्थात भगवान्‌के भक्तोंको भी उलट-फेर करनेका अधिकार होजाता है। इसलिये साधुजन भी प्राणियोंके तथा वस्तुओंके स्वभावको पलटा दे सकते हैं। क्यों कि "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इस श्रुतिके वचनानुसार ब्रह्मवेत्ता भी ब्रह्मस्वरूप ही होजाता है इस-

लिये जो गुण ब्रह्ममें है उसका ब्रह्म वेत्तामें भी होजाना सम्भव है। अतएव उसकी शरण जब अकस्मात् कोई आसुरी प्रकृति वाला पहुंच जावेगा तो उसके सत्संगके बलसे उसका स्वभाव बदल जावेगा जैसे पारसके संसर्गसे लोहभी स्वर्ण होजाता है। इसीलिये सत्संगका अमोघफल कहागया है। इसी प्रकार आसुरी प्रकृतिवाला महात्माओंके संगसे दैवी सम्पत्तिको प्राप्तकरे भगवान्का भजन करसकता है। जैसे बाल्मीकि महात्माओंके संगद्वारा व्याधासे महात्मा बनगये और भगवान्का भजन करने लगगये इसको भी निश्चय जानो; कि जबतक महात्माओंका संग न होवे तबतक करोडों उपाय करनेसे भी प्रकृति नहीं बदल सकती। शंका मतकरो!

इसी कारण भगवान् भजन करनेवाले महात्माओंका स्वभाव वर्णन करते हुए अर्जुनसे कहते हैं, कि हे पृथापुत्र अर्जुन! [ **अनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्** ] मेरे भक्त महात्मा-पुरुष अनन्यमनस हो मुझको जगत्का कारण और नाशरहित जान भजते हैं। अर्थात् मुझे छोड अन्य किसी पदार्थमें जिनका मन नहीं लगता सृष्टिके सब विषयोंसे विरक्त होकर मेरे चरणोंमें मनको लगाये अन्य सब आशा भरोसाको त्यागे रहते हैं। सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "**चेतसा नान्यगामिना**" "**मामाश्रित्य यतन्ति ये**" ( अ० ८ श्लो० ८ )

अब कहते हैं कि ऐसे जो अनन्य भक्त हैं वे क्यों ऐसे होजाते हैं? तो "**ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्**" वे मुझको सब भूतोंका कारण और अविनाशी जानकर भजते हैं इसलिये ऐसे होजाते हैं ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! वे महात्मा-पुरुष जो तुम्हारा भजन करते हैं किस प्रकार और किस रीतिसे तुमको भजते हैं ? सो कृपाकर कहो !

भगवान् बोले सुन—

मू०— सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
॥ १४ ॥

**पदच्छेदः—** सततम् ( सर्वदा ) माम् ( वासुदेवम् ) कीर्त्तयन्तः ( गोविन्दवासुदेवदामोदरमाधवमुकुन्देत्यादिभि-र्गायन्तो नृत्यन्तश्च ) यतन्तः ( शमदमदयाऽहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहादिभिर्यत्नं कुर्वन्तः ) च, दृढव्रताः ( केनापिचालयितुमशक्यं ब्रह्मचर्यादिव्रतं येषाम् ) [ तथा ] माम् ( महेश्वरम् ) भक्त्या ( परमप्रेम्णा ) नमस्यन्तः ( कायवाङ्मनोभिर्नमस्कुर्वन्तः ) च ( तथा ) नित्ययुक्ताः ( सदा मयि तत्पराः ) उपासते ( सेवन्ते ) ॥ १४ ॥

**पदार्थः—** हे अर्जुन! मेरे भक्त ( सततम् ) सर्वदा ( माम् ) मुझ वासुदेवके ( कीर्तयन्तः ) गोविन्द, दामोदर इत्यादि नामोंको उच्चारणकर कीर्तन करते हुए तथा ( यन्ततः ) ब्रह्मचर्यादिका यत्न करतेहुए ( च ) फिर ( दृढव्रताः ) किसी प्रकारके विषयसे चलायमान न होकर शमदमादि व्रतमें दृढ रहते हुए तथा ( माम् ) मुझ जगदीश्वरको ( भक्त्या ) परम प्रेम और भक्तिपूर्वक ( नमस्यन्तः )

नमस्कार करते हुए ( च ) भी ( नित्ययुक्ताः ) सदा एकाग्रचित्तहो मेरे स्वरूपमें युक्त होकरके ( उपासते ) मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

**भावार्थः**— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि महापुरुष लोग किस प्रकार तुम्हारा भजन करते हैं ? जिससे वे सांगोपांग तुमको जानकर तुम्हारा स्वरूप ही होजाते हैं उसकी ठीक-ठीक रीति मुझे उपदेश करदो ! इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! एकाग्र चित्त हो मेरी बात सुन ! [ **सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः** ] जो मेरे भजन करनेवाले महात्मा हैं वे निरन्तर आठों-याम मेरे कीर्तनमें लगे रहते हैं और ब्रह्मचर्यादि व्रतकेलिये यत्न करतेहुए दृढव्रत रहते हैं अर्थात् किसी प्रकारके विषयसे चलायमान नहीं होते । तात्पर्य यह है, कि वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण इतिहास इत्यादिके द्वारा गुरुमुखसे जब यों श्रवण करते हैं; कि मैं दयासागर, भक्त-वत्सल, दीनबन्धु, करुणानिधान, सबोंका रक्षक, सबठौरे घट २ व्याप रहा हूं तब इन मेरे गुणोंको तथा मेरी लीलाओंको स्मरण कर आन-न्दमें मग्न हो हरे गोविन्द, वासुदेव, दामोदर, माधव, मुकुन्द इत्यादि नामोंको लेकर गाते हैं, रोते हैं तथा आनन्दमें मग्न हो शरीरकी सुधि भूलजाते हैं और मतवालोंके समान श्वास लेने लगते हैं। "जडो-न्मत्त" फिर जड़के समान अपने आनन्दसे कहीं हिलते तक नहीं। सदा मेरे ध्यानमें मग्न एक ठौर बैठ जाते हैं । चलते-चलते मार्गमें जहां ही मेरा स्वरूप स्मरण होआया तहां ही कीर्तन करतेहुए क्षुधा, पिपासा, निद्रा इत्यादि सब शारीरिक कर्मोंको भूलजाते हैं और उन्मत्तके समान किसी प्रकारकी लोकलाजकी परवा कुछ भी नहीं करते । चाहे चक्र-

र्त्ती राजा क्यों न हो पर भगवत्कीर्तनके समय अपनी इतनी बडी पदवीका कुछ भी ध्यान न करके सब छोटे बडोंको भगवत्स्वरूप ही जानकर सर्वत्र सबोंको श्याममय देखते हुए एक अत्यन्त छोटे धीवरके गलेमें भी लिपटकर, नाचने लगते हैं और उनको अपना सखा समझने लगते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार कीर्तन करते हुओंको केवल ऐसा मत समझो ! कि वे यथार्थमें पागलोंके समान होजाते हैं वरु "**यतन्तश्च दृढव्रताः**" मेरे मिलनेके लिये ब्रह्मचर्यादि यमनियमोंके अंगोंको भी दृढव्रत होकर पालन करते रहते हैं अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि जो यमके पांच अंग हैं उनको यत्नपूर्वक संभालते हुए मेरेमें लौ लगाये रहते हैं।

इन हीं पांचों अंगोंको महाव्रत कहते हैं। प्रमाण "**एते जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः** * **सार्वभौमामहाव्रतम्**" ( पतं० साधनपा० सू० ३१ )

* पाठकोंके बोधार्थ यह सार्वभौम महाव्रत स्वच्छ और परिष्कार करके लिखा जाता है। जो धर्म जाति, देश, काल और समयसे अवच्छिन्न न हो उसे सार्वभौम-महाव्रत कहते हैं। जैसे ब्राह्मणको न मारना और कसाईको मारना, गौको न मारना और बकरेको मारना **जात्यवच्छिन्नधर्म** कहाजाता है सार्वभौम नहीं।

फिर जैसे काशीमें वा प्रयागमें हिंसादि पाप नहीं करना तथा इंग्लैंड और फ्रांसमें हिंसादि पाप करना यह **देशावच्छिन्नधर्म** कहाजाता है सार्वभौम नहीं।

इसी प्रकार एकादशी, पौर्णमासी वा अमावस्याको हिंसादि पाप नहीं करना अन्य तिथियोंमें हिंसादि पाप करना यह **कालावच्छिन्नधर्म** कहाजाता है सार्वभौम नहीं।

अर्थ— जो प्राणी इस महाव्रतको जाति, देश, काल और समय इन चारोंसे अनवच्छिन्न होकर प्रतिपालन करे अर्थात् सर्वभौम समझकर सर्व देश, सब काल, और सब समय सम्पादनकरे वही प्राणी महाव्रतवाला कहा जाता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो एवम्प्रकार महाव्रतके प्रतिपालन करनेवाले हैं वे [ **नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते** ] मुझको प्रेमपूर्वक नमन करतेहुए नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात् मेरे चरणोंमें मस्तक टिकाये रहते हैं और ऐसा करनेसे उनको परमसुख लाभ होता है। इसलिये दिन-दिन उन्नति करते हुए परमप्रेमके साथ मेरी भक्तिमें डूब जाते हैं और त्राहिमाम्, पाहिमाम् इत्यादि शब्दोंको उच्चारण करतेहुए मुझको बारम्बार मनन करते हैं और मेरी वन्दना करते हैं।

प्रिय पाठको ! भगवान्के कथन कियेहुए इसी महाव्रत और परम भक्तिकी उन्नतिनिमित्त महात्माओंने प्रतिमापूजनकी रीति निकाली है जो

---

इसी रीतिसे **गायत्र्यादि** मन्त्रोंके पुरश्चरण तथा कृच्छ्चान्द्रायणादि व्रतके समय हिंसादि पाप न करना और दूसरे समय करना यह **समयावच्छिन्नधर्म** है सार्वभौम नहीं।

इसलिये जो हिंसादि पाप कभी भी नहीं कियेजावें और न उनमें जाति, देश, काल इत्यादिकी रुकावट रहे उसे ही **सार्वभौमधर्म** कहते हैं। इसी कारण जो सब काल और सब देशमें हिंसादि अधर्मको त्याग अहिंसादि धर्मके सम्पादन करनेवाले हैं वे ही सार्वभौम महाव्रतके पालन करनेवाले कहेजाते हैं। ऐसे ही दृढव्रत प्राणी भगवत्के प्रेममें निरन्तर मग्न रहकर जडोन्मत्तपिशाचवत् रहते हैं।

इस कलिकालमें अधिक लाभदायक और सुखपूर्वक साधनकरने योग्य है । यदि कहो, कि ' प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम् ' अर्थात् प्रतिमा तो स्वल्पबुद्धियोंकेलिये है तो ऐसा मत कहो प्रतिमापर जो मेरा व्याख्यान मरे हंसनादग्रन्थके द्वितीय भागमें है उसका सम्यक् अवलोकन करनेसे ज्ञात होजावेगा, कि इस मर्त्यलोकमें भगवानके दो ही स्वरूप प्रकटरूपसे हैं एक प्रतिमा दूसरा सन्न्यासी " द्वे रूपे वासुदेवस्य चलञ्चाचलमेव च। चलं सन्न्यासिनो रूपमचलं प्रतिमादिकम् " अर्थात् उस भगवान् वासुदेव महाप्रभु सर्वान्तर्यामीके दो ही रूप प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं । एक चल अर्थात् एक स्थानसे दूसरे स्थानको गमन करनेवाला, दूसरा अचल एकही स्थानमें स्थिर रहनेवाला । इनमें जो सन्न्यासी है वह चल है और मन्दिरोंमें जो स्थापित है वह अचल प्रतिमा है ।

इसी कारण इन दोनोंको अर्थात् सन्न्यासी और प्रतिमाको भगवत्की मूर्त्ति जानकर प्रणाम करना चाहिये । स्मृतिका वचन है, कि " देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं दृष्ट्वा च दण्डिनम् । प्रणिपातन्न कुर्वाणो रौरवं नरकं व्रजेत् ॥ " अर्थ— जो देवताकी प्रतिमाको तथा यति दण्डीको देखकर दण्डवत् प्रणाम नहीं करता है वह रौरव नरकको गमन करता है । तात्पर्य यह है, कि सन्न्यासी और प्रतिमा इनको देखकर अवश्य नमन करना चाहिऐ यही सनातनधर्म है । किसी २ टीकाकारने ऐसा लिखा है, कि प्रथम ' माम् ' कहनेसे भगवानका तात्पर्य निर्गुणस्वरूपसे है और द्वितीय ' माम् ' कहनेसे भगवानका तात्पर्य सगुण-स्वरूपसे है इसलिये इस श्लोकमें दो बार ' माम् '

शब्दका प्रयोग किया है। (देखो मधुसूदनीटीका और भाष्योत्कर्षदीपिका)

अब भगवान् कहते हैं, कि उक्तप्रकार मेरे भजनकरनेवाले सदा मेरा कीर्तन करतेहुए दृढव्रतहोकर भक्तिपूर्वक मुझको नमन करतेहुए "नित्ययुक्ता उपासते" सदा सबकाल मेरेमें युक्तहोकर मेरी उपासना करते हैं। जैसे बाजीगर जब किसी पतल रस्सेपर चढता है तब अपना मन उस रस्सेसे युक्त रखता है इधर-उधर नहीं डिगनेदेता इसीको युक्तहोना कहते हैं। इसी प्रकार मेरे भक्त अपना मन एक क्षणभी मुझसे विलग नहीं करते सदा मेरेमें युक्त रखते हैं।

अब यहां यह विचारने योग्य है, कि भगवान्ने अपने भजनका उपाय बतलातेहुए पहले तीन बातें कथन की हैं "कीर्तयन्तः" "यतन्तः" और "नमस्यन्तः" अर्थात् मेरे भक्त कीर्तन करतेहुए यत्न करतेहुए तथा नमन करतेहुए मेरी उपासना करते हैं ।

प्रश्न— यहां यह जानना नितान्त आवश्यक है, कि सबसे पहले कीर्त्तयन्तः क्यों कहा ?

**उत्तर—** प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि जब किसी प्रकारका उत्सव कियाजाता है अर्थात् वर कन्याका विवाह कियाजाता है अथवा किसी राजा, महाराजा इत्यादिको निमन्त्रण देकर अपने गृहमें बुलायाजाता है अथवा किसी देव देवीकी स्थापना कीजाती है तथा कोई शिष्य गुरुकी शरण जाता है तब सबसे प्रथम कीर्तनकी तयारी कीजाती है, नाना प्रकारके बाजे गाजे हाथी, घोडे, लालकी, पालकी इत्यादिकी तयारियां होती हैं अपने सब कुटुम्बीजन निमन्त्रण देकर बुलायेजाते

हैं, स्त्रियां नाना प्रकारके मंगलोंको सज कर गान करती हुई ठौर-ठौर आनन्दको दरसाती हैं। सब छोटे-बडे परमप्रफुल्लितहृदय होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे सजेसजाये हर्षित होकर जहां-तहां फिरते देखेजाते हैं। अन्तमें परिणाम केवल वर और कन्याका मिलाप है अथवा किसी प्रधान पुरुषको अपने घरमें लाना है किसी देव देवीकी प्रतिमाकी स्थापना मात्र है तथा शिष्यको गुरुसे मन्त्र लेना है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि किसी एक विशेष लक्ष्यकी ओर ध्यान करके प्राणी नाना प्रकारके कीर्तन करते हैं। इसी प्रकार भक्त-जन जब अपने स्वामी त्रिभुवनपतिसे मिलनेकी इच्छा करते हैं तब अपने कुटुम्बियोंको बुलाकर अर्थात् भक्तोंको एकत्र करके नाना प्रकार बाजे गाजेके साथ हरिनाम उच्चारण करतेहुए विविध भांतिसे नाचते, गाते, हंसते, खेलते, अपने स्वामीसे मिलनेका उत्सव करते हैं और जो उस महाप्रभुने साकार-अवतार लेकर भक्तोंके उद्धार निमित्त जहां तहां लीलाएं की हैं उन्हीं लीलाओंका अनुकरण करतेहुए उछलते कूदते अपने मनको उसी ओर लगाते हैं।

देखो! गोपिकाओंके संग रासलीला करतेहुए जब भगवान् * अन्तर्द्धान होगये तब गोपिकाओंने उन्हींकी कीहुई लीलाओंका

* तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः। पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः। ( देखो श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ३२ श्लो० २ )

अनुकरण करना आरम्भ करदिया । क्योंकि उनका मुख्य अभिप्राय भी यही था, कि उनकी लीलाका अनुकरण करते २ वह महाप्रभु आप प्रगट होजावेंगे । क्योंकि जब वह एक छोटीसी चींटीके पांवके शब्दका भी सुननेवाला है तब क्या वह अपने भक्तोंकी पुकारको नहीं सुनेगा! अवश्य सुनेगा फिर कीर्तन ही क्या है उसी महाप्रभुके गुणोंका और लीलाओंका गान कर उसको पुकारना है क्योंकि जब कोई किसीके द्वारपर जाता है तब पहले उसको पुकारता है । इसी प्रकार भक्तजन हरे गोविन्द, हरे माधव मुरारे, हरे मुकुन्द इत्यादि नामोंको पुकार२ उसका आवाहन अपने हृदयमें करते हैं । एवम्प्रकार वह महाप्रभु अन्तर्यामीरूपसे घट घटमें व्याप रहा है, भक्तोंके हृदयकी व्याकुलता देख साकारमूर्त्तिको धारण करे उनके सम्मुख प्रकट होजाता है। इसीलिये पहले कीर्त्तनकी आवश्यकता है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि पिता जैसे अपने लडके लडकियोंको रोते देख दयासे आर्द्र हो अपने वस्त्रसे उनके मुखके अश्रु पोंछने लगजाता है इसी प्रकार वह जगत्पिता हम लोगोंको रोते देख अवश्य दयासे आर्द्र हो हमारे समीप प्रकट हो हृदयको सन्तोष देता है ।

शंका— जो ही चाहे नाच-कूदकर रो देवे क्या उसीको भगवान् मिलजावेगा ?

---

अर्थ— तब एवम्प्रकार कीर्तनमय उनका रुदन न सहकर जिनका मुखकमल मुसक्यान युक्त है जो पीताम्बर और मालाको धारण करनेवाले हैं और जो कामदेवके मदको भी चूर्ण करनेवाले हैं ऐसे श्री कृष्णभगवान् झट प्रकट होगये ।

समाधान— ऐसा होही नहीं सकता, कि जो ही चाहें नाच-कूदकर रो देवे। हां कोई पाखण्डी संसारको ठगनेके निमित्त नाचे, कूदे, रोवे सो तो भगवान् "सकलात्मदृक्" सबके अन्तरात्माकी गति देखनेवाला जानताही है, कि यह पाखण्डी है ठग है, इसलिये उसके समीप तो भगवान् प्रकट होही नहीं सकता। अतः जो प्राणी अन्तःकरणसे भगवत्के सम्मुख हो संसारको मिथ्या इन्द्रजाल जान अपने आप पुरुषार्थ कर ब्रह्मचर्य, तप इत्यादि यम, नियमके अंगोंको पालन करनेमें तत्पर होगा उसीका हृदय स्वच्छ होजावेगा तब इसमें भगवत्का प्रेम प्रवेश करेगा तत्पश्चात् ऐसे ही पुरुषकी आंखोंसे आंसूकी झडी लगसकती है। इसीलिये भगवानने "यतन्तश्च दृढ-व्रताः" कहा अर्थात् हमारे भक्त दृढव्रत होकर भजन करते हैं।

ऐसा तो कदापि हो ही नहीं सकता, कि कुविचारी कुकर्मी भी कीर्तनकर रो देवे। इसीलिये भगवानने 'यतन्तश्च' कहकर यह दिखला दिया, कि यदि तुम हमको भजना चाहते हो तो कीर्तन करो! और तिस कीर्तनके सिद्ध होनेके लिये यत्न करो।

अब कहते हैं कि किसी कर्मका यत्न करना अर्थात् योगक्षेम बिना भगवान्के प्रसन्न हुए नहीं होसकता पहले भगवान् प्राणीसे प्रसन्न होता है तब उसको योगक्षेम प्रदान करता है अर्थात् जो वस्तु नहीं प्राप्त है उसे प्राप्त करा देता है और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करेता है इसलिये शम, दम, ब्रह्मचर्य इत्यादिकी रक्षानिमित्त भगवत्की प्रसन्नताकी आवश्यकता है सो भगवत् कुछ लेनेदेनेसे अथवा मन्दिरोंमें सात मन लड्डू भोग लगानेसे प्रसन्न नहीं होता। क्योंकि तुम करोडों मन

लड्डू भोग लगाकर वेश्याके गृहमें व्यभिचार करने चले जाओ तो इससे भगवत्की प्रसन्नता नहीं होगी पर यदि भक्तिसे तुमसे कुछ न होसके एक लड्डूभी न बन पडे पर केवल भगवत्के चरणोंमें प्रेमपूर्वक नमनमात्र करदो तो भगवान् प्रसन्न होजाता है। सो श्यामसुन्दर इसी नमन करनेके विषय आज्ञा देते हुए इस नवें अध्यायको समाप्त करेंगे अर्थात् इस अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कहेंगे, कि "मां नमस्कुरु" जो तुमसे अन्य न कुछ बन पडे तो तुम केवल मुझको नमस्कार ही करलो मैं तुमसे प्रसन्न होजाऊंगा।

इस श्लोकमें भी भगवान् कहते हैं, कि "नमस्यन्तश्च" अर्थात् हमारे भक्त हमको नमस्कार करते हैं तब मैं प्रसन्न होकर उनको योग-क्षेम प्रदानकर उनका यत्न सफल करता हूं तब उस यत्नद्वारा स्वच्छ हृदय हो, वे मेरा कीर्तन करते हैं तब उस कीर्तन द्वारा मेरा उनको साक्षात्कार होजाता है।

एवम्प्रकार भगवानने भजनके तीन मुख्य उपाय बताते हुए "कीर्तयन्तः" "यतन्तः" "नमस्यन्तः" इन तीन पदोंका प्रयोग किया अर्थात् कीर्तन, ब्रह्मचर्यादिका यत्न और नमस्कार ये ही तीन रीतियां भगवानने अपने भजनकी बताकर अर्जुनके प्रश्नका उत्तर दे अर्जुनको प्रसन्न करदिया ॥ १४ ॥

अब भगवान् इस प्रेमयज्ञको प्रधानरूपसे कहकर दूसरे प्रकारके भजन करनेवालोंके विषय कहते हैं, कि वे अपनी २ बुद्धिके अनुसार मेरा भजन दूसरे २ ढंगसे करते हैं सो सुन।

मू०— ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५

पदच्छेदः— अन्ये ( केचिदपरे ) च, अपि ( निश्चयेन ) ज्ञानयज्ञेन ( वासुदेवः सर्वमित्येवं सर्वात्मत्वदर्शनज्ञानमतेन निर्विकल्पसमाधिना ) यजन्तः ( पूजयन्तः ) माम् ( महेश्वरम् ) [ केचित् ] एकत्वेन ( एकमेवाद्वितीयम्ब्रह्मेत्यनया बुद्ध्या ) केचित्, पृथक्त्वेन ( अयमीश्वरो मम स्वामीति बुद्ध्या ) [ केचित् ] विश्वतोमुखम् ( सर्वतोमुखम्। विश्वरूपम् ) [ माम् ] बहुधा ( ब्रह्मरुद्रादिरूपेण बहुभिः प्रकारैः ) उपासते ( सेवन्ते ) ॥ १५ ॥

पदार्थः— ( अन्ये ) पूर्वश्लोकमें कथन कियेहुए भजन करनेवालोंसे इतर जो मेरे भक्त हैं वे ( च ) भी ( अपि ) निश्चय करके ( ज्ञानयज्ञेन ) ज्ञानरूप यज्ञसे ( यजन्तः ) यजन अर्थात् भजन करते हुए ( माम् ) मुझ महेश्वरकी ( उपासते ) उपासना करते हैं इनमें कोई तो ( एकत्वेन ) एकत्व करके अर्थात् केवल एक ही ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं इस बुद्धिसे अथवा मैं और ब्रह्म दोनों एक ही हैं ऐसी "अहम्ब्रह्मास्मि" बुद्धिकरके कितने ( पृथक्त्वेन ) वह ब्रह्म सच्चिदानन्द मेरा स्वामी है मैं उसका दास हूं ऐसी पृथक्त्वबुद्धि करके कितने अधिकारी ( विश्वतोमुखम्, माम् ) मुझ विश्वतोमुखको अर्थात् मेरी विराट् मूर्तिको ( बहुधा ) बहुत प्रकारसे अर्थात् सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, महेश, गणेश इत्यादि करके ( उपासते ) उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

**भावार्थः**— श्रीराजीवनयन, सकलसुखअयन, पार्थहितकारी, भवभयहारी, श्रीकृष्णमुरारिने अपने भजनका उपाय अर्जुनको बताते हुए पहले उन भक्तोंका वर्णन किया जो सर्वोत्तम हैं अर्थात् जो प्रेम-भक्तिपूर्वक भगवत्स्वरूपमें उन्मत्त हो आठों याम नाना प्रकारके कीर्तनोंको करते हुए मग्न रहते हैं इसी उपायको सर्वोत्तम उपाय कहते हैं और इसी प्रकारके भजनको विज्ञानमय भजन कहते हैं।

अब भगवान् इस पन्द्रहवें श्लोकमें केवल ज्ञानके द्वारा भजन करनेवालोंके विषय कहते हैं, कि [ **ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते** ] कोई-कोई ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा करतेहुए मेरी उपासना करते हैं अर्थात् ' वासुदेवः सर्वमिति ' ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जो कुछ है सब वासुदेव स्वरूप है ऐसा ज्ञान सबमें एक भाव रखना ज्ञानयज्ञ कहलाता है जिसके विषय भगवान् पहले वार-वार अर्जुनको कहआये हैं, कि " **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति** " ( अ० ६ श्लो० ३० में देखो ) अर्थात् जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं और वह भी मुझको अदृश्य नहीं है अर्थात् मेरी दृष्टि उस पर बराबर बनी रहती है इस प्रकारके ज्ञानसे युक्त जो मेरा ज्ञानी-भक्त आर्त्तादि चारों प्रकारोंके भक्तोंमें श्रेष्ठ है वही ज्ञानयज्ञ करके मेरी उपासना करनेवाला है।

इस गीताके अध्याय ४ में १२ प्रकारके यज्ञोंका वर्णन करतेहुए भगवान्ने श्लोक २८ में इस ज्ञानयज्ञका वर्णन करदिया है देखलेना इसलिये यहां इस यज्ञको संक्षिप्त रीतिसे कथन किया।

यदि कहो, कि एकबार जिस ज्ञानयज्ञका वर्णन करचुके फिर यहां उसकी पुनरुक्तिकी क्या आवश्यकता थी ? तो उत्तर यह है, कि यहां भी उसके कहनेकी आवश्यकता है। कारण यह है, कि जैसे यह ज्ञान १२ प्रकारके यज्ञोंमें कथन किया गया है ऐसे यह भजन के उपायोंमें भी एक विशेष उपाय है इसलिये वहां ज्ञानको कर्मकाण्ड के अन्तर्गत किया और यहां उपासनाके अन्तर्गत कररहे हैं।

अतएव इस ज्ञानयज्ञको यहां भजनका उपाय कहकर उसके तीन भेदोंको कहतेहुए तीन प्रकारके अधिकारियोंका वर्णन करेंगे। इससे यहां पुनरुक्ति नहीं है ! वरु यहां वर्णन करनेमें कुछ विशेषता है। सो विशेषता क्या है? उसे भगवान् बिलग-बिलग कर कहते हैं, कि इस ज्ञानयज्ञवाले तीन प्रकारसे उपासना करते हैं [ **एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्** ] प्रथम अधिकारी एकत्व करके, दूसरे पृथक्त्व करके, तीसरे विश्वतोमुख करके मेरी उपासना करते हैं ये तीनों ज्ञानीभक्त हैं पर तीनोंमें जो साधन और समय के भेदसे भिन्नता रहती है सो दिखलाते हैं।

प्रथम अधिकारी जो ' **एकत्वेन** ' एकत्व करके उपासना करता है अर्थात् जिसने ऐसा समझा है, कि वह ब्रह्म सच्चिदानन्दघन एक है दूसरा कोई नहीं। यह सिद्धान्त बढते-बढते यहांतक एकत्वमें बढगया है, कि अपनेको भी ब्रह्मरूप ही समझने लगगया अर्थात् ' अहं ब्रह्मास्मि ' के सिद्धान्त तक जिसकी बुद्धि पहुंचगई है। जिस के विषय श्रुति कहती है, कि ऐसा जो एक देव है जिससे अतिरिक्त

कुछ भी नहीं सो ही भजन करने योग्य है— "ॐ तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति" (केनोप० खं ४ श्रु० ६)।

अर्थ— वह जो एक ब्रह्म है सो निश्चय करके सबसे तद्वन है अर्थात् भजन कियेजाने योग्य है फिर जो 'नाम' इस प्रकार तद्वन नामसे सर्वत्र प्रख्यात है सो इसी गुण द्वारा उपासना करने योग्य है इसलिये श्रुति कहती है, कि जो कोई इस एक ब्रह्मको इस प्रकार उपासना करता है अर्थात् सब भूतोंमें देखता है उसको सब भूतमात्र चारों ओरसे चाहते हैं वा प्रार्थना करते हैं। तात्पर्य यह है, कि 'सर्पेभ्यो नमः' इस वेदमंत्रके अनुसार जो उस ब्रह्मको सर्पमें भी देखकर नमन करता है उसे सर्प नहीं काटता चाहे वह सर्पकी शय्या बिछाकर सोजावे तो सहस्रों फणवाला सर्प उसका कुछ नहीं करता वरु उसकी प्रार्थना करता है। इसी श्रुतिके अभिप्रायको विष्णु भगवान् क्षीरसागरमें सर्पकी शय्यापर शयन कियेहुए तथा शिव भगवान् सर्पों को गलेमें लपेटेहुए संसारी जीवोंके प्रति दिखला रहे हैं।

भक्त प्रह्लादने इसी प्रकार उस एक ब्रह्मको सबभूतोंमें जान भजनकिया इसलिये अग्निने, विषने, सर्पने, हस्तीने, समुद्रने और खड्गने उसका कुछ नहीं बिगाडा।

यही सिद्धान्त बढते २ यहांतक बढजाता है, कि अपनेको भी ब्रह्मरूपही जानता है जैसा, कि प्रह्लाद इत्यादि भक्तोंने कर दिखलाया। इसी प्रकारके भजनको भगवान् इस श्लोकमें एकत्व करके भजन करना कहते हैं, जो ज्ञानका प्रथम और सबसे श्रेष्ठ भेद है।

अब द्वितीय भेद पृथक्त्व करके भजनकरने वालोंके विषय सुनो ! बहुतेरे 'पृथक्त्वेन' पृथक् अर्थात् अपना स्वामी और अपनेको उसका दास अथवा उसको अपना पिता और अपनेको उसका पुत्र तथा उसको अपना सखा समझना इत्यादि जो पृथक् भाव हैं इनही पृथक् भावोंसे उपासना करते हैं। इसी पृथक्त्व भावको श्रुति भी कहरही है– "ॐ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते"

अर्थ— जीव और ब्रह्म दो पक्षी सखारूपसे एकसंग मिलेहुए इस शरीररूप वृक्षपर बैठे हैं। इसीसे पृथक्त्व सिद्ध होता है, कि उपासना करनेवाले यद्यपि अन्तःकरणसे जानतेही हैं, कि जीव और ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है तथापि उसे पृथक् कर उपासना करनेमें एक प्रकारका यथार्थ आनन्द अनुभव करते हैं । इसी कारण कोई प्रतिमा बनाकर स्वामिसेव्यभावका आनन्द लेता है, कोई अपने गुरु ही को ईश्वर मूर्त्ति समझकर पूजन करता है। प्रमाण श्रु०— "ॐ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः"

अर्थ— जिस प्राणीकी उस भगवतमें अत्यन्त उत्कृष्ट भक्ति है तथा जैसी उसमें है ऐसी गुरुदेवमें है तब महात्मा पुरुष ऐसेकेलिये उपनिषद्का अर्थ प्रकाश करते हैं अर्थात् ऐसेको यह तत्त्व उपदेश करते हैं। उपासना करते २ इस पृथक्त्वबुद्धिवालेको फिर धीरे २ अन्तमें एकत्वका लाभ होजाता है। बहुतेरे भक्त तो अपने भावमें ऐसे दृढ होते हैं, कि अपने पृथक्त्वको एकत्व करना नहीं चाहते । उनका सिद्धान्त

यह है, कि यह जीव और ईश्वर दोनों अनादि हैं इसलिये अनादिकालसे यह स्वामी और सेवकका भाव बनाहुआ है यह कभी नष्ट होनेवाला नहीं और इस सिद्धान्तवाले उपर्युक्त श्रुति 'द्वा सुपर्णा' को अपने प्रमाणमें देते हैं।

अब श्रुति द्वारा यह दिखलाया जाता है, कि पृथक् उपासना वाले फिर कैसे एकत्वको प्राप्त होजाते हैं— "ॐ यावास्यां अग्रया स्तनवत्सा अभिध्यायेदर्चयेन्निद्रयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षये एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य" ( मैत्र्यु० प्र० ४ श्रु० ६ )

अर्थ— जो कुछ आश्रयकरने योग्य श्रेष्ठ स्वरूप है उसको ध्यानकर, उनकी अर्चना प्रतिमा बनाकर अथवा केवल हृदयमें ध्यानकरे इससे जो इतर देवदेवी हैं उनको परित्याग करे। अर्थात् केवल एक अपने इष्टदेवकी अर्चा पूजा करे तिससे इतरको त्यागदेवे क्योंकि एक प्राणीकेलिये अनेक उपासनाकी आवश्यकता नहीं है फिर उस एक अपने इष्टदेवके साथ धीरे २ ऊपरसे ऊपर लोकोंको गमन करताहुआ अर्थात् भूलोकसे भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, तथा सत्यलोकको प्राप्त होता है। ऐसे प्राणीको फिर लौटकर संसारमें आनेका भय है। पर जब एवम्प्रकार बढते-बढते एकत्वको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्मके साथ सायुज्यमुक्तिको प्राप्त करलेता है तब सबलोकोंके क्षय होनेके पश्चात् उस पुरुषके स्वरूपमें एकत्वकी प्राप्ति होजाती है। क्योंकि प्रलयमें जब सब सिमटकर एक ब्रह्म रहजाता है तब वह कहां जावे किससे बातें करे इसलिये पृथक्त्वसे एकत्वका होना सिद्ध है।

इस समय चारों सम्प्रदायोंके वैष्णव सब इसी पृथक्त्व उपासना वाले हैं एकत्व सुनकर नाक सिकोडते हैं यद्यपि धीरे २ वे इस साधन कालसे जब सिद्धान्तकालमें पहुंचेंगे तब एकत्वको ही प्राप्त होंगे। पर यह उनका नाक सिंकोडना थोडा उचित भी है कारण यह है, कि " अपनेअपने इष्टको नमन करे सब कोय, इष्ट विहीना परशुराम नवे सो मूरख होय " अर्थात् अपने-अपने इष्टको नमन करने से और अपने मतमें दृढ रहने ही से उसकी सिद्धि प्राप्त होती है इसीलिये इन वैष्णवोंके सिद्धान्तको अशुद्ध नहीं समझना चाहिये।

इसी कारण आनन्दकन्द श्रीकृष्णचद्र भी कह रहे हैं, कि कोई एकत्व करके, कोई पृथक्त्व करके मेरा भजन करता है पर कोई भी क्यों न हो मेरा ही भक्त है चाहे साधनकालमें हो चाहे सिद्धान्तकालको पहुंचा हो पर है मेरा भक्त। एक किसी पिताके चार पुत्र हों जो एक माताकी गोदमें स्तनपान कररहा हो, एक घुटना टेककर चलता हो, एक पाठशालामें पढता हो और एक कुछ कमाकर लाता हो यद्यपि इन चारोंकी चार अवस्थाएं समयके भेदसे देखीजाती हैं पर यथार्थ में पिताको एक समान प्रिय हैं। सब इसी एक पिताके पुत्र कहलावेंगे किसी दूसरेके नहीं।

अब भगवान इन दोनों भक्तोंसे इतर अवस्थावाले भक्तोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि ' बहुधा विश्वतोमुखम् ' मैं विश्वतोमुख अर्थात् सर्वतोमुख हूं सबकी ओर मेरा मुख है तात्पर्य यह है, कि विश्वरूप जो विराट् सो मैं ही हूँ। तात्पर्य यह है, कि गणेश,

महेश, सुरेश, दिनेश, राकेश, धनेश, जलेश आदि जो तैंतीस कोटि देव हैं तिन सबोंकी ओर मेरा ही मुख है।

यहां ' विश्वतोमुखम् ' का यह भी अर्थ होसकता है, कि जो बिना किसी इन्द्रियके कर्मोंका सम्पादन करता है। प्रमा० श्रु०— " ॐ अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति यस्मादनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते स सर्वगः सर्वतस्तिष्ठति "।

अर्थ— उस महेश्वरको सर्वतोमुख अर्थात् विश्वतोमुख इसलिये कहते हैं, कि वह बिना नेत्रके सब ओर देखता है बिना कानके सबकी सुनता है, बिना चरणके सर्वत्र जाता है, बिना हाथके सब ओरसे ग्रहण करता है और सर्वत्र जानेवाला सब ठौर रहनेवाला है। इसलिये इन सबोंकी उपासना करनेवाले भी भगवान ही के उपासक हैं और जो प्राणी सम्पूर्ण विराट्की एकबार उपासना नहीं करसका तो वह उसी विराट्के अंगोंकी उपासना विलग-विलग करता है जैसे चन्द्र, अग्नि इत्यादि। ऐसे विराट्-उपासना अर्थात विश्वतो-मुख भगवानकी उपासना करनेवाले प्राणी भी शनैः शनैः उन्नत पथ-पर आरूढ होतेहुए विश्वतोमुखसे पृथक्त्वरूप उपासना और पृथक्त्वसे एकत्वरूप उपासना तक पहुंचजाते हैं। तात्पर्य यह है, कि अन्ततो गत्वा ये सब मिलकर एक पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दघन में इस प्रकार प्रवेश करजाते हैं जैसे नदियां चारों ओरसे सिमटकर एक सागरमें मिलजाती हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने एकत्व, पृथक्त्व और विश्वतोमुख तीन प्रकारकी उपासना बताकर अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तोंको पुष्ट करदिया ॥ १५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! आपको विश्वतोमुख जानकर प्राणी आपके विराट्-रूपकी किस प्रकार उपासना करते हैं ? सो स्वच्छरूपसे कृपाकरें समझादो ! इस प्रश्नका उत्तर भगवान् अगले चार श्लोकोंमें देते हैं—

मू०— अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताऽहमस्यजगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] अर्जुन ! अहम्, क्रतुः ( यूपसहिताग्निष्टोमाश्वमेधादियज्ञः ) अहम, यज्ञः ( स्मार्त्तकर्मभेदो वैश्वदेवादिः ) अहम्, स्वधा ( पितृभ्यो दीयमानं द्रव्यम् ) अहम्, औषधम् ( अन्नम् । व्याध्युपशमार्थं भेषजं वा ) अहम, मन्त्रः ( येन पितृभ्यो देवेभ्यश्च हविर्दीयते स मन्त्रः ) अहम्, आज्यम् ( घृतम् । हविः ) अहम, अग्निः,

अहम्, हुतम् ( हवनम् । हविःप्रक्षेपः ) अहम्, अस्य, जगतः (संसारस्य) पिता ( जनयिता ) माता (जनयित्री ) धाता ( कर्मफलस्य प्राणिभ्यो विधाता पोषयिता वा ) पितामहः ( पितुः पिता ) [ तथा ] वेद्यम् ( वेदितव्यं ब्रह्म ) पवित्रम् ( पावनम् यज्ञदानादि ) ओँकारः ( प्रणवः ) ऋक् ( ऋग्वेदः ) साम ( सामवेदः ) यजुः ( यजुर्वेदः) [ च ] अहम्, एव, गतिः ( कर्मफलं मुक्तिप्राप्य स्थानम् ) भर्त्ता ( पोष्टा ) प्रभुः ( स्वामी ) साक्षी ( कृताकृतावेक्षकः ) निवासः ( आश्रयः ) शरणम् ( आर्त्तानां रक्षकः ) सुहृत ( प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी ) प्रभवः ( उत्पत्तिस्थानम ) प्रलयः ( लयस्थानम् ) स्थानम् ( स्थितिस्थानम ) निधानम ( कर्मफलसमर्पणस्थानम ) [ तथा ] अव्ययम् ( विनाशरहितम ) बीजम् ( प्ररोहस्थानम् ) [ अहमस्मि ] अहं, तपामि ( आदित्यो भूत्वा कैश्चिद्रश्मिभिस्तापं करोमि ) अहम्, वर्षम् ( पूर्ववृष्टिरूपं रसम वर्षाम् ) उत्सृजामि ( विमुञ्चामि ) निगृह्णामि ( आकर्षामि ) च, अहम्, एव, अमृतम ( जीवनं देवान्नं वा) मृत्युः ( मरणम ) च, सत ( स्थूलं दृश्यम) असत् (सूक्ष्मं दृश्यम ) ॥ १६, १७, १८, १९ ॥

पदार्थः— ( अर्जुन ! ) हे अर्जुन ! (अहं, क्रतुः) मैं ही यूपसहित अश्वमेधादि यज्ञ हूं ( अहं, यज्ञः ) पञ्चमहायज्ञ अर्थात बलिवैश्वदेवादि भी मैं ही हूं ( अहं, स्वधा ) पितरोंके लिये जो किसी प्रकार अन्नादि द्रव्य दिया जाता है सो मैं ही हूं ( अहमौषधम् ) जो मनुष्योंके भोजनका साधारण अन्न अथवा रोगोंके नाश करनेवा भेषज सो सब मैं ही हूं ( अहं, मन्त्रः ) जिन वाक्योंको पढकर पित-

रोंके लिये वा देवताओंके लिये हवि दियाजाता है सो मन्त्र मैं ही हूं। ( अहम्, आज्यम् ) हवन करनेका घृत मैं ही हूं ( अहम्,अग्निः ) जिसमें हवन किया जाता है वह आग भी मैं ही हूं ( अहं,हुतम् ) हवन करनेकी क्रिया अर्थात् यज्ञाग्निमें जो हविप्रक्षेप सो मैं ही हूं ( अहम् ) मैं ही ( अस्य, जगतः ) इस संसारका ( पिता ) उत्पन्न करने वाला पिता हूं तथा ( माता ) उत्पन्न करने वाली माता तथा ( धाता ) कर्मानुसार पोषण करनेवाला फिर ( पितामहः ) पिताका पिता सबको उत्पन्न करनेवाला जो ब्रह्मा तिसका भी पिता अथवा केवल ब्रह्मा फिर ( वेद्यम् ) सबोंसे जानने योग्य जो ब्रह्म सो मैं ही हूं फिर ( पवित्रम् ) सबको पावन करनेवाला जो तप इत्यादि पुण्यकर्म तथा ( ॐकारः ) ब्रह्मका वाचक प्रणव फिर ( ऋक्सामयजुः ) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ( च ) और अथर्ववेद भी ( अहम, एव ) निश्चय करके मैं ही हूं फिर ( गतिः ) कर्मफल मुक्तिप्राप्त होनेका स्थान अथवा देवयान, वा पितृयानमार्ग मैं ही हूं फिर ( भर्त्ता ) सम्पूर्ण संसारको अन्न वस्त्रादिका देनेवाला तथा अन्य कामनाओंको पूर्णकरनेवाला मैं ही हूं फिर ( प्रभुः ) इस ब्रह्माण्डका स्वामी ( साक्षी ) सबोंके शुभा-शुभ कर्मोंका देखनेवाला ( निवासः ) सबोंका विश्रामस्थान ( शरणम ) दुःखियोंके सुरक्षित होनेका स्थान ( सुहृत् ) बिना प्रयोजन उपकार करने वाला फिर ( प्रभवः ) सृष्टिकी उत्पत्तिका स्थान ( प्रलयः ) सृष्टिके लय होजानेका स्थान ( स्थानम ) सृष्टिकी स्थितिका स्थान ( निधानम ) कर्मफलसमर्पणका स्थान तथा सम्पूर्ण सृष्टिका ( अव्ययम, बीजम ) नाश रहित सदा वर्त्तमान

अविनाशी बीज ( कारण ) मैं ही हूं (अहम्) मैं ही (तपामि) आदित्य होकर अपनी किरणोंसे ग्रीष्मऋतुमें संसारको तपायमान करता हूं फिर ( अहम् ) मैं ही ( वर्षम् उत्सृजामि ) चार महीने वर्षा-कालमें जलको छोडता हूं फिर मैं ही ( निगृह्णामि ) आठ महीने जलको खींचता हूं ( च ) फिर ( अहम् ) मैं ही (एव) निश्चय करके ( अमृतम् ) देवताओंका अन्न हूं तथा सबको जिलाने वाला अमृत हूं अथवा मोक्षस्वरूप ही हूं ( च ) फिर ( मृत्युः ) मरण भी मैं ही हूं अर्थात् विष भी मैं ही हूं फिर ( सत् ) दृश्य स्थूलवस्तु ( असत्, च ) अदृश्य सूक्ष्म वस्तु भी मैं ही हूं ।

यहां सत् और असत् इनदोनोंसे अव्यक्त और व्यक्तका तात्पर्य है अर्थात् इस व्यक्त संसारका कारण अव्यक्त जो असत्स्वरूप सो मैं ही हूं और यह जो व्यक्त संसार सो भी मैं ही हूँ अर्थात् इसी प्रकार अनेक रूपोंसे मेरे भिन्न २ भक्त जन मेरी उपासना करते हैं। तात्पर्य यह है, कि सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके सभी धर्मावलम्बी अर्थात् उपासक इनही मेरे भिन्न २ रूपोंकी उपासनाओंके अन्तर्गत हैं ॥ १६, १७, १८, १९ ॥

**भावार्थः**— अब भगवान् इन चारों श्लोकोंमें विविधप्रकारकी उपासना करनेवालोंके कल्याणनिमित्त अपने भिन्न २ रूपोंका वर्णन करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [ **अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाह-महमौषधम्** ] मैं ही 'क्रतु, हूं मैं ही 'यज्ञ' हूं मैं ही 'स्वधा' हूं और मैं ही 'औषध' हूं। अर्थात् श्रौतकर्मानुसार जो यूपसहित

अश्वमेधादियज्ञ हैं जिन्हें 'क्रतु' कहते हैं सो मैं ही हूं। फिर भगवान् कहते हैं, कि स्मार्तकर्मकरनेवाले जो वलिवैश्वदेव इत्यादि पांच महायज्ञोंका साधन करते हैं सो सब यज्ञ भी मैं ही हूं इसलिये इस पञ्चमहायज्ञके करनेवाले भी मेरीही उपासना करते हैं। स्वधा कहते हैं उन अन्नोंको जो पितरोंको दियेजाते हैं इसलिये जो पितृयज्ञ करनै वाले श्राद्धादिकर्मोंमें नाना प्रकारके अन्न इत्यादि प्रदान करते हैं वे भी मानो मेरीही उपासना करते हैं। क्योंकि वे सब पितरोंके अन्नादि भी मैं ही हूं फिर स्वधा मायाको भी कहते हैं, सो मायाभी मैं ही हूं और औषध जो साधारण अन्न है सो भी मैं ही हूं क्योंकि अन्नद्वारा सब प्राणीमात्रकी रक्षा होती है इसलिये अन्नादिका दान भी मैं ही हूं। और अन्नहीसे भूतोंकी उत्पत्ति इत्यादि है इसलिये सो अन्न भी मैं ही हूं। प्रमाण श्रु०— " ॐ अन्नाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति "

अर्थ— अन्नसे ही ये सब उत्पन्न होते हैं क्योंकि प्राणी जिस अन्नको खाता है तिससे रेत होता है तिससे जीवोंकी उत्पत्ति होती है फिर वह अन्न ही इनको पालन करता है और अन्नही द्वारा सब जीते हैं फिर अन्तमें ये अग्निके, जलके, मिट्टीके तथा कागले, श्याल और कूकरोंके अन्न होजाते हैं सो अन्न कैसे उत्पन्न होता है ? सो दिखलायाजाता है। प्रमाण श्रु०— " ॐ अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति " प्रश्नो० (प्र० १ श्रु० १४)

अर्थ— अन्न ही निश्चयकरके प्रजापति है क्योंकि इसीसे रेत होकर प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि

सो अन्न मैं ही हूं। अतएव अन्नपूर्णा इत्यादिकी जो पूजा करते हैं वे भी मानो मेरीही उपासना करते हैं।

फिर श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द कहते हैं, कि [ **मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्** ] मन्त्र भी मैं ही हूं और उस मन्त्रको पढकर जो अग्निमें घृत डालाजाता है वह भी मैं ही हूं तथा अग्नि भी मैं ही हूं और हवि इत्यादिका क्षेपण भी मैं ही हूं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि घृतादि आहुति देनेके समय जो अनुवाक् पढेजाते हैं वे मैं ही हूं। इतना कहनेसे भगवान्का केवल इतनाही तात्पर्य नहीं है, कि हवन इत्यादिके समय जो वेदोंके मन्त्र पढेजाते हैं सो मन्त्र ही मात्र मैं हूं वरु मुख्य तात्पर्य यह है, कि जितने मन्त्र हैं सब मैं ही हूं। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन इत्यादि तथा सर्प, बिच्छू इत्यादिके विष उतारनेके मन्त्र वा नाना प्रकारके रोगोंकी शान्ति करनेके मन्त्र प्रभृति सब मैं ही हूं। इसलिये जो मन्त्रोंमें विश्वास रखते हैं और उन मन्त्रों द्वारा हवनादि करके अथवा केवल मेरा ध्यानकरके जो मुझे भजते हैं वे भी मेरीही उपासना करनेवाले हैं।

फिर भगवान् कहते हैं, कि 'आज्यम्' अर्थात् घृत भी मैं ही हूं भगवान्ने जो ऐसा कहा इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जो घृत हवनादिमें छोडाजाता है सो ही मैं हूं वरु यथार्थ तात्पर्य यह है, कि जिस घृतसे नाना प्रकारके पक्वान्न तथा पौष्टिकपदार्थ मोदक इत्यादि बनते हैं सो भी मैं ही हूं क्योंकि इनसे भी मनुष्य पुष्टि, बल, पुरुषार्थ इत्यादि प्राप्त करता है तथा इस घृतसे भी मेधा बढती है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः** ] इस जगत्का उत्पन्नकरनेवाला पिता, माता तथा सबका पोषण करनेवाला पितामह अर्थात् दादा बाबा भी मैं ही हूं।

भगवान्के इतना कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे किसी घर में छोटे २ बच्चोंकी उत्पत्ति, पालन इत्यादि करनेमें उसके बाप, मा और दादा इत्यादि समर्थ होते हैं तथा उन बच्चोंके पालन पोषणकी चिन्ता केवल उन पितामह तथा पिता माताको रहती है, बच्चे सदा आनन्दमें चिन्तारहित हो खेलते कूदते रहते हैं, समयपर उनको सब आवश्यक पदार्थ मिलजाते हैं। भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसी प्रकार मैं सबको जन्म देकर पालता हूं। इसलिये जो प्राणी मुझे पिता, माता, धाता और पितामह समझकर मेरी उपासना करते हैं उनके हृदयमें किसी वस्तुकी चिन्ताका प्रवेश होने नहीं देता। वे मेरे भक्त " त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव त्वमेव सेव्यश्च गुरुस्त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव " इसी श्लोक के अनुसार मेरी उपासनामें मग्न रहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च** ] 'वेद्य' अर्थात् जानने योग्य मैं ही हूं, पवित्र मैं ही हूं, फिर ॐकार मैं ही हूं, और ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेदादि चारों वेद भी मैं ही हूं।

तहां वेद्य उसे कहते हैं जो जाननेके योग्य हो अर्थात् जिसके जाननेके निमित्त प्राणीमात्र चेष्टा करे और अभिलाषा रक्खे चाहे वह

किसीसे जानाजावे वा न जानाजावे पर वही जानने योग्य है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् जितने परिश्रम और पुरुषार्थ लगाये जावें सब उसी महाप्रभुके जाननेके लिये लगाये जावें। यद्यपि वह निरञ्जन निराकार जाना नहीं जाता क्योंकि श्रुति कहती है, कि " ॐ न विद्मो न विजानीमो यथैतत " ( केन० श्रु० ३ ) अर्थात न मैं जानती हूं न जना सकती हूं जैसा वह है।

तात्पर्य यह है, कि यद्यपि उस ब्रह्मको यथार्थरूपसे जानना तो बनता ही नहीं तथापि उसके जाननेके लिये श्रद्धा होने ही से वह प्रसन्न होता है। जैसे छोटा बच्चा पलनेपर लेटाहुआ अपने समीप खड़े हुए पिताके गलेमें लिपटनेके लिये अपने दोनों हाथोंको फैलाता है उसका पिता जानता है, कि यह मेरे गले तक पहुंचनेमें असमर्थ है पर उसका पुरुषार्थ और अभिलाषा तथा उसकी प्रेम-भरी रुचिको देख प्रसन्न हो आप उसको गलेमें लगालेता है।

इसी प्रकार उसके जाननेमें असमर्थ भक्तजन जब इतना समझ लेते हैं, कि वही वेद्य अर्थात् जानने योग्य है तब उनकी अभिलाषा देख वह महाप्रभु आपसे आप उनको अपने गले लगालेता है इस-लिये भगवान् कहते हैं, कि वेद्य मैं ही हूं मुझसे अतिरिक्त कोई वस्तु जानने योग्य नहीं है। तहां ब्रह्मसूत्र कहता है, कि ' तथान्य-प्रतिषेधात् ' ( अ० ३ पाद० २ सू० ३६ ) अर्थ— उस महाप्रभु से भिन्न किसी अन्यके होनेका प्रतिषेध है अर्थात् यदि कुछ जानने योग्य है तो वही है अन्य कुछ नहीं। तहां श्रुति भी कहती है,

कि उससे इतर अन्य कुछ भी नहीं है 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४-४-१९) 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' (श्वेताश्व० ३-९)

अतएव भगवान् कहते हैं, कि मैं ही वेद्य हूं फिर कहते हैं, कि पवित्रम् मैं ही पवित्र हूं अर्थात् पावनस्वरूप हूं जैसे अग्निमें पडने से सर्वप्रकारके मल भस्म होजाते हैं इसी प्रकार जो कोई पतित मेरी ओर मुख करता है मैं उसे पवित्र करदेता हूं इसलिये मैं पवित्रस्वरूप ही हूं अतएव बहुतेरे मेरे भक्त मुझे पतितपावन जानकर उपासना करते हैं।

फिर भगवान् कहते हैं, कि 'ॐकारः' ॐकार प्रणव भी मैं ही हूं अर्थात् यह ॐकार जो मेरा वाचक है सो मैं ही हूं क्योंकि वाचक और वाच्यमें सदा अभेद रहता है इसलिये ॐकार प्रणव मुझ ही को जानो। तहां श्री गौडपादाचार्यजी अपनी कारिकामें कहते हैं, कि—"युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्" (गौड० प्र० १ श्लो० २५)

अर्थ—प्रणवकी उपासनाकरनेवाला नित्य इस ॐकार प्रणव ही में अपना चित्त लगावे क्योंकि यही प्रणव निर्भय ब्रह्म है इसलिये जिसने प्रणवको ब्रह्म जानकर नित्य अपना चित्त लगाया है अर्थात् एकाक्षर ब्रह्म प्रणवकी उपासना की है वह ब्रह्मको ही प्राप्त हुआ है। (इस ॐकार प्रणवके विषय अ० ८ श्लोक १३ में पूर्ण प्रकार कहा जाचुका है देखलेना)

फिर भगवान कहते हैं, कि 'ऋक्सामयजुरेव च' ऋक् सामादि चारों वेद भी मैं ही हूं इसलिये जो वेदोंकी उपासना करते हैं वे भी मेरी ही उपासना करते हैं अर्थात् बहुतेरे प्राणी ❀ प्रतिमाके समान वेदोंकी स्थापना करके पूजन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं, कि वेद भी मैं ही हूं। अतएव वेदोंकी उपासना करनेवाले वेदभगवानकी सवारी बडे उत्सवके साथ नगरोंमें निकालते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**] गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवासस्थान, शरण और सुहृद् भी मैं ही हूं।

अब इन पदोंका वर्णन विलग२ करदिया जाता है सुनो—

१. गतिः— प्राणीमात्र जो कुछ शुभाशुभकर्म सम्पादन करते हैं तदनुसार जिसकी जैसी गति होती है सो सब मैं ही हूं तात्पर्य यह है, कि जो जैसा करता है तदनुसार मैं ही उसकी गति होजाता हूं अर्थात् + देवयानमार्गकी गति, पितृयानमार्गकी गति, तृतीयमार्गकी गति, पंचाग्निमार्गकी गति, तिर्यग्योनिकी गति, नाना प्रकारके नरकोंमें जानेकी गति तात्पर्य यह है, कि सुगति वा दुर्गति दोनों मैं ही हूं।

---

❀ इन दिनों भी नानकपन्थी ग्रन्थसाहबकी उपासना प्रतिमाके समान ही करते हैं वे भी मानों वेदोंकी ही उपासना करते हैं क्यों कि बाबा नानकने वेदोंहीके तात्पर्यको गुरुमुखीमें प्रकट करदिया है।

+ इन सब मार्गोंका वर्णन अ० ८ श्लो० २४, २५, २६ में कियागया है देखलेना।

इसलिये जो प्राणी मुझको गति जानकर उपासना करते हैं उनकी गति बनजाती है और वे मुझको प्राप्त होते हैं।

२. भर्ता— सब जीवोंका भरण पोषण करने वाला मैं ही हूं। अन्न, वस्त्र, घर, द्वार जो कुछ प्राणियोंको प्राप्त होता है सो सब मैं ही हूं इसलिये जो प्राणी मुझको एवम्प्रकार विश्वम्भर जानकर उपासना करता है उसे किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती।

३. प्रभुः—सब प्राणियोंका प्रभु अर्थात् स्वामी भी मैं ही हूं सब मेरे ही अधीन कार्य करते हैं ब्रह्मलोकमें ब्रह्मासे लेकर पाताललोकमें शेष पर्यन्त जितने देव, देवी, मनुष्य, राक्षस इत्यादि हैं सबका प्रभु सबपर आज्ञा चलानेवाला मैं ही हूं अर्थात् सबका नियन्ता सबको नियममें रखनेवाला मैं ही हूं। इसलिये जो मुझे अपना प्रभु जानकर मेरी उपासना करता है उसको किसी अन्यका भय नहीं होता।

४. साक्षी— सबके पाप, पुण्य इत्यादि कर्मोंको देखनेवाला मैं ही हूं चाहे कोई प्राणी सहस्र परदोंके भीतर गुप्त होकर किसी कार्यको क्यों न करे पर मैं सबको देखनेवाला हूं, सब जाननेवाला हूं, चाहे प्राणी लक्षों करोडों द्रव्योंको गुप्त रीतिसे क्यों न दान करे मैं उसको जानजाता हूं और उसका फल देता हूं। तात्पर्य यह है, कि किसी प्राणीके पाप पुण्य मुझसे छिपे नहीं रह सकते। इसलिये जो प्राणी साक्षीरूप जानकर मेरी उपासना करता है उसकी ओर मेरी दृष्टि अवश्य होती है।

५. निवासः— सब प्राणियोंकी स्थितिका स्थान मैं ही हूं अर्थात् शरीरयात्रा करते २ प्राणी मुझहीमें जाकर निवास करते हैं

और विश्राम पाते हैं। जैसे कोई थकाहुआ पथिक किसी उत्तरणस्थान ( सराय ) में विश्राम पाता है ऐसे चौरासीलक्षयोनियोंमें चलते २ यह जीव मेरेही समीप आकर विश्राम पाता है इसलिये मैं सर्बोंका "निवासस्थान" हूं जो प्राणी एवम्प्रकार मुझको अपना निवासस्थान जानकर मेरी उपासना करता है वह अन्तकालमें मेरी गोदमें सदाकेलिये शयन करजाता है चाण्डालकर्म फिर उसे बाधा नहीं करते।

६. **शरणम्**— सब प्राणियोंकी शरण भी मैं ही हूं अर्थात् इस घोर कराल कालके मुखसे निकलकर जो भागता है वह मेरी शरण आकर रक्षा पाता है। क्योंकि मैं ही उसे कालके मुखसे निकाल आध्यात्मिक इत्यादि तीनों प्रकारोंके तापोंसे बचालेता हूं। तात्पर्य यह है, कि मैं ही सर्बोंका रक्षक हूं इसलिये जो मुझे शरण जानकर उपासना करता है उसे काल तथा तीनों तापोंके भय नहीं होते।

७. **सुहृत्**— मैं ही सर्बोंका सुहृद् हूं अर्थात् बिना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके मैं सर्बोंका उपकार करता हूं मुझे यह अभिलाषा नहीं रहती, कि मेरे उपकारके बदले कोई मेरा कुछ भी प्रत्युपकारकरे।

यदि शंका हो, कि भगवान् उपकारके बदले अपना भजन करवाना चाहते हों जो उनका भजन नहीं करता उसे दुःख देते हैं, नरकमें डालते हैं और शारीरिकतापोंसे व्याकुल करदेते हैं सो ऐसा नहीं ! कभी वह महाप्रभु ऐसा नहीं चाहता, कि जो मेरा भजन न करे उसे नरकमें डालूं, नरक स्वर्ग तो शुभाशुभ कर्मोंके फल हैं।

देखो ! बडे २ राक्षस, कसाई, यवन, म्लेच्छ, नास्तिक तथा प्रकृतिवादवाले उसका कुछ भी भजन नहीं करते बहुतेरे नरेश दिनरात अपने विषयोंमें मग्न रहते हैं पर वह महाप्रभु किसीका कुछ भी नहीं करता कल्प कल्पान्त शुभकर्म करते चलेजाओ और उसके बदले स्वर्गका सुख भोगते चलेजाओ भगवान् तनक भी यह नहीं चाहता, कि यह प्राणी मेरा भजन नहीं करता इसलिये इसे स्वर्ग न होने दूं अर्थात् वह महाप्रभु कोई पत्र गुप्तरीतिसे धर्मराजके पास लिख नहीं देता है, कि देखो यह मेरा भजन नहीं करता इसलिये इसको स्वर्गसे निकालदेना वरु उसने तो शुभाशुभकर्म बनाकर तुमको उपदेश करदिया, कि शुभकर्म करते चलेजाओ सुख भोगते चलेजाओ कल्प पर्यन्त यदि तुम्हारा कर्म तुमको स्वर्ग प्रदान करता है तो भगवान्को क्या तुमसे कुछ द्वेष होजावेगा ? कुछ भी नहीं वह तो स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहरहा है, कि स्वर्ग नरक मैं ही हूं। फिर तुम उसके यथार्थ स्वरूपका भजन करोगे तो उसे प्राप्त होगे वह तुमको मिलेगा। नहीं जो उसकी वहुधा मूर्त्तिमें किसी एकका भजन करोगे तो तदाकार फल मिलेगा। इसलिये वह बिना प्रयोजन तुम्हारा उपकार करनेवाला है अतएव उसने अपनेको 'सुहृत्' कहा।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजमव्ययम्** ] सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्तिका स्थान, संहारका स्थान, पालनका स्थान, कर्मफलसमर्पणका स्थान और नाशरहित कारण मैं ही हूं।

अब यहां ' निधानम ' कहनेका यही तात्पर्य है, कि ' निधान ' कहते हैं निधिको आधारको फिर ' कार्यावसाने प्रवेशस्थानम ' कार्यके अन्तमें जो प्रवेशका स्थान है सो वही भगवान् सर्वप्रकारका निधि भी है और सारी सृष्टि सर्वप्रकारके कार्योंका सम्पादनकर अन्तमें उसीमें लय होजाती है इसी कारण उसने अपनेको सबका निधान कहा ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि ' वीजमव्ययम ' मैं ही सबोंका अविनाशी वीज हूं अर्थात् अविनाशी कारण हूं एक कारण वह होता है जिसका नाश होजाता है जैसे किसी वृक्षका वीज जब पृथ्वीमें बोया जाता है तब उस वृक्षके उपजनेपर उस वीजके स्वरूपका नाश होजाता है पर भगवान् कहते हैं, कि मैं इस ब्रह्माण्डका वह बीज हूं, कि ऐसे २ ब्रह्माण्ड सहस्रोंवार मुझसे क्यों न उत्पन्न हों पर मेरे स्वरूपका कभीभी नाश नहीं होसकता इसलिये मैं इस ब्रह्माण्डका आदि और अव्यय बीज हूं।

अब भगवान कहते हैं, कि [ तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ] मैं हीं इस संसारको तपाता हूं अर्थात् सूर्यहोकर सर्वत्र तापको फैलाता हूं जिससे सर्वत्र सब प्रकारके जीव व्याकुल हो ठण्डी हवा तथा वृक्षोंकी छाया ढूंढते फिरते हैं। प्रमाण श्रु०— " ॐ त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः " ( प्रश्नो० प्र० २ श्रु० ६ ) " ॐ स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति " ( वृह० अध्याय २ ब्रा० १ श्रुति २ में देखो )

फिर मैं ही वर्षाको निग्रह करलेता हूं अर्थात् आठ मास जलको पृथ्वीसे खींचता हुआ वर्षाको रोक लेता हूं फिर चार मास वर्षाको छोडता हूं जिससे सम्पूर्ण संसारको आनन्द प्राप्त होता है। "यदा-त्वमभि वर्षसि" (प्र० प्रा० २ श्रु० २६) इस श्रुतिके प्रमाणसे सिद्ध होता है, कि वही सर्वेश्वर मेघमाला होकर पृथ्वीपरे वरसता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! [ अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन! ] अमृत भी मैं ही हूं और मृत्यु भी मैं ही हूं और सत् असत् मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि सम्पूर्ण विश्व-मातका अमृत अर्थात् जीवन तथा देवादि गणका जीवन भी मैं ही हूं अथवा यों समझलो, कि ज्ञानियोंकेलिये, भक्तोंकेलिये, विद्वानोंकेलिये और सज्जनोंकेलिये मैं ही अमृतस्वरूप हूँ अर्थात् 'कैवल्यपरमपद' हूं।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जहां मृत्युकी भी मृत्यु होजावे वही यथार्थ अमृतस्वरूप कहलाता है सो वह कौन है? जिसके समीप जानेसे मृत्युकी भी मृत्यु होजाती है तो यही कहना पडेगा, कि वही स्वयं भगवान् है। प्रमा० श्रु०— "ॐ अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्यु-मपमृत्युञ्च मारयति" (नृ० पू० तापि० उप० २ श्रुति ४)

अर्थ— वह भगवान मृत्युका भी मृत्यु क्यों कहा जाता है? तो उत्तर यह है, कि वह अपनी महिमा द्वारा अपने भक्तोंसे उपासना कियेजानेपर उनकी मृत्यु तथा अपमृत्यु ( अकालमृत्यु ) को मार-डालता है इसलिये वह मृत्युकी भी मृत्यु कहाजाता है। जैसे

प्रह्लाद भक्तके लिये जो मृत्युस्वरूप हिरण्यकश्यप था तिसकी भी मृत्यु अर्थात् नरसिंह होकर प्रकट हुआ और भक्तकी मृत्युकी भी मृत्यु बनगया। दूसरा भाव यह है, कि कालका भी काल अर्थात् महाकाल है जिसके भयसे मृत्यु भी डरती है।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि 'अमृतञ्चैव मृत्युश्च' मैं अमृत और मृत्यु दोनों हूं। जो एवम्प्रकार मुझे दोनों जानकर उपासना करते हैं वे मृत्युके मुखमें नहीं पडते।

फिर भगवान् कहते हैं, कि '**सदसच्चाहमर्जुन**' हे अर्जुन! इसी प्रकार सत् भी मैं ही हूं और असत् भी मैं ही हूं। इसका प्रथम भाव तो यह है, कि सत् जो यह स्थूलजगत् सो मैं ही हूं और असत् जो इस जगत्का सूक्ष्मकारण सो भी मैं ही हूं। प्रमाण श्रु०—

"ॐ असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत"

अर्थ— सबसे पहले 'असत्' ही था तात्पर्य यह है, कि नामरूपात्मक जगत्के अभावसे वस्तु-तत्त्व कुछ भी नहीं थी ये जितने स्थूलपदार्थ जो देखनेमें आते हैं इनमें एक भी नहीं था फिर क्या था? 'असत्' परमसूक्ष्मस्वरूप नाम रूप प्रपञ्चसे विपरीत-रूपवाला अविनाशी ब्रह्म ही था। इसी कारण श्रुति कहती है, कि सबसे पहले 'असत्' फिर निश्चय करके जिस असत् नाम रूप-रहित अव्यक्तस्वरूप ब्रह्मसे 'सत्' जो यह व्यक्त नामरूपात्मक जगत् सो उत्पन्न हुआ इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि 'असत्' और 'सत्' दोनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं।

इसी कारण श्रुतियां कहती हैं— " सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ' तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ' ' ततो विराडजायत ' इत्यादि २।

अर्थ— जो कुछ है सब ब्रह्म है तिस सृष्टिकी रचना कर तिसी के स्वरूपसे तिसमें प्रवेश करगया अर्थात् ब्रह्ममें ब्रह्मा, इन्द्रमें इन्द्र, राजामें राजा, प्रजामें प्रजा, कीटमें कीट, पतंगमें पतंग होकर प्रवेश करगया तात्पर्य यह है, कि फूलमें फूल होकरे खिलखिला उठा और बुलबुलमें बुलबुल होकर चहचहा उठा।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ' सत् ' ' असत् ' सब मैं ही हूं। जो प्राणी एवम्प्रकार मुझको ' सत् ' और ' असत् ' दोनों जानकर उपासना करते हैं वे सृष्टि और प्रलय के समय मेरे स्वरूपमें स्थिर रहते हैं।

भगवान्ने जो इस अध्यायके १५ वें श्लोकमें अपनी उपासनाका भेद कहतेहुए अन्तमें ' बहुधा विश्वतोमुखम् ' अर्थात् मेरे उपासक मुझको सर्वतोमुख जानकर बहुत प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं उन बहुत प्रकारोंमें भगवानने १६ से १९ श्लोक तक अर्थात् चार श्लोकोंमें अनेक प्रकारकी उपासनाओंके भेद स्पष्टरूपसे वर्णन किये।

॥ १६, १७, १८, १९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो प्राणी आपके स्वरूपोंकी उपासना आपके मिलनेके तात्पर्यसे नहीं करते वरु बडे प्रचण्ड कर्मकाण्डी बन अपनी मनःकामनाओंकी सिद्धिनिमित्त विशाल यज्ञादिका सम्पादन करते हैं उनकी क्या दशा होती है ? सो कृपा कर कहो।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २०

पदच्छेदः— त्रैविद्याः ( ऋग्यजुःसामविदः । याज्ञिकाः । वेदत्रयोक्तकर्मतत्पराः ) यज्ञैः ( अग्निष्टोमादिभिः ) माम् ( वसुरुद्रादित्यरूपिणमीश्वरम् ) इष्ट्वा ( पूजयित्वा ) सोमपाः ( सोमं पिबन्तीति सोमपाः ) पूतपापाः ( निर्धूतकल्मषाः ) स्वर्गतिम् ( स्वर्गगमनम् ) प्रार्थयन्ते, ते [ याज्ञिकाः ] पुण्यम् ( पुण्यफलम् ) सुरेन्द्रलोकम् इन्द्रलोकम् । स्वर्गम् ) आसाद्य ( सम्प्राप्य ) दिवि ( स्वर्गे ) दिव्यान् ( दिविभवान् ) देवभोगान् ( देवतोपभोगयोग्यान् ) अश्नन्ति ( भुञ्जते ) ॥ २० ॥

पदार्थः— ( त्रैविद्याः ) ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद तीनों वेदोंका अभ्यासकर तिनकी आज्ञाके अनुसार कर्मोंके जाननेवाले जो विद्वान हैं वे ( यज्ञैः ) नाना प्रकारके अग्निष्टोमादि यज्ञोंके सम्पादनद्वारा ( माम् ) मेरे यज्ञपुरुषरूप अथवा वसु, रूद्र, आदित्य तथा ईश्वरस्वरूपका ( इष्ट्वा ) पूजन और उपासना करके ( सोमपाः ) सोम रसके पान करनेवाले ( पूतपापाः ) अपने पापोंसे शुद्ध होकर ( स्वर्गतिम् ) स्वर्गमें अपनी गतिकी ( प्रार्थयन्ते ) प्रार्थना करते हैं ( ते ) वे याज्ञिक विद्वान ( पुण्यम् ) अपने पुण्यके फलरूप परम

पवित्र ( सुरेन्द्रलोकम् ) इन्द्रलोकको ( आसाद्य ) प्राप्तकर ( दिवि ) स्वर्गलोकमें ( दिव्यान् ) परम रमणीय ( देवभोगान् ) देवताओंके भोगोंको ( अश्नन्ति ) भोगते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि जो लोग तुम्हारे स्वरूपकी इच्छा न करके कामना लिये हुए नाना प्रकारके यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करते हैं उनकी क्या गति होती है ? इसके विषय श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द यों उत्तर देते हैं, कि [ त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ] हे अर्जुन ! जो बडे-बडे विद्वान् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद तीनों वेदोंके जाननेवाले अपनी ब्रह्मचर्यावस्थामें गुरुद्वारा पूर्ण-प्रकार अध्ययनकर जितने कर्मोंके सम्पादन करनेकी आज्ञा इन तीनों वेदोंमें दीगयी है उनको पूर्णप्रकारे जानकर तथा उन सब कर्मोंका विधि-पूर्वक साधनकर अध्वर्यु, होता और उद्गाता इन तीनोंके याज्ञिक व्यवहारोंको जानकर इन तीनों प्रकारके कर्मोंका सम्पादन कर फिर " सोमपाः " होकर अर्थात् सोमरसको पानकर " पूतपापाः " होजाते हैं अर्थात् अपने सर्वप्रकारके पापोंसे शुद्ध होजाते हैं वे अपने शरीरको निर्मल काञ्चनके सदृश बना स्वर्ग जानेकी प्रार्थना करते हैं ।

यहां पाठकोंके बोधार्थ सोमरसका वर्णन और यज्ञोंमें उसके व्यवहार करनेकी रीति वर्णन करदी जाती है । इस वर्तमानकालमें तो सोमलताका कुछ पता ही नहीं है कोई याज्ञिक नहीं बता सकता

कि सोमलता किस लताका नाम है ? किसी-किसीने अंगूरकी लताको सोमलता समझ रखी है और उससे एक प्रकारका अंगूरी मद्य चुलाते हैं और कहते हैं, कि यज्ञोंमें इस मद्यका पान करना सोमपान कहलाता है। बहुतेरे अज्ञानी सोमरसको मद्य समझते हैं और मद्यपी तो बडे आनन्दसे पुकारकर कहते हैं, कि पहले यज्ञोंमें मद्य चढाया जाता था पर ऐसा कहना इन अज्ञानियोंकी भूल है।

"औषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणाः।
दशवर्षसहस्राणि नवीनं धारयेत्तनुम् ॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च।
तस्यालमायुः क्षपणे समर्थाश्च भवन्ति हि ॥
साङ्गोपाङ्गञ्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥"

अर्थ— यह सोमरस जो औषधियोंका पति है जिसके पानकरनेसे चतुर ज्ञानी पुरुष दशसहस्रवर्ष पर्यन्त नवीन शरीरको धारण करता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र तथा अस्त्र किसीसे उसके शरीरका नाश नहीं होसकता तथा इस सोमरसका पान करनेवाला सर्वप्रकारके वेदोंको सांगोपांग जानजाता है और देवताके समान संसारमें इच्छानुसार सर्वत्र विचर सकता है।

यह तो संक्षिप्तरीतिसे सोमका महत्त्व वर्णन कियागया अब उस सोमका स्वरूप वर्णन कियाजाता है—

"सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।

तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यान्ते भवेत् पंचदशच्छदः ।
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ।

अर्थ— जितने प्रकारके सोम हैं सबमें पन्द्रह पत्ते होते हैं व शुक्लपक्षमें उत्पन्न होते हैं और कृष्णपक्षमें झरजाते हैं शुक्लपक्षमें एक-एक पत्ता प्रतिदिन निकलता है अर्थात् पौर्णमासीतक १५ पत्ते निकल आते हैं फिर कृष्णपक्षमें एक-एक पत्ता करके प्रतिदिन झरता चला जाता है अमावास्यातक सब पत्ते गिरजाते हैं केवल लतामात्र रहजाती है ।

यह सोम सूर्यकी किरणोंके समान चमकीला होता है और उसमें घृतके समान गन्ध आता है । उसका कन्द कदलीके स्तम्भके समान मोटा होता है, चन्द्रमाकी शीतल किरणोंके समान जलमें निर्मल देख पड़ता है । सर्पके केचुलेके समान इसकी लता चित्रित होती है, मलयाचल, हिमाचल तथा पांचालदेशमें सिन्धुनदीके मध्य प्रायः यह पाया जाता है । फिर काश्मीर देशमें एक सरोवर है जिसका नाम "क्षुद्रकमानस" है तहां यह लता पायी जाती है पर इसके मिलनेमें कठिनता यह है, कि इसी सोमलताके समान और भी अनेक प्रकारकी लताएं इस सरोवरमें तैरती हुई देखी जाती हैं । इसी कारण यथार्थ सोमलताका बोध होना कठिन है । साधारणको तो यह लता मिलती ही नहीं पर किसी ऐसे भाग्यवान्को जो ब्रह्मचर्य इत्यादि

बडी पवित्रताके साथ रेहता है और यज्ञादिकी अभिलाषासे इस लताके ढूंढमें जाता है उसे कभी-कभी संयोगवशात् यह लता लब्ध होजाती है।

## अब तिस सोमरसको यज्ञोंमें किस विधिसे पान करना चाहिये और तिसके पानसे क्या लाभ होता है ? सो वर्णन किया जाता है—

प्रथम याज्ञिक सर्वप्रकारकी सामग्रियोंको एकत्र करके पवित्र-स्थानमें तीनवृत्त वाला आगार बनावे तिसके मध्यस्थानमें सोमकन्दको रखकर स्वर्णकी सूईसे छेद-छेदकर स्वर्णके पात्रमें एक अञ्जलिमात्र रस निकाल रखे फिर वेदमन्त्रद्वारा यज्ञपुरुषको अर्पणकर उस रसको पीजावे। कुछकाल स्थिर बैठकर खडा होजावे फिर उत्तराभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख कुछ कालतक चले। यदि सायंकालको पान करे तो कुशकी शय्यापर मृगचर्म बिछाकर सोजावे। यदि प्यास लगे तो शीतल जल पान करे दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर गौको स्पर्श करे। जब यह सोमरस पचने लगजाता है इसमें छर्दि अर्थात् उबकाई आती है जब उबकाई आनेकी दशाहो तब सायंकाल दूध पीवे और सोजावे। तीसरे दिन उस उबकाईके साथ रुधिर मिले हुए कीडे सब शरीरसे बाहर निकलआते हैं जिससे अनिष्टप्रतिग्रह, भुक्तअन्न तथा अन्य प्रकारके दोषोंसे शरीर शुद्ध होजाता है। फिर सायंकाल दूध पीवे और पतलावस्त्र बिछाकर सोजावे तब चौथेदिन सम्पूर्णशरीर फूलना आरम्भ होजाता है और जो कुछ अपवित्र कीडे जहां-तहां शरीरमें रहगये थे वे सब धीरे २ निकलने लगजाते हैं जब

ऐसा हो तो चाहिये, कि केवल धूलि बिछाकर सोवे एवम्प्रकार पांचवें और छठे दिन दूधपान करताजावे तब सातवें दिनतक सारे शरीरका मांस सूखकर केवल हाड और चर्ममात्र रहजाते हैं।

तत्पश्चात् उसके शरीरमें गर्म २ क्षीरका छींटा देकर तिल, मधु और चन्दन लगावे एवम्प्रकार उस याज्ञिकको आठवें दिन पूर्ववत् दूध पिलाकर धूलिकी शय्यापर सुलादेवे कुछ कालके पश्चात् ऐसा आश्चर्य देखनेमें आवेगा, कि उस पुरुषके शरीरपर आपसेआप मांस भरआवेगा चर्ममें दल पडजावेगा परे रोम सब गिरजावेंगे दांत और नख झरजावेंगे। नवें दिन तैल मर्दनकरनेसे उसके शरीरका चर्म दृढ होजाता है। अठारवें दिन जब दांत निकलआवेंगे तब चाहिये, कि शालि, तण्डुल, क्षीर और यवागूका सेवन करावे एवम्प्रकार पच्चीसवें दिन भात अथवा हविष्य खिलावे तब इसके सब नख और केश निकल आवेंगे और चर्म इत्यादि सब अत्यन्त शोभायमान होजावेंगे। फिर चाहिये, कि एकबार उस केशको मुण्डन करादेवे ऐसा करनेसे जो दुबारा केश निकलेगा वह काले भौंराके समान अत्यन्त चमकीला निकल पडेगा।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह सोमपान एक प्रकारका कल्प है जिससे शरीर नवीन, दृढ, अत्यन्त शोभायमान, कामदेवके समान, निर्मल और निर्विकार होजाता है। मनुष्य परमतेजस्वी, पराक्रमी, साहसी, दृढ, बलिष्ठ और परमबुद्धिमान होजाता है।

इस सोमपानका वर्णन संक्षिप्तरीतिसे यहां कियागया है जिसको विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छा हो चरक और सुश्रुतके चिकित्साविभागको भली भांति देखे।

इसी कारण जगत्-हितकारि गोलोकविहारि श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि ' सोमपाः पूतपापाः ' जो लोग सोमके पीनेवाले हैं वे सर्व पापोंसे पवित्र होजाते हैं और 'मां यज्ञैरिष्ट्वा' मुझको यज्ञोंके द्वारा उपासना करके " स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते " स्वर्गकी गतिकी प्रार्थना करते हैं अर्थात् स्वर्गमें देवगणको जो भोग प्राप्त हैं उन भोगोंकी इच्छा करते हैं। तात्पर्य यह है, कि अप्सरा इत्यादि के संग विहार करनेके सुखकी आकांक्षा करते हैं तथा देवताओंके समान सृष्टिसे पूज्य होनेकी अभिलाषा करते हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि [ ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र-लोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ] वे सोमपी याज्ञिकपुरुष परमपवित्र इन्द्रलोकको प्राप्त करे तिस दिव्य परम मनोहर विषयानन्दमय लोकमें दिव्य भोगोंको भोगते हैं। क्योंकि देव-ताओंसे भोगेजाने योग्य भोगोंकी अभिलाषा करके वे अपनी सारी आयु इस संसारमें यज्ञादिके सम्पादनमें लगाचुके थे इसलिये वे स्वर्ग-सुखको अवश्य पाते हैं।

प्रमाण श्रुतिः— ॐ एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् । तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ( मुं० १ खं० २ श्रु० ५ )।

अर्थ— इस श्रुतिसे पूर्व जो अग्निको सप्तजिह्वा कहकर काली, कराली इत्यादि नामोंसे पुकारआये हैं उसीके विषय फिर इस श्रुतिमें कहते हैं, कि इस अग्निकी प्रकाशमय प्रज्वलित जिह्वामें जो प्राणी

नियत कालमें आहुति डालते हैं अर्थात् यज्ञोंका सम्पादन करते हैं उनको सूर्यकी रश्मियां वहां ही लेजाती हैं जहां सब देवताओंका पति इन्द्र निवास करता है ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि भगवन्! तुम जो बार-बार मुझसे कहआये हो, कि कर्मोंके फल अन्तवान् होते हैं अर्थात् कहीं न कहीं जाकर समाप्त होजाते हैं तो इन याज्ञिक 'सोमपा' पुरुषोंकी अन्तिम दशा क्या होती है?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

**पदच्छेदः**— ते (स्वर्गकामास्त्रैविद्याः) तम् (प्रार्थितम्। पुण्येन प्राप्तम) विशालम् (विस्तीर्णम्) स्वर्गलोकम् (देवलोकम्) भुक्त्वा, पुण्ये, क्षीणे (नष्टे) मर्त्यलोकम् (संसारम्) विशन्ति (आयान्ति) एवम् (यथोक्तेन प्रकारेण) हि (प्रसिद्धम्) त्रयीधर्मम् (वेदत्रयेण प्रतिपादितम् धर्मम्) अनुप्रपन्नाः (प्रकर्षेणानुसृवन्तः) कामकामाः (दिव्यान् भोगान् कामयमानाः) गतागतम् (गमनागमनम्। यातायातम्) लभन्ते (प्राप्नुवन्ति) ॥ २१ ॥

**पदार्थः**— (ते) वे याज्ञिक पुरुष (तम्) तिस (विशालम्) बडे (स्वर्गलोकम्) इन्द्रलोकके सुखको (भुक्त्वा) भोग

करके ( पुण्ये क्षीणे ) पुण्यके क्षीण होनेपर ( मर्त्यलोके ) इस संसारमें ( विशन्ति ) लौटकर प्रवेश करते हैं ( एवं, हि ) इसी-प्रकारसे निश्चय करके ( त्रयीधर्मम्, अनुप्रपन्नाः ) तीनों वेदोंके कथित धर्ममें प्राप्त होनेवाले ( कामकामाः ) दिव्य भोगोंके चाहने वाले ( गतागतम् ) आवागमनको ( लभन्ते ) प्राप्त करते हैं॥ २१

**भावार्थः—** अब इस श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त याज्ञिक पुरुषों का अन्तिम परिणाम वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति** ] वे लोग जो ऋग्, यजु, साम तीनों वेदोंको पूर्णप्रकार अध्ययन कर के होता, अध्वर्यु और उद्गाता इन तीनोंके धर्मको भलीभांति जानकर अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंमें सोमादि रसोंका पान करके विधि-पूर्वक यज्ञोंका सम्पादन करते हैं वे तिस स्वर्गलोकके विशाल सुखको भोगकर फिर पुण्य क्षय होनेसे इस मृत्युलोकमें लौटआते हैं। अर्थात् नन्दनवन, अप्सरा इत्यादि नाना प्रकारके दिव्य भोगोंको जो विपुल हैं अर्थात् स्वर्गलोकमें जिन सुखोंका भण्डार ही भराहुआ है किसी प्रकारके सुखकी कमी नहीं है क्योंकि तहां कल्पवृक्षका निवास है जिस कल्पवृक्षके नीचे जानेसे जिस प्रकारके सुखकी इच्छा हो मनो-वाञ्छित सुखकी प्राप्ति होजाती है और जितने सुखोंके भोगनेकी इच्छा हो भोगके लिये मिलजाते हैं। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें विशाल शब्दका प्रयोग किया है। एवम्प्रकार विशाल सुखको भोग कर जितने काल तक उनके यज्ञादि कर्मोंका फल उदय रहता है उतने कालतक निश्चिन्त बिना किसी चिन्ता के भोगे चलेजाते हैं पर यह सुख यद्यपि

उनको बहुत काल तक भोगनेको मिलता है तथापि " क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति " पुण्यकी समाप्ति होनेपर फिर लौटकर इस असार संसारमें आकर जो अत्यन्त दुःखका सागर है प्रवेश कर-जाते हैं।

श्रीआनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! [ एवं त्रयीधर्म-मनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ] इस प्रकार जो याज्ञिकपुरुष तीनों प्रकाके धर्मोंमें बार २ रत और कामना चाहनेवाले हैं वे आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं। यहां ' अनु ' शब्दका प्रयोग करनेसे भगवान्‌का तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी एकबार यज्ञादि कर्मोंका सम्पादनकरके स्वर्गलोकमें जा पुण्यकी अवधिपर्यन्त सुखोंको भोग इस संसारमें लौट आते हैं वे फिर " तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् " ( अ० ६ श्लो० ६ ) भगवान्‌के इस वच-नके अनुसार तहां उनकी बुद्धिका संयोग फिर उन ही यज्ञादि कर्मोंके साथ होजाता है। अर्थात् जहांतक बुद्धि प्राप्तकरके उस पिछले शरी-रको छोड स्वर्ग गयेथे फिर संसारमें लौटकर जब जन्म लेते हैं तब उसी बुद्धिको पाते हैं तहांसे फिर उनकी बुद्धि कुछ उन्नतिको प्राप्तहोती है क्योंकि भगवान् पहले इस बातको सिद्ध करआये हैं, कि मनुष्योंको पूर्वदेहमें जहांतक जिस प्रकारकी बुद्धिकी बनावट बनजाती है अर्थात् जैसी बुद्धि जिस विषयकी ओर प्रबल रहती है फिर दूसरे जन्ममें उस मनुष्यकी बुद्धि उसी ओर लगपडती है। इसलिये यहां भी ऐसा ही कहना पडेगा, कि ये जो त्रयीधर्मा हैं अर्थात् ऋक्, यजु और साम तीनों विद्याओंकी प्राप्तिसे जिनकी बुद्धि यज्ञादिकी ओर लगगयी है वे

बार २ अनेक जन्मोंमें यज्ञोंका ही सम्पादनकर स्वर्गको जाते हैं फिर यहां लौटते हैं। इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकमें उनको ' अनुप्रपन्नाः ' कहा अर्थात् जो अपने यज्ञादि त्रयीधर्मके पीछे पडे रहनेवाले कहेगये वे ही एवम्प्रकार निश्चयकरके " गतागतं कामकामा लभन्ते " विषयभोगकी कामनावाले 'गतागत' को अर्थात् आवागमनको प्राप्त होते हैं। प्र० श्रु०— " ॐ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति " ( मु० १ खं० २ श्रु० ७ )

अर्थ— ये जो अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोमादि यज्ञरूप कर्म हैं ये ही प्लव अर्थात् नौका हैं इन नौकाओंके चलानेवाले १८ धीवर ( मल्लाह ) हैं अर्थात् १६ ऋत्विग्, एक यजमान और एक उसकी स्त्री येही अठारह मल्लाह इन यज्ञनौकाओंके चलानेवाले हैं पर ये नौकाएं कैसी हैं? कि 'अदृढाः' दृढ नहीं हैं चंचल हैं अर्थात् फलदेकर नष्ट होजाती हैं फिर जो मूढ इनको श्रेय अर्थात् कल्याणदायक जानकर प्रसन्नतापूर्वक इनके करनेमें सुखी होते हैं वे बार २ जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो कामना वाले कामना लेकर इन यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करते हैं वे बार-बार इस संसारके दुःखसागरमें ऊब-डूब करते रहते हैं।

शंका— तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षाध्याय प्रथमवल्ली एकादश अनुवाक्में श्रुति ३ कहती है, कि " ॐ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः।

युक्ता आयुक्ता। अलूक्ता धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः ”

अर्थ— यदि तुझको यह जानने की इच्छा हो, कि क्या-क्या करना योग्य है ? तब तू उन ब्राह्मणोंके पास जा ! जो सर्वप्रकार विचार-शील हैं, सर्वप्रकारके कर्मोंमें युक्त हैं, सर्वप्रकारके संशयादि दोषोंसे रहित हैं, करबुद्धिसे रहित शुद्धबुद्धिवाले हैं और सदा धर्महीकी काम-नावाले हैं वे जैसे कर्मोंमें वर्त्तमान हों तैसे तू भी उनकी देखादेखी कर्मोंमें वर्त्तमान रह !

फिर भगवान भी स्वयं पहले अपने मुखारविन्दसे कहआये हैं, कि “ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ” ( अ० ३ श्लो० २१ ) जैसा२ श्रेष्ठ पुरुष आचरण करते हैं वैसाही उनकी देखा-देखी इतर जन भी आचरण करते हैं ।

तात्पर्य यह है, कि जो त्रयीविद्य हैं अर्थात् तीनों वेदोंके ज्ञाता यज्ञोंमें निपुण हैं वे ही श्रेष्ठ हैं फिर उनकी देखा-देखी सब छोटे बडे यज्ञादिकाही सम्पादन और उनकी स्तुति करते चले आये हैं ।

शंका— पर अब भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि “ गतागतं कामकामा लभन्ते ” जो नाना प्रकारकी कामनाओंसे परिपूर्ण रहते हैं वे आवागमन प्राप्त करते हैं भगवानके इन श्रेष्ठ वचनोंमें परस्पर विरोध क्यों ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि बाहरसे देखनेमें दोनों वचनोंमें विरोध देखाजाता है पर यथार्थमें विरोध नहीं है । जो श्रुति

ऐसा कहती, है, कि वेदत्रयीके विद्वान् लोग जैसा करते हैं वैसाही आचरण करो तहां " सम्मर्शिनः " और " अलूक्षाः " तथा " धर्म-कामाः " ये तीन विशेषण दिये हैं। अर्थात् वे ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता कैसे हों ? कि विचारशील हों, क्रूरबुद्धिसे रहित हों और केवल धर्मकी कामनावाले हों अर्थात् " कामकामाः " स्वर्गभोगकी इच्छावाले न हों केवल निष्कामकर्मोंके सम्पादन करनेवाले हों तिन विद्वानोंको देख कर आचरण कर! क्योंकि 'कामकामाः' जो सकाम कामना लेकर यज्ञादिके सम्पादन करनेवाले हैं वे ही मूढ हैं और क्रूरबुद्धिसे युक्त हैं उनकी देखा-देखी कामना सहित यज्ञोंका सम्पादन नहीं करना चाहिये। क्योंकि अन्तमें वे ही बार-बार जन्ममरणको प्राप्त होते हैं और जो धर्मकाम हैं वे विचारशील सर्वप्रकारकी कामनाओंसे रहित यज्ञोंका सम्पादन कर फलोंको भगवत्में समर्पण करदेते हैं जिससे उनके अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है और तिस अन्तःकरणकी शुद्धिसे मोक्ष लाभ होता है। इसलिये सकाम कर्मोंको त्याग निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करना यही श्रुतियोंका तथा स्वयं भगवान्का भी तात्पर्य है। इसीलिये भगवान्ने " गतागत " शब्दके साथ " काम-कामाः " शब्दका प्रयोग किया है। अतएव सकामयज्ञ करनेवालों की निन्दा और जरामृत्युकी प्राप्ति दिखलायी निष्कामकर्म वालोंकी नहीं। शंका मत करो ॥ २१ ॥

यहांतक तो भगवान्ने भिन्न-भिन्न उपासना वालोंकी गति दिख-लायी अब अगले श्लोकमें उनकी गति दिखलावेंगे जो अन्य सर्वप्रकार की उपासनाओंको त्यागकर केवल उसहीकी अर्थात् साक्षात् पूर्णपरब्रह्म

जगदीश्वर सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी उपासना करते हैं।

मू०— अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— ये, जनाः ( निष्कामाः। सम्यग्दर्शिनः ) अनन्याः (नास्ति अन्य उपायो येषां ते) चिन्तयन्तः ( ध्यायन्तः ) माम् ( नारायणम् ) पर्य्युपासते ( सेवन्ते। सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्ति ) तेषाम्, नित्याभियुक्तानाम् ( सततमत्यादरेण मच्चिन्तने व्यापृतानाम् ) योगक्षेमम् ( अलब्धस्य प्रापणं योगः लब्धस्य परिपालनं क्षेमस्तदुभयम् ) अहम्, वहामि ( प्रापयामि ) ॥ २२ ॥

पदार्थः— ( ये ) जो ( जनाः ) भक्तजन ( अनन्याः ) मुझको छोड अन्य किसीको कहीं नहीं देखते वरु सदा ( चिन्तयन्तः ) मुझ ही को सर्वत्र सब कालमें चिन्तमन करतेहुए (माम् ) मुझ परमेश्वरको ही ( पर्य्युपासते ) उपासते हैं अर्थात् सेवन करते हैं ( तेषाम् ) तिन ( नित्याभियुक्तानाम् ) नित्य युक्त पुरुषोंको ( योगक्षेमम् ) योग और क्षेम दोनों ( अहम् ) मैं परमेश्वर ही ( वहामि ) प्रदान करता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थः— सकामपुरुषोंका अन्तिम परिणाम कहकर अब भगवान् अपने निष्कामभक्तोंका परिणाम वर्णन करतेहुए अर्जुनके

प्रति कहते हैं, कि [ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ] जो हमारे भक्त अनन्य हैं मुझे छोड अन्य किसी देवता देवीकी उपासना नहीं करते, अहर्निश मेरी चिन्तामें समय बिताते हैं मेरी सेवा पूजामें मग्न रहते हैं, मेरे ही को अपना मस्तक झुकाते हैं, नेत्रोंसे मेरे ही स्वरूपको देखते हैं, कानोंसे मेरा ही यश सुनते हैं, जिह्वासे मेरा ही गुण गान करते हैं और नासिकासे मेरे ही अंगोंका सुवास लेते हैं ऐसे जो मेरे अनन्यभक्त हैं [ तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ] ऐसे अपने नित्ययुक्तभक्तोंको मैं स्वयं * योग क्षेम प्रदान करता हूं। अर्थात् जो वस्तु प्राप्त न हो उसकी प्राप्ति करादेता हूं और प्राप्त वस्तुकी रक्षा करदेता हूं। सो भगवान् कहते हैं, कि मैं अपने अनन्यभक्तोंको लौकिक, पारलौकिक, दैहिक, आत्मिक और सामाजिक जिस किसी वस्तुकी इच्छा होती है पूर्ण करदेता हूँ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंको उनके हाथ करदेता हूँ। फिर ऐसा नहीं, कि जो वस्तु मैं उनको देता हूं उसे कोई बलवान् उनसे लेलेवे अथवा कोई दुष्ट उसे नष्ट करदे अथवा कोई देवता वा देवी उसकी रक्षामें कुछ विघ्न करसके क्योंकि मैं स्वयं अपने चारों हाथोंसे उसकी रक्षा करता हूं।

श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द पहले भी कहआये हैं, कि 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः....'

( अ० ८ श्लो० १४ )

* अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिको **योग** और तिसकी रक्षाको **क्षेम** कहते हैं।

हे पार्थ ! जो अनन्यचित्त होकर मुझे सदा आठों याम स्मरण करता है मैं ऐसे नित्ययुक्त योगीको सुलभ हूं । फिर कहचुके हैं, कि " योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेन ······· " ( अ० ६ श्लो० ४७ ) अर्थात् जो श्रद्धावान् योगी पुरुष सदा अपने अन्तरात्माको मुझ ही में लगाये सदा मुझको भजता है सो मेरे जानते सब योगियोंमें श्रेष्ठ है । फिर कहचुके हैं, कि " सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्त्तमानोऽपि ···· " ( अ० ६ श्लोक ३१ )

अर्थात् जो पुरुष सब भूतोंमें स्थित एक मुझको ही जानकर भजता है वह सब दशामें वर्त्तमान रहता हुआ भी मुझमें ही अवस्थित रहता है । इसका कारण यह है, कि ऐसा नित्ययुक्त अनन्यभक्त ज्ञानी होता है और सर्वप्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भगवान्को अत्यन्त प्रिय है सो भगवान् स्वयं कहआये हैं, कि " प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः " ( अ० ७ श्लो० १७ )

अर्थात् तिस ज्ञानवान् पुरुष को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी भी मेरा अत्यन्त प्यारा है ।

इसी कारण मैं पिताके समान उसके योग क्षेममें लगा रहता हूं । पिताका स्वभाव है, कि पुत्रको ओढने, पहननेके लिये वस्त्र, आभूषणोंको लाकर इकट्ठा करदेता है और पुत्रको पहना देता है फिर उसके अंगसे उन वस्त्रादिकोंको उतार कर घरकी खूटियोंपर लटका देता है और उसकी रक्षा करता है वह बच्चा कुछ भी नहीं जानता, कि मेरे वस्त्रोंको कहांसे कौन ले आता है; फिर कहां कैसे रक्षा करता है

बच्चा तो केवल खानेके समय खालेता है, पहननेके समय पहन लेता है और निश्चिन्त हो खेलता रहता है उसका योग क्षेम उसके पिताके हाथमें है इसी प्रकार भक्तोंका योग क्षेम स्वयं भगवान्के हाथमें है।

शंका— भगवान्ने एकही विषयको वार-बार क्यों कथन किया? जैसा, कि एकही तात्पर्यको अभी ऊपरे कई अध्यायोंमें कह आये हैं क्या यह पुनरुक्तिदोष नहीं कहा जावेगा ?

समाधान— यह पुनरुक्ति दोप नहीं है वरु जिस विषयको दृढ करना होता है उसे बारे २ कहनेकी आवश्यकता है वरु कमसे कम तीन वारे तो अवश्य ही कहना पडता है जिससे कहनेवालेके तात्पर्यकी दृढता होती है और यह बात सबोंकी समझमें आजाती है, कि कहनेवाला अपने वचनको दृढ करना चाहता है। देखो! वेदोंके मन्त्रोंकी समाप्ति करते हुए ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! तीन बार लिखनेकी वा बोलनेकी आवश्यकता होती है इसलिये तीन बार शान्ति शब्दके उच्चारण करनेको पुनरुक्ति नहीं कहसकते केवल शान्तिकी दृढतानिमित्त उच्चारण करते हैं। इसी प्रकार उपनिषदोंके अन्तमें अन्तिम मन्त्र-भागको दो-दो बार उच्चारण करते हैं। जैसे मुण्डक उपनिषद्के अन्तमें "नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः" तैत्तिरीयके अन्तमें "अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" केनके अन्तमें "प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति" छांन्दोग्य उत्त० सप्तम प्रपाठकके अन्तमें "तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते" इसी प्रकार अन्य

उपनिषदोंके अन्तमें भी एक-एक वाक्य को दो-दो बार कथन किया है इसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते ।

इसी प्रकार भगवानने भी केवल अपनी उपासनाकी दृढता निमित्त एकही विषयको ठौर २ गीतामें कथन किया है। यहां शंकाका स्थान नहीं है ।

भाष्यकार तथा मधुसूदन इत्यादि महात्माओंने अद्वैतके अनुसार इस श्लोकमें " अनन्याश्चितयन्तो माम् " का अर्थ यों किया है, कि " अपृथग्भूताः परं देवं नारायणमात्मत्वेन मताः सन्तश्चिन्तयन्ति माम् " तथा " भेददृष्टिर्न विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः । अहमेव भगवान् वासुदेवः सर्वात्मा मद्व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति ज्ञात्वा प्रत्यगभिन्नं मां ध्यायन्तः " ।

तात्पर्य यह है, कि वे मुझको और अपने आत्मतत्वको एक जानतेहुए चिन्तन करते हैं तथा जहां भेद दृष्टि न हो उसे कहिये अनन्य सर्वप्रकार अद्वैतदर्शी अर्थात् जिसने ऐसा दृढ निश्चय करलिया है, कि मैं ही सबका अन्तरात्मा हूं मुझसे पृथक् अन्य कुछ नहीं ऐसा जानकर जो अभिन्नरूपसे चिन्तन करते हैं कहीं भी भेददृष्टि नहीं रखते वे ही अनन्यचिन्तनकरनेवाले कहेजाते हैं । इसी कारण जब वे सब वस्तुओंको तथा अपनेको भी वासुदेवही मानते हैं तब योगक्षेमकी उनको चिन्ता नहीं रहती इसी कारण भगवान कहते हैं, कि ऐसोंको योगक्षेम मैं प्रदान करता हूं ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! तुमने मुझे बार २ कहा है, कि इन्द्रादि जितने देव हैं सब मैं ही हूं इसलिये जो इन्द्रादि

अन्य देवताओंका पूजन भजन करते हैं वे मेराही करते हैं अतएव तुम्हारी और अन्यदेवताओंकी उपासना करनेवालोंकी समान गति होनी चाहिये फिर तुम अब कहते हो, कि यज्ञोंमें इन्द्रादिके पूजन करनेवाले गतागत ( आवागमन ) को प्राप्त होते हैं ऐसा विरोध क्यों ?

इतना सुन आनन्दकन्द बोले हे अर्जुन ! सुन—

मू०—येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
॥ २३ ॥

पदच्छेदः— हे कौन्तेय! (कुन्तीसुतार्जुन!) ये अन्यदेवताभक्ताः ( इन्द्रादिदेवतानां भक्ताः ) अपि, श्रद्धया ( आस्तिक्यबुद्ध्या ) अन्विताः ( युक्ताः ) यजन्ते ( पूजयन्ति ) ते, अपि, अविधिपूर्वकम् ( अज्ञानसहितम् । भेदबुद्धिसहितम् । मोक्षप्रापकं विधिं विना ) माम् ( वासुदेवम् ) एव ( निश्चयेन ) यजन्ति ( पूजयन्ति ) ॥ २३ ॥

पदार्थः—(कौन्तेय!) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! (ये, अन्यदेवताभक्ताः ) जो लोग इन्द्र, वसु इत्यादि अन्य देवताओंके भक्त ( अपि ) भी जब ( श्रद्धयान्विताः ) श्रद्धायुक्तहोकर ( यजन्ते ) अपने २ देवका पूजन भजन करते हैं ( ते, अपि ) वे भी ( अविधिपूर्वकम ) यथार्थ विधिसे रहित होकर अज्ञानसहित ( मामेव ) मुझ वासुदेवहीका ( यजन्ति ) पूजन करते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ:— अर्जुनने जो श्यामसुन्दरसे यों प्रश्नकिया है, कि हे भगवन् ! जब इन्द्रादि सब देवता तुम्ही हो तब ऐसा क्यों कहते हो ? कि अन्य देवताके भजन करनेवाले आवागमनमें पडेरहते हैं और तुम्हारे भजनकरनेवाले तुमको प्राप्तहोकर गतागत (आवागमन) से छूटजाते हैं सबोंकी समानही गति क्यों न होती ?

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् वासुदेव कहते हैं, कि [ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ] जो प्राणी मुझे छोड इन्द्र, वरुण, कुवेर, सुर्य इत्यादि अन्यदेवताओंके भक्त अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञोंके सम्पादनद्वारा अपनेअपने देवका यजन श्रद्धापूर्वक आस्तिक्यबुद्धिसे करते हैं और ऐसा निश्चय रखते हैं, कि यह हमारा देव सत्य है हमारी सर्वप्रकारकी मन:कामनाओंका पूर्ण करनेवाला है तथा लौकिक सुख प्रदान करता हुआ पारलौकिक सुख अर्थात् स्वर्गमें पहुंचाकर दिव्यभोगोंका देनेवाला है । [ तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ] हे अर्जुन ! वे भक्त जन भी अविधिपूर्वक मानो मेरी ही सेवा पुजा करते हैं पर यथार्थ मोक्षको तथा मेरे स्वरूपको न लाभ करके स्वर्गादिके सुखोंको तथा अपने-अपने देवोंके लोकोंमें जाकर तिन लोकोंके नियत सुखोंको प्राप्त होते हैं मुक्त नहीं होते परमपद तथा मेरे परमधामको नहीं पाते । इसका कारण यह है, कि " अविधिपूर्वकम् " विधिपूर्वक अर्थात ज्ञानपूर्वक भेदबुद्धिरहित होकर मुझे नहीं पूजते उनकी बुद्धिमें ऐसा निश्चय रहता है, कि यह मेरा देव अन्य देवताओंसे भिन्न है । जैसे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर्य्य, गाणपत्य

इत्यादि शिव, विष्णु, देवी, सूर्य और गणेश सबको भिन्न-भिन्न जानकर यजन करते हैं । बहुतेरे अल्पबुद्धिवाले प्राणी जो अज्ञानी हैं वे तो यहांतक भेदबुद्धि रखते हैं, कि अन्यदेवताके उपासकोंसे विरोध रखते हैं ।

प्रिय पाठको ! यहां भगवान्‌ने जो 'अविधिपूर्वक' शब्दका प्रयोग किया है सो इस वर्त्तमान कलिकालमें प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि किसी वैष्णव से पूछिये, कि तुम भस्म क्यों नहीं लगाते ? तो उत्तर देता है, कि यह शैवोंका काम है हमारा नहीं यहां तक, कि भस्मको अग्निका मल बताता है । इसीके प्रतिकूल शैव वैष्णवोंके तिलकको रामफटाका कहकर पुकारते हैं । इन वार्त्ताओंके देखनेसे प्रत्यक्ष समझमें आता है, कि ये लोग भिन्न-भिन्न देवोंके पूजनेवाले भेदबुद्धि रखते हैं देवताओंको भिन्न-भिन्न समझते हैं । इनको यह ज्ञान नहीं है, कि सब एक वासुदेव ही स्वरूप हैं । एक वासुदेव महेश्वर सच्चिदानन्द ही अनेक रूप होकर भासरहा है । यदि वे अनन्यबुद्धि होकर उपासना करें तबतो सबोंकी एक ही गति हो और विधिपूर्वक पूजन कहाजावे पर भेदबुद्धिसे उपासना करते हैं इस कारण भगवान् ने यहां 'अविधिपूर्वक' कहा ॥ २३ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे यह दिखलाते हैं, कि अज्ञानी भेददृष्टिवाले मुझ सर्वयज्ञोंके भोक्ता प्रभुको नहीं जानते हैं इसलिये गतागतमें पडे रहते हैं ।

मु०— अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४

**पदच्छेदः—** हि ( यतः ) अहम ( महेश्वरः ) एव, सर्व-यज्ञानाम् ( सर्वेषां श्रौतानां स्मार्त्तानामग्निष्टोमादीनाम् ) भोक्ता ( देवतात्मत्वेन भोगकर्त्ता ) च, प्रभुः ( अन्तर्यामिरूपेण अधियज्ञ-त्वात फलदाता ) च ( किन्तु ) ते ( अन्यदेवता भक्ताः ) तु, माम् ( महेश्वरम् ) तत्त्वेन ( भगवान वासुदेव एव इन्द्रादिरूपेण यज्ञानां भोक्ता स्वेन रूपेणच फलदाता इत्येवं रूपेण ) न ( नैव ) अभि-जानन्ति ( सम्यग् जानन्ति ) अतः ( अस्मात कारणात् ) च्यवन्ति ( ज्ञाननिष्ठामलब्ध्वा संसारगर्ते पतन्ति ) ॥ २४ ॥

**पदार्थः—** ( हि ) क्योंकि ( अहम ) मैं सर्वेश्वर ( एव ) निश्चय करके ( सर्वयज्ञानाम् ) सर्व प्रकारके यज्ञोंका ( भोक्ता ) भोगनेवाला अर्थात ग्रहण करनेवाला ( च ) तथा ( प्रभुः ) स्वामी होनेके कारण फल देनेवाला ( च ) भी हूं ( ते ) वे अन्य देवताओंके पूजन करनेवाले ( माम ) मुझको ( तत्त्वेन ) यथार्थस्वरूपसे सबों का ग्रहण करनेवाला तथा सबोंका फलदाता स्वामी ( न ) नहीं ( अभिजानन्ति ) जानते हैं ( अतः ) इसलिये ( च्यवन्ति ) यज्ञफल भोगनेके अनन्तर संसारके खड्डेमें गिरपडते हैं ॥ २४ ॥

**भावार्थः—** अन्य देवताओंके उपासक अविधिपूर्वक भग-वानहीके उपासक कहेजासकते हैं फिर वे गतागतमें क्यों पडे रहते हैं ? इसका मूल कारण दिखातेहुए भगवान कहते हैं, कि [ अहं हि

सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ] मैं ही सर्वप्रकारके यज्ञोंका भोगनेवाला भी हूं और फल देनेवाला प्रभु भी हूं अर्थात् ये जो सकामभक्त स्वर्गसुख वा राजविभव तथा मान, मर्य्यादा इत्यादि नाना प्रकारकी कामनाओंसे श्रुति स्मृतियोंकी आज्ञानुसार अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन करते रहते हैं उन यज्ञफलोंका भोगनेवाला भी मैं ही हूं। क्योंकि मैं पहले कहचुका हूं, कि "अधियज्ञोऽहमेवात्र" ( अ० ८ श्लो० ४ ) हे अर्जुन! मैं ही यज्ञोंका अधिष्ठातृ देव हूं। इसलिये सब यज्ञोंका भोगनेवाला अर्थात् यज्ञोंमें जो यज्ञ करनेवाले नाना प्रकारके हवि इत्यादि द्रव्योंको अपने-अपने देवताके नामसे अर्पण करते हैं उन सब द्रव्योंका ग्रहण करने वाला एक मात्र मैं ही हूं।

भगवानका यह वचन केवल कहने ही मात्र नहीं समझना चाहिये वरु इस विषयको भगवान्‌ने करके भी दिखला दिया है। जिस समय व्रजवासियोंने नाना प्रकारके पक्वान्न बनाकर गोवर्द्धन पर्वतकी पूजा की थी उस समय गिरिराज गोवर्द्धनको जो कुछ अर्पण किया था. सब आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने बालस्वरूपसे भोग लगाना आरम्भ किया था जिस स्वरूपको व्रजवासियोंने प्रत्यक्षरूपसे अपने नेत्रोंके द्वारा देखा। प्रमाण— "कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः। शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरि बलिमादद्बृहद्वपुः ॥"

( श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० २४ श्लो० ३५ )

अर्थ— सब व्रजबासी गोपगोपियोंको विश्वास दिलानेके तात्पर्य से श्रीकृष्ण भगवान्‌ने आप ही दूसरा स्वरूप धारण कर परम भव्य-

मूर्त्ति हो मैं पर्वताभिमानी देवता हूं ऐसा कहकर उन गोपोंके अर्पण कियेहुए सर्वप्रकारके पक्वान्नोंको भोजन करने लगे ।

इस लीलासे भगवान्ने प्रत्यक्ष दिखला दिया, कि चाहे किसी भी देवताका नाम लेकर पूजन करो सब मैं ही ग्रहण करता हूं । इसी तात्पर्यको भगवानने रामावतारमें भी कौशल्याके भोगोंके पदार्थोंको भोजन करके स्पष्टतः सिद्ध करदिया था ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि मैं केवल यज्ञोंका भोक्ता ही नहीं हूं वरु " प्रभुरेव च " प्रभु अर्थात् स्वामी भी हूं ।

जैसे प्राकृत स्वामी, राजा-महाराजा अपने भृत्योंसे थोडीसी साधारण भेट ( नजराना ) लेकर उनको पुष्कल द्रव्यादि देते हैं इसी प्रकार मैं यज्ञोंके साधारण हवि इत्यादि द्रव्योंको ग्रहण कर देवात्मकरूपसे यज्ञ करनेवालोंकी मनःकामनाओंको पूर्ण करता हूं अर्थात् स्वर्गादि बडे-बडे विभवोंको प्रदान करता हूं । तात्पर्य यह है, कि यज्ञका फलदाता भी मैं ही हूं पर ये यज्ञादि करनेवाले कामान्ध होकर [ न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ] यथार्थरूपसे मुझको नहीं जानते हैं इसलिये संसारके खड्डेमें आगिरते हैं अर्थात् अज्ञानतावश ये ऐसा नहीं समझते, कि जो कुछ हम करते हैं उसका ग्रहण करनेवाला अधिष्ठातृदेव श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दघन ही है वरु वे तो ऐसा जानते हैं, कि मेरा देव भिन्न है और दूसरे यज्ञ करनेवालोंका देव भी भिन्न है यहां तक, कि अपने देवके

लिये युद्ध करनेको तयार होजाते हैं । प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि उत्सवोंमें भिन्न देवताके पूजनेवाले जब अपने देवकी मूर्त्ति खुले नगरों में निकालते हैं तब नगरके चौररतेपर बडी भीड होती है । एक कहता है, कि मेरे जखइबाबाकी सवारी आगे चलेगी दूसरा कहता है, कि मेरे घुरघुरा बाबाकी सवारी आगे चलेगी वरु इतनी बातपर मारपीट लाठियां चलने लगती हैं । यदि इनको यह बोध होता, कि सबोंका स्वामी सर्वान्तर्यामी एक महेश्वर है भिन्न नहीं है तब ऐसा परस्पर विरोध नहीं करते ।

तात्पर्य यह है, कि अविधिपूर्वक पूजनकरनेवाले ये याज्ञिक इसी कारण संसार-खड्डेमें बारे-बार पतित होकर नाना प्रकारके क्लेशोंको पाते हैं ।

आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द गोलोकविहारी जगतहितकारीके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी ब्रह्मविद्याको जानकर सर्वत्र अभेद-दृष्टिसे निष्काम होकर अग्निहोत्र इत्यादिका सम्पादन करता है वही प्राणी श्रेष्ठ है जैसा, कि श्रुति कहती है— " ॐ अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति " ( छां० उत्त० प्र० ५ खं० २४ श्रु० २ )

अर्थ— जो विद्वान् इस प्रकार सर्वत्र अभेददृष्टिसे ब्रह्मकी ( जो वैश्वानर स्वरूप है ) उपासना करताहुआ यथार्थ हवन करता है तिसका हवन सब लोक, सब भूत और सब आत्मामें पहुंच जाता है अर्थात् उसके हवनसे ब्रह्मकी तृप्ति होनेके कारण लोकलोकान्तर तथा

सब भूतमात्र प्रसन्नताको प्राप्त होते हैं और वह प्राणी स्वयं मोक्ष-पदको पाता है ॥ २४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि हे भगवन्! कौन-कौनसे देवोंके पूजन करनेवाले किस २ गतिको प्राप्त होते हैं? कृपाकर कहो!

भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम्
॥ २५ ॥

**पदच्छेदः—** देवव्रताः ( इन्द्रवसुरुद्रादिषु देवेषु बल्युपहार-प्रदक्षिणाप्रह्वीभावादिरूपेण नियमो भक्तिश्च येषां ते ) देवान् ( उपास्यान ) यान्ति ( गच्छन्ति ) पितृव्रताः ( श्राद्धादि क्रियाभिरग्नि-ष्वात्तादीनां पितॄणामाराधकाः ) पितॄन्, यान्ति, भूतेज्याः ( विनायकमातृगणचतुःषष्ठियोगिन्यादिषु पूजा येषां ते ) भूतानि ( विनायकादीन् ) यान्ति, मद्याजिनः ( मद्यजनशीलाः ) अपि ( निश्चयेन ) माम् ( सर्वेश्वरम् ) यान्ति ( प्रलीयन्ते ) ॥ २५ ॥

**पदार्थः—** ( देवव्रताः ) इन्द्र, वरुण, कुवेर, रुद्र इत्यादि देवताओंके यजन करनेवाले ( देवान् ) अपने-अपने उपास्य देवोंको ( यान्ति ) प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ( पितृव्रताः ) श्राद्धादि द्वारा अग्निष्वात्ता, अर्यमा इत्यादि पितरोंके यजन करनेवाले ( पितॄन् ) तिन पितरोंको ( यान्ति ) प्राप्त होते हैं तथा ( भूतेज्याः )

विनायक, मातृगण और ६४ योगिनी इत्यादिके यजन करनेवाले तथा अग्नि, जल इत्यादि पञ्चभूतोंके पूजनेवाले ( भूतानि ) तिन २ भूतोंको ( यान्ति ) प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ( मद्याजिनः ) मेरी उपासना करनेवाले ( अपि ) भी ( माम् ) मेरे स्वरूपको ( यान्ति ) प्राप्त होते हैं अर्थात् संसार-सागरसे मुक्त हो मुझमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ २५ ॥

**भावार्थः**— अब अर्जुनके पूछनेपर भगवान् भिन्न २ उपासकोंकी गति वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः** ] इन्द्र, वरुण, कुवेर, रुद्र, वसु इत्यादि देवोंके पूजन करनेवाले उन्ही २ देवताओंको प्राप्त होते हैं और अग्निष्वात्ता, अर्यमा, वर्हिषद्, आज्यपा, सोमपा इत्यादि जो मुख्य पितर हैं तथा उनके जो ३१ गण हैं तिनके पूजनेवाले तिनही पितरोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् जो प्राणी जिस देवता वा पितरकी उपासना करता है वह उसीका रूप होकर उसीके लोकमें पहुंच अपने पुण्यकी अवधितक आनन्दपूर्वक उस लोकके सुखोंको भोगता है।

अब उन ३१ गणोंकी गणना पाठकोंके बोधार्थ कीजाती है—

"विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः ।
भूतिदो भूतिकृद् भूतिः पितॄणां ये गणा नव ॥
कल्याणः कल्यता कर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः ।
कल्यताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः ॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा ।

विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः ॥
महान्महात्मा महितो महिमावान्महाबलः ।
गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनः ॥
सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः ।
पितृणां कथ्यते चैतत्तथा गणचतुष्टयम् ॥
एकत्रिंशत् पितृगणाः यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ।
त इमेऽनुतृप्तास्तृप्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥"

( मार्कं० अ० ९६ श्लो० ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८ )

इन श्लोकोंमें जो रेखांकित शब्द हैं वे ही ३१ गणोंके नाम हैं ये सब श्राद्ध द्वारा तृप्त होते हैं ।

बहुतेरे आधुनिक मतमतान्तरवाले देवता और पितर दोनोंको नहीं मानते हैं यह उनकी बहुत बडी भूल है। उस सृष्टिकर्त्ताने नाना प्रकारेके लोकलोकान्तरोंकी रचना की है । ये जितने तारागण आकाशमें प्रकाशित देखपडते हैं सब इस मृत्युलोकके समानही एक-एक लोक हैं । सबोंमें नाना प्रकारके जीव निवास करते हैं । भिन्न२ अलौकिक रचनाओंसे ये सब लोकलोकान्तर विभूषित हैं । इनही लोकोंमें देवता और पितरोंके भी लोक हैं जो बल, बुद्धि, पराक्रम, संस्कार, तेज और नाना प्रकारेकी विभूतियोंमें हमलोगोंसे कहीं श्रेष्ठ हैं । अर्थात् देवताओंका तथा पितरोंका आनन्द हम लोगोंके मानुषी आनन्दसे सहस्रोंगुण अधिक है । जैसे हमलोग पशुओंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और अधिक विशुद्ध संस्कार युक्त हैं इसी प्रकार हमसे मनुष्यगन्धर्व,

मनुष्यगन्धर्वसे देवगन्धर्व और देवगन्धर्वसे पितर अति विशुद्ध और संस्कृत हैं । इसी प्रकार उस ब्रह्मदेवकी रचना इन लोकोंसे भी विशुद्ध है । हमलोगोंमें एक लोकसे दूसरे लोकोंतक जानेकी शक्ति नहीं है पर इन देवता पितरोंको परमात्माने लोकलोकान्तरोंमें विचरनेकी भी अलौकिक शक्ति प्रदान की है ।

शंका— श्राद्धोंमें जो हवि, आहुति तथा भक्ष्य-भोज्य अन्नादि दियेजाते हैं उनको ये पितर ग्रहण करते हुए तो नहीं देखे जाते क्योंकि जितनी वस्तु दीजाती हैं सब ज्योंकी त्यों पडी हुई रहती हैं इसलिये श्राद्धकर्म मिथ्या है।

समाधान— देखो! हस्ती कपित्थका फल खाता है उस फलका सारांश उसके उदरमें चलाजाता है। इस शंकाका समाधान प्रथम अध्यायके श्लोक ४१ में पृष्ठ १६६ से १७८ तक देखलेना ।

अब रहा यह, कि आधुनिक मतवाले पितृकार्यको अवैदिक बताते हैं और कहते हैं, कि श्राद्ध शब्दका अर्थ यह है, कि "श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धम्" अर्थात् श्रद्धायुक्त जो अन्नादि किसीको भी दान दियाजावे उसे "श्राद्ध" कहते हैं । पर यह केवल इस शब्दका मूलार्थ है सो मूलार्थसे कार्य नहीं चलसकता । अर्थात् शब्दोंका यौगिक अर्थ सर्वत्र कार्य नहीं करता जबतक, कि उसका व्यवहृत अर्थ अर्थात् रूढि अर्थ काममें न लाया जावे । जैसे जलज कहनेसे जितने पदार्थ जलसे उत्पन्न होते हैं सब समझे जाते हैं जैसे मछली, कच्छू, सिंवार, घोंघी, शंख, सीप, मोती इत्यादि पर जलजसे इन अर्थोंका

कहीं भी व्यवहार नहीं किया जाता केवल कमलहीका व्यवहार किया-जाता है। इसलिये यद्यपि श्राद्धसे उन सब प्रकारके कर्मों तथा दानादिका बोध होसकता है जो श्रद्धासे किये जावें पर व्यवहारमें तो श्राद्ध शब्दसे वही अर्थ सिद्ध होता है जो पितरोंके लिये किया जावे। इसके अनेक प्रमाण हैं— " अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजाभिः श्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणास्त्वाहवनीयार्थे मासि कार्य-मपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान् " ( मदनपारिजातः ) प्रजाके कल्याणकेलिये श्रीमनुजीने एक ऐसा कर्म उपदेश किया है, कि जिसको श्राद्धके नामसे पुकारते हैं। जैसे सब कर्मोंमें पञ्चदेव तथा अन्य देवता पूजनीय होते हैं इसी प्रकार इस कर्मके पितर ही देवता हैं और जैसे उनकी तृप्तिके लिये अग्निमें हवन इत्यादि किया जाता है इसी प्रकार इन पितरोंकी तृप्तिकेलिये भी विद्वान्, ब्राह्मण, साधु,महात्मा तथा सज्जन पुरुषोंके मुख ही आधार हैं अर्थात् इनके भोजन करानेसे पितरोंकी तृप्ति होती है।

तहां वेदका भी वचन है, कि " ॐ देवान्वै पितॄन् प्रीतान्म-नुष्याः पितरोऽनुप्रीयन्ते " ( कृष्णयजुर्वेद आरण्य० ६ अष्ट० १ अ० ३ अनु० १० ) अर्थात् देवरूप पितरोंके तृप्त होनेसे मनुष्यरूप पितरे भी तृप्त होते हैं।

फिर योगी याज्ञवल्क्यका वचन है, कि " वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः। प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः" ( याज्ञवल्क्य आचारा० श्लो० २६९ )

अर्थ— वसु, रुद्र, अदितिसुत श्राद्धदेवतारूप पितर श्राद्धसे तृप्त होकर मनुष्योंके पितरोंको तृप्त करते हैं। क्योंकि ये मनुष्यरूप पितर देवरूप पितरोंके ज्ञानरूप गर्भमें निवास करते हैं तो जैसे माता भोजनसे तृप्त होकर अपने गर्भके बच्चेको तृप्त करती है इसी प्रकार देवरूप पितर श्राद्धसे आप तृप्त होकर मनुष्यरूप पितरोंको भी तृप्त करते हैं।

बहुतेरे आधुनिकमतावलम्बी स्कन्दपुराणके दो एक श्लोकोंको पढकर यों शंका किया करते हैं—

" मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारकम्।
गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम् ॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धमप्यायते ततः।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य तैलं सम्वर्द्धयेच्छिखाम् ॥"

अर्थ— मरे हुए जीवोंकी तृप्ति यदि श्राद्धसे होती है तो जो किसी देशकी यात्रामें जाते हैं उनके साथ सत्तू संबल बांधदेना वृथा है घरमें श्राद्ध करदो मार्गमें उनका पेट भरजावेगा। यदि मरे हुओं की तृप्ति श्राद्धसे होती हो तो बुती हुई बत्तीमें भी तेल भरदो जल-जावेगी पर ऐसा नहीं होसकता इसलिये इन मरे हुओंकी तृप्ति श्राद्धसे नहीं होसकती।

ऐसी-ऐसी वितण्डावादकी बातें आधुनिकमतवाले किया करते हैं यह उनकी भूल है उन्होंने तृप्ति शब्दका अर्थ ही नहीं समझा है वे अन्न जलसे पेट भरलेनेका अर्थ तृप्त होना समझते हैं ऐसा समझना विद्याहीन होनेका कारण है यदि ऐसे प्राणी संस्कृत विद्या पढें और

शब्दोंका अर्थ ठीक-ठीक समझें तो इस प्रकारकी शंकाएं कदापि उनके हृदयोंमें उत्पन्न न हों ।

इन संस्कृतसे अनभिज्ञ पुरुषोंके लिये तृप्ति शब्दका अर्थ कर-दिया जाता है— " तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन तत्तर्पणम् " । इसलिये जिससे पितरादि तृप्त हों उसे तर्पण कहते हैं श्राद्ध और तर्पण ये दोनों शब्द पितृयज्ञमें रूढि हैं ।

आधुनिक मतवालोंका यह कहना, कि किसीको भी जीवते हुए श्रद्धापूर्वक भोजनसे तृप्त करदेनेको श्राद्ध कहते हैं यह केवल वितण्डावाद है । वस्तुतः मरे हुओंके लिये अन्नादि दान देकर उनको तृप्त करना ही 'श्राद्ध' कहलाता है । तहां फिर शतपथब्राह्मणका प्रमाण है, कि " **शरदि कुर्य्यात् स्वधा वै शरत्स्वधो वै पितृणामन्नम तदेन-मन्नं स्वधया दधाति** " जिसका तात्पर्य यह है, कि शरदऋतुमें पितरोंकी प्रसन्नताकेलिये स्वधा द्वारा अन्नादि दियेजावें । इस शारदी श्राद्धके विषय महर्षि पाणिनिका सूत्र भी साक्षी है, कि " **श्राद्धे शरदः** " ( ३-४-१२ ) इन वचनोंसे सिद्ध है, कि श्राद्ध केवल मृतपितरोंके लिये है जीवित पितरोंको तो सब ऋतुओंमें श्रद्धापूर्वक भोजन करवाना चाहिये यदि जीवित पितरोंको श्रद्धासे खिलादेना ही श्राद्ध कहलाता तो शरदृतुमें क्यों लिखते सब ऋतुओंमें लिखते इसलिये केवल मरे-हुओंहीके लिये श्राद्ध है जीवितके लिये नहीं । यदि जीवित पुरुषोंको श्रद्धासे भोजन कराना भी श्राद्ध कहाजावे तो विवाहादि उत्सवोंमें तो मनुष्य पूर्णश्रद्धाके साथ अपने कुटुम्बियोंको और बारातियोंको भोजन

कराता है तो क्या + विवाहमें भी भोजन कराना श्राद्ध कहाजावेगा ? कदापि नहीं।

यदि शंका हो, कि मृतपितरोंके लिये शारदी श्राद्ध अर्थात् शरद् ऋतु क्यों कहा ? तो कारण यह है, कि शरदृतुमें पितृलोक और यह मर्त्यलोक दोनों एक सीधमें एक दूसरेके सम्मुख होजाते हैं इसलिये मर्त्यलोकके कर्म पितरोंकी दृष्टिमें स्वच्छरूपसे देखपडते हैं।

दूसरा कारण यह है, कि पितृयान दक्षिणायन है इसमें वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतु वर्त्तमान होती हैं इन तीनोंके मध्यमें शरदृतु होती है जब चन्द्रमा अत्यन्त प्रकाशयुक्त हो मर्त्यलोकके सम्मुख आजाता है और उधर सूर्यकी किरणें भी सामने होती हैं। इसलिये दिनमें सूर्यकी किरणें जलको पकाती हैं और रात्रिमें चन्द्रकी किरणें उस जलको शीतल करदेती हैं तो वह जल हंसोदक होजाता है और अगस्त्य नक्षत्रकी किरणें जलके विषको दूर करदेती हैं इस कारण जल अमृतके समान होजाता है और इधर पित्त कुपित होता है इस कारण उत्तम घृत, दुग्ध, माखन, मिश्री इत्यादि द्रव्योंसे ब्राह्मणको तृप्तकर उस जलको पान कराना चाहिये जिसके पीनेसे ब्राह्मणोंके मन और प्राण दोनों सात्विक होजाते हैं। मन और प्राणों के सात्विक और शुद्ध होनेसे भगवत्स्वरूपमें ध्यान जमता है। एवम्प्रकार ध्यानयुक्त हो जो ब्राह्मण गायत्री जपते हैं तथा वेदोंका पाठ वा ऋचाओंका उच्चारण करते हैं इन कर्मोंसे जो पुण्य उत्पन्न होता है उस पुण्यका

+ उचित है कि ऐसी शंका करनेवाले अपने पुत्र पौत्रादिके विवाहको श्राद्धके नामसे पुकारा करें।

दशम अंश पितरोंको प्राप्त होता है जिससे धीरे २ पितर शुभगतिको प्राप्त होते हैं इसलिये सर्वसाधारणको शारदी श्राद्ध करनेकी आज्ञा है।

तीसरा कारण यह है, कि आप्तोंने अर्थात् ऋषि महर्षियोंने शरद्‌ऋतुहीमें पितरोंके श्राद्ध करनेकी आज्ञा दी है इसलिये " **आप्तोपदेशः वचः** " ( न्या० १—७ ) तथा " **स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्** " ( न्या० १--८ ) इन न्यायके वचनोंसे भी आप्तोंका उपदेश मानना ही पडेगा चाहे वह दृष्टार्थ वा अदृष्टार्थ जो हो पर मानना अवश्य है।

**शंका**— श्राद्ध तो केवल शरद् ऋतु ही में नहीं होता जिस दिन प्राणी मृतक होता है उसीके बारहवें दिन वा महीने दिन पीछे श्राद्ध कियाजाता है फिर ब्राह्मणोंके मन और प्राण क्या उस समय सात्विक दशाको प्राप्त हो भगवन्नाम वा वेदका उच्चारण नहीं करते हैं फिर शरद् ऋतुको ही विशेषता क्यों दीगई ? श्राद्ध तो अन्य-कालमें भी कियाजाता है।

**समाधान**— शारदी श्राद्ध सर्वसाधारण पितरोंके लिये है जिनको मृतक हुए चाहे एक मास हुआ हो चाहे १०० वर्ष हुए हों पर जो श्राद्ध तत्क्षण मृतकके उद्धारके लिये कियाजाता है जिसे प्रेतकर्म भी कहते हैं उसका तात्पर्य विशेष होता है अर्थात् प्रेतको पितरोंके लोकमें भेजना रहता है नीच-योनियोंसे तथा संसारके क्लेशोंसे बचाकर उसे पितरलोकके आनन्दको प्राप्त करवानेका तात्पर्य रहता है इसी लिये यह श्राद्ध विशेषरूपसे वृहत् करके कियाजाता है। जिसका प्रमाण वेदोंसे देते हैं— ॐ इदं पितृभ्यो नमोऽस्त्वद्य ये पूर्वासो य

उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता येवान्नं सुवृजनासु विक्षु: ”
( ऋग्वेद अष्ट० ७ अ० ६ वर्ग १७ मण्डल १० अनु १ सूक्त १५ मं० ९ )

अर्थ— जिस समय श्राद्ध कर्ममें मृतपितरोंका आवाहन किया जाता है उस समय यह मंत्र पढाजाता है जिसका अर्थ यह है, कि ( ये पूर्वासः ) जो मुझसे पहले जन्म लियेहुए मेरे पिता वा ज्येष्ठ भ्राता इत्यादि हैं तथा ( उपरासः ) जो मुझसे पीछे जन्म लेनेवाले कनिष्ठ भ्राता वा पुत्रादि ( ईयुः ) मरकर पितृलोकको प्राप्त होगये हैं और जो ( नूनम् ) सदा ( सुवृजनासु विक्षुः ) श्राद्धकर्मनिष्ठावाले वन्धुवर्गोंमें प्रवेश कर ( पार्थिवे रजसि ) इस रजसे बनाईहुई मेरी वेदीपर ( आनिषत्ताः ) आकर उपस्थित हुए हैं तिन सबोंको ( अद्य ) आज इस श्राद्धकर्म करनेके समय ( नमोस्तु ) मेरा नमस्कार पहुंचे।

अर्थात् कर्म करनेवाला पहले आहूत पितरोंको जो अदृष्टरूपसे यज्ञमें आकर प्राप्त होते हैं इस वेदमंत्रसे नमस्कार करता है।

फिर पितृलोकनिवासी पितरोंको नमस्कार करता है तिसका मंत्र यह है—

“ ॐ अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथारयिं सर्ववीरं दधातनः”
( ऋग्वेद अष्ट ६ व० १९ मंत्र १० अनु १ सु० १५ अष्ट० ७ शुक्ल यजुर्वेद अ० १९ मंत्र ५९ )

अर्थ— हे अग्निष्वात्ता नामके पितर ! ( एह गच्छत ) आप यहां इस पितृयज्ञमें आगमन करो और यहां आजानेके पश्चात् ( सुप्र-

णीतयः ) हमलोगोंसे पूज्य होकर ( सदः सदः ) अपने-अपने आसनमें ( सदतः ) आसीन होजाओ पश्चात् ( वर्हिषु ) कुशोंके ऊपर स्थापन कियेहुए जो ( प्रयतानि हवींषि ) पवित्र हविरूप भोजन तिसे (अत्ता) भोजन करके ( नः ) हम लोगोंको ( सर्ववीरं रयिम् ) वीर पुत्रोंके साथ धनसम्पत्तिको ( दधात ) प्रदान करो ।

एवंप्रकार ऋग्, यजु और अथर्व वेदोंमें सैकडों मंत्र श्राद्धके विषय लिखे पडे हैं जिनको देखना हो देखलें । शुक्ल यजु० अध्याय १९ मं० ६०, ६२, ६६ 'येऽग्निदग्धा' 'आच्याजलुदाक्षिणाने' 'त्वमग्न ईडिता" ये तीनों मन्त्र ऋग्वेदमें भी पायेजाते हैं । अथर्व काण्ड १८ प्रपा० ३३ अनु० २ मंत्र ३४ 'ये निषाता ये परिक्षा' ........

इस अथर्ववेदके अठारहवें काण्डमें ३४ प्रपाठकके अन्तर्गत चौथे अनुवाकमें इस काण्डकी समाप्ति तक ४३ से ८० मन्त्र तक श्राद्ध विषय निरूपण कियागया है देखलेना ।

अब आधुनिक नवीन मतवालोंसे कहना चाहिये, कि इन वेदों को देखकर भला कभी पितृयज्ञ तो कियाकरो और अपने पिता माता के लिये जिन्होंने नाना प्रकारके कष्ट सहन करके तुम्हारा पालन किया जिनका ऋण तुम्हारे मस्तकपर है भला तिनके नामपर कुछ अपनी कमाईसे दान पुण्य करके उनको परलोकमें सुख भी तो दो ! तब ही तुम्हारी बुद्धिमानी है नहीं तो तुम्हारी बहुत बडी भूल है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम् ] भूतोंकी उपासना करनेवाले भूतोंको

प्राप्त होते हैं तथा मेरे भजन पूजन करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं । भूत कहनेसे यहां भगवान्‌के दो तात्पर्य हैं विनायक मातृगणके साथ ६४ योगिनियोंसे तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी इन पांच भूतोंसे भी ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इनके पूजनेवाले इनको ही प्राप्त होते हैं और मेरे भजन करनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं अन्य किसी देवता देवीको नहीं ।

यहां भगवान्‌ने पहले सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके भजनोंको दिखलातेहुए फिर सर्वगुणरहित निर्मल निर्विकार परमेश्वरका भजन दिखलाकर चारों प्रकारके भजन करनेवालोंकी गति स्पष्टरूपसे दिखलादी । अर्थात् इन्द्रादि देवताओंके भजन करनेवाले सात्विक, पितरोंके भजन करनेवाले राजस और यक्ष, राक्षस, विनायक, योगिनी इत्यादिके भजन करनेवाले तामस होते हैं और ये सब सकाम होते हैं पर इनसे अतिरिक्त जो चौथे हैं वे सर्वोत्तम निष्काम होकर केवल भगवत्‌के भजन करनेवाले हैं वे ही भगवत्‌को प्राप्त होते हैं अन्य किसी प्रकारकी कामना उनके हृदयोंमें नहीं होती ।

इसी कारण आनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि मेरे भजन करनेवाले मुझहीको प्राप्त होते हैं वे अन्य उपासकोंके समान लौटकर फिर संसारगर्तमें नहीं गिरते वरु सदा मेरे संग आनंन्दपूर्वक समय बिताते हैं और अखराड नित्य सुखको प्राप्त होते हैं जो सुख इन्द्र, वरुण इत्यादिको भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि इन्द्रादि देवता वारम्बार अधिक द्रव्य व्ययकर पूजन करनेपर भी प्रसन्न नहीं होते वर्षा मांगने वालोंको समयपर वर्षा नहीं देते तब कब सम्भव है ? कि तुम जो सर्वदेवोंके नायक हो थोडे द्रव्य व्यय करनेसे प्रसन्न होगे तुम्हारेलिये तो पुष्कल द्रव्य व्यय होना चाहिये फिर धनहीन साधारणपुरुषोंको तुम कैसे प्राप्त होगे ?

इतना सुन भगवान् बोले नहीं! नहीं!! अर्जुन! ऐसा मत समझ सुन—

**मू०— पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥**

**पदच्छेदः—** यः ( कश्चिदपि ) मे ( परमेश्वराय ) भक्त्या ( प्रीत्या ) पत्रम् ( पर्णम । दलम ) पुष्पम् ( प्रसुनम् ) फलम ( वृक्षादीनां प्रसवशस्यम ) तोयम ( जलम् ) प्रयच्छति ( अर्पयति ) प्रयतात्मनः (शुद्धबुद्धेः) भक्त्युपहृतम् (प्रीत्या समर्पितम् ) तत् ( पत्रादिकम् ) अहम् ( वासुदेवः ) अश्नामि ( अशनवत् प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामि ) ॥ २६ ॥

**पदार्थः—** ( यः ) जो कोई प्राणी ( मे ) मुझ परमेश्वरके लिये ( भक्त्या ) प्रीतिपूर्वक ( पत्रम् ) विल्वपत्र वा तुलसी इत्यादि किसी प्रकारका पत्र ( पुष्पम् ) किसी प्रकारका फूल ( फलम् ) किसी प्रकारका फल ( तोयम ) अथवा केवल जल ही ( प्रयच्छति ) देता है अर्थात् अर्पण करता है ( प्रयतात्मनः )

तिस शुद्धबुद्धिवाले भक्तके ( भक्त्युपहृतम् ) प्रीतिपूर्वक समर्पण कियेहुए ( तत ) तिस पदार्थको ( अहम् ) मैं सर्वेश्वर ( अश्नामि ग्रहणकर प्रसन्न होता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके प्रश्नका यों उत्तर देते-हुए कहते हैं, कि मेरी उपासनाके लिये अधिक परिश्रम वा द्रव्यकी आवश्यकता नहीं है मैं बिना किसी प्रकारके आयाससे ही थोडेमें प्रसन्न होजाता हूं सो सुन! [ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ] पत्ता, फूल, फल अथवा केवल जल जो बिना परिश्र-मके अत्यन्त स्वल्प व्ययसे वा बिना व्ययके प्राप्त होनेवाले हैं तिन साधारण वस्तुओंको जो प्राणी मेरे लिये प्रीतिपूर्वक अर्पण करता है अर्थात् बडी नम्रतासे दीन होकर हृदयको प्रीतिसे आर्द्रकर ऐसा मनमें स्मरण करताहुआ, कि "हे भगवन्! मैं किसी योग्य नहीं हूं मुझसे आप परमप्रभुकी सेवा किसी प्रकार नहीं बनआती; बडी लज्जाके साथ यह पत्र, यह पुष्प, यह फल और यह जल सामने लाया हूं यद्यपि इनके समर्पणमें मुझे लज्जा आती है क्योंकि सूर्यको दीपक दिखानेके समान तुम त्रिलोकीनाथ सर्वभूतिसम्पन्नके सम्मुख यह मेरा पत्ता, फूल, फल और जल लाना अत्यन्त मूर्खता है पर तुम अन्तर्यामी हो सबके हृदयके जाननेवाले हो अतएव मेरे हृदयकी बातें जानकर और मेरी दशा देखकर इन तुच्छ पदार्थोंको ग्रहण करो और अपने चरणकमलकी प्रीति प्रदान करो।"

अब भगवान् कहते हैं, कि [ तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ] एवम्प्रकार जो संयतात्मा भक्तिपूर्वक मेरेलिये ऐसी

तुच्छ वस्तु भी अर्पण करता है उसे मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् उसपर प्रसन्न होजाता हूं ।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य यह है, कि भावसे जो मेरेलिये शाकादि अर्पण करता है मैं उसे स्वीकार करलेता हूं पर कुभावसे चाहे लाखोंमन मेवा, मिश्री, पक्वान्न, मिष्टान्न क्यों न मेरे आगे ला धरे मैं सबोंसे मुंह मोडलेता हूं और उन सब पदार्थोंको तृण समान जान उनकी ओर दृष्टि उठाकर अवलोकन भी नहीं करता ।

पाठक गण ! इसे भलीभांति विचारकर देखेंगे, कि भगवान्‌ने द्रौपदीके शाक, विदुरपत्नीके रम्भाफलके छिलकेको तथा सुदामाके तण्डुलको किस भावसे ग्रहण किया है । और इसी वचनको अर्थात् " पत्रं पुष्पं फलं तोयम् ............ " को ज्योंका त्यों सुदामाको कहसुनाया ( देखो श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध अ० ८१ श्लो० ४ ) तहां सुदामाके तण्डुल अपने हाथसे खैंचकर केवल एक मुष्टिमात्र ग्रहण करे पुष्कल सम्पदा प्रदान करदी है और सुदामासे यह भी कहा कि " अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् । भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ नन्वेतदुपनीतं परमप्रीणनं सखे ! । तर्पयन्त्यंग मां विश्वमेते पृथुक तंडुलाः " ( श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ८१ श्लो० ३, ९ )

अर्थात् भगवान्‌ने सुदामासे मिलकर जब ऐसा कहा, कि घरसे कुछ थोडी बहुत भेट मेरे लिये लाये हो तो दो मैं खाऊं उस समय सुदामाने तण्डुल देनेमें लज्जित हो मस्तक नीचे झुकालिया तब

भगवान्‌ने अपने हाथसे तण्डुलकी गठरी खींचली और उसी समय सुदामासे कहा, कि हे सखे ! जो हमारे भक्त हैं उनकी अर्पणाकीहुई थोडीसी भी वस्तु मेरे लिये बहुत होजाती है और भक्तिरहितकी बहुतसी भी वस्तु मेरे लिये सन्तोषदायक नहीं होती । हे सखे ! मैं सत्य कहता हूं यह लायीहुई चांवलोंकी फरही मेरेको अत्यन्त प्यारी है और आनन्द देनेवाली है। हे मित्र ! इतना ही नहीं वरु ये पृथुक तण्डुल मेरेको और मेरे आश्रय रहनेवाले सारे संसारको तृप्त करनेवाले हैं ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि भक्तोंके समर्पण कियेहुए थोडे ही पदार्थसे भगवान् प्रसन्न होजाते हैं । बहुतेरे आधुनिक पाखण्डी जिन के मस्तकमें लम्बा चौडा तिलक तथा त्रिपुण्ड खिंचाहुआ, गलेमें सेर सवासेर माला, निर्मल वेष बनाये हुए रात्रिको गुप्तरूपसे वेश्याओंके घरमें विहार करते, चोरी जारीमें परम प्रवीण संसारको धोखा देनेवाले, विचक्षण धूर्त प्रातःकाल उठकर घंटों तक घंटा बजाते और पत्र पुष्पादि बडे सुन्दर और निर्मल फूलदानसे भरे मन्दिरोंमें भगवान्‌के अर्पण करते फिरते हैं ।

जिनके विषय गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं, कि " जे जन्मे कलिकाल कराला । कर्तव वायस वेष मराला ॥ " ऐसे पाखण्डी भक्तोंके पत्र पुष्पको भगवान् कदापि ग्रहण नहीं कर-सकते इसलिये इस श्लोकके अन्तमें भगवान्‌ने " प्रयतात्मनः " शब्दका प्रयोग किया है । जिसका अर्थ शंकर भगवान् यों करते हैं, कि " शुद्धबुद्धेः " अर्थात् ऐसा भक्त जो शुद्धबुद्धिवाला है जिसने

सर्व प्रकारके विषयोंकी कामनाओंको परित्याग किया है और एकमात्र भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा कररखी है ऐसेके पत्र पुष्पादिको भगवान् मणि माणिक्यसे भी अधिक अमूल्य समझकर स्वीकार करते हैं।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ यहां पत्र पुष्पादिके विषय कुछ विशेष विचार किया जाता है—

" अपामार्गस्य प्रथमं तस्माद् भृङ्गारकं परम्।
तस्मात्तु खादिरं श्रेष्ठं ततश्च शमिपत्रकम्।
दूर्वापत्रं ततः श्रेष्ठं ततोऽपि कुशपत्रकम् ॥
पत्रं तस्माद्दमनकं ततो बिल्वस्य पत्रकम्।
बिल्वपत्रादपि हरेस्तुलसीपत्रमुत्तमम् ॥
एतेषाञ्च यथालब्धैः पत्रैर्वा योऽर्चयेद्धरिम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥ "

( नारसिंहे अध्याय ५२ )

अर्थ— विष्णु भगवानके प्रति किस पत्रसे किस पत्रके अर्पणमें विशेषता है सो कहते हैं, कि अपामार्ग ( चिरचिरी ) का पत्ता प्रथम ग्रहण किया गया है, इससे भृङ्गारक ( पद्मराग भंगेरिया ) का पत्र श्रेष्ठ है, तिससे खदिर ( कत्था ) तिससे श्रेष्ठ शमी ( अग्निगर्भ ) का पत्र, तिससे अधिक दूर्वापत्र ( दूब ) तिससे श्रेष्ठ दमनक ( गंधोत्कट ) का पत्र, तिससे बिल्वपत्र ( बीलका पत्र ) और तिससे भी श्रेष्ठ तुलसीका पत्र वर्णन किया गया है। इन पत्रोंमें जो पत्र जिस

समय लाभ होजावे उसीको लेकर भगवत्को अर्पण करनेसे प्राणी सब, पापोंसे छूटकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है। ( यह नृसिंह पुराण अ० ५२ में लिखाहुआ है )

अब पुष्पोंके विषय लिखाजाता है, कि कौन २ पुष्प भगवान केशवके पूजनेमें श्रेष्ठ हैं—

" मालती मल्लिका चैव यूथिका चातिमुक्तकः ।
पाटला करवीरञ्च जया सेवतिरेव च ॥
कुब्जकस्त्वगरुश्चैव कर्णिकारः कुरुण्टकः ।
चम्पकस्तगरः कुन्दो वाणी वर्वरमल्लिका ॥
अशोकस्तिलकश्चम्पस्तथा चैवाटरूपकः ।
अमी पुष्पप्रकारास्तु शस्ताः केशवपूजने ।
केतकीपत्रपुष्पञ्च पुष्पं भृंगारेकस्य च ॥
तुलस्यामलकी चैव सद्यस्तुष्टिकरं हरेः ।
पद्मान्यम्बुसमुत्थानि रक्तनीले तथोत्पले ॥
सितोत्पलञ्च कृष्णस्य दयितानि सदा नृप ।
तानि पुष्पाणि देयानि विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ "

( अग्निपुराणम् )

अर्थ— मालती, मल्लिका, यूथिका ( जूही ) अतिमुक्तक, पाटला ( गुलाब ) करवीर, जया, सेवती, कुब्जक, अगर, कर्णिकार ( कनेर ) कुरुण्टक, चम्पक, तगर, कुन्द, वाणी, वर्वरमल्लिका इत्यादि पवित्र फूल भगवच्चरणोंमें अर्पण करने योग्य हैं ।

अब फलोंके विषय कहते हैं—

"भक्ष्याणि यानि पेयानि भोज्यान्यभिमतानि च ।
फलञ्च वल्लभं यच्च तद्देयंहि जनार्दने ॥"

अर्थ— यह अग्निपुराणका वचन है, कि जो फल भक्ष्य है जैसे तर्बूज, खर्बूज, काकडी, सेव, नासपाती, अमरूद, इत्यादि तथा जो फल पेय हैं जैसे आम, अंगूर, शहतूत, फालसा और जो भोज्य हैं जैसे सीताफल, लीची, मकोय इत्यादि तथा जिनफलोंके खानेकी सम्मति है और जो फल खानेमें प्रिय हों ऐसे फलोंको भगवान्के निमित्त अर्पण करना चाहिये ॥ २६ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें अर्जुनके प्रति यह कहते हैं, कि केवल पत्र पुष्पही नहीं वरु इनसे भी इतर यदि कोई खाने, पीने वा पहननेका पदार्थ तेरे पास हो अथवा जो कुछ भी तू कर्म करे सब मेरेहीको अर्पण करदियाकर !

मू०— यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— [ हे ] कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्रार्जुन ! ) यत् ( स्वभावतः शास्त्रतो या यत्किञ्चिद्गमनादि तथा नामकीर्तनादिक्रिया ) करोषि ( उत्पादयसि ) यत् ( मिष्टान्नं वा कन्दमूलादिकम् ) अश्नासि ( भक्षयसि ) यत्, जुहोषि ( शास्त्रबलान्नित्यमग्निहोत्रादिकं निर्वर्तयसि ) यत् ( अन्नादि ) ददासि ( अतिथिब्राह्म-

णादिभ्यो यच्छसि ) यत्, तपस्यसि ( चान्द्रायणादिव्रतं चरसि ) तत ( सर्वं लौकिकं वैदिकं वा ) मदर्पणम् ( मयि वासुदेवे अर्पितं यथा भवति ) [ तथा ] कुरुष्व ( सम्पादय ) ॥ २७ ॥

**पदार्थः**— ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( यत ) स्वभावानुसार अथवा शास्त्रानुसार जो कुछ ( करोषि ) तू करता है ( यत् ) जो कुछ ( अश्नासि ) खाता पीता है तथा ( यत ) जो कुछ ( जुहोषि ) शास्त्रानुसार अग्निहोत्रादि करता है तथा ( यत ) जो कुछ ( ददासि ) अतिथि वा ब्राह्मणोंको अन्न देता है तथा ( यत्तपस्यसि ) जो कुछ चान्द्रायण तथा मौनादि व्रत तू सम्पादन करता है ( तत् ) तिसे ( मदर्पणम् ) मेरे नामपर अर्पण ( कुरुष्व ) करेदियाकरे ॥२७॥

**भावार्थः**— अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जब मेरा भक्त मुझे पत्र पुष्प अर्पण कर मेरी कृपाका पात्र होजाता है तो यदि वह अपना सर्वस्व भी मुझे अर्पण करदे तो तू विचार कर देख! कि वह मेरा कितना प्रिय होगा और जब मैं उसके घासपातको स्वीकार कर लेता हूं तो फिर ऐसी कौनसी वस्तु है! जिसे मैं स्वीकार नहीं कर-लूगा सो तू निश्चय जान! कि मेरे भक्तके पास वहुत कुछ है पहले तो सबसे प्रिय उसके पास अपना आत्मा है अर्थात् वह स्वयं आप है यदि वह आत्मसमर्पण करदे और किसी प्रकारकी कामना न रखे तो मैं उससे मिलनेमें क्या कुछ भी विलम्ब कर सकता हूं ? कदापि नहीं !

मुख्य तात्पर्य यह है, कि हे अर्जुन ! यदि तू आत्मसमर्पण करदे तो मैं क्या तुझसे एक पलमात्र भी विलग रह सकता हूं ' कदापि

नहीं' सो आत्म समर्पण क्या है? सुन! [ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! जो कुछ तू गमनादि करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है और [ यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ] जो कुछ तू तपस्या करता है तिसे तू मुझमें अर्पण करदे ! ऐसा करनेसे तेरी गमनादि क्रिया सब मुझमें अर्पण कीहुई समझी जावेंगी। इसी प्रकार जो कुछ तू बोलता है उसे ऐसा समझ, कि सब भगवत्के ही नाम हैं और उन्हींके यश हैं। इसी प्रकार 'यदश्नासि' जो कुछ भी तू भोजन करता है चाहे वे मिष्टान्नादि हों चाहे कन्द, मूल, फलादि हों पर तू ऐसा ध्यान करले, कि ये सब कुछ उसी महाप्रभुकी बनायी हुई और दीहुई हैं इसलिये भगवान्के इन सब पदार्थोंको भोजन करलेनेके पश्चात् फिर जो उच्छिष्ट बचजाता है वह मैं भोजन करता हूं एवम्प्रकार विचार करलेनेके पश्चात् भोजन करनेसे सब भोजनके पदार्थ भगवत्को अर्पण कियेहुए समझे जावेंगे। इसी प्रकार 'यज्जुहोषि' जो कुछ हवनादि क्रियाका तू सम्पादन करता है अर्थात् दर्श, पौर्णमासादि, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोमादि अथवा साधारण नित्य हवनादि क्रियाओंका तू सम्पादन करता है सब मुझमें अर्पण कियाहुआ समझ ! अर्थात् ऐसा मत समझ, कि तूने ही इन श्रेष्ठ कर्मोंका सम्पादन किया है इसलिये इनके फल स्वर्गादि लोकोंके सुख तुझे ही प्राप्त हों। वरु ऐसा समझ, कि इन सब क्रियाओंके फल भगवत्को स्वीकार होवें क्योंकि सब उसीके हैं मेरा कुछ नहीं इसलिये इन सब कर्मोंके फल भगवत्में अर्पणहोजावें।

इसी प्रकार " ददासि यत् " जो कुछ तू अन्नादि, गो, महिष इत्यादि यथाशक्ति ब्राह्मण वा अतिथियोंको देता है सो ऐसा मत समझ, कि तूने ही दिया है वरु ऐसा समझ, कि कोई भी किसीको न कुछ देता है और न दिलवाता है सब भगवत्के अधीन है भगवत् ही देता है वा दिलवाता है इसलिये ये सब भगवत्को अर्पण होजावें ।

इसी प्रकार " यत्तपस्यसि " जो कुछ तू तप करता है अर्थात् चान्द्रायण, कृच्छ्रचान्द्रायण, मौन इत्यादि अथवा इन्द्रियनिग्रह इत्यादि तथा मन और इन्द्रियोंको एकाग्र कर भिन्न २ तत्वोंका विचारादि करता है तिनके विषय तू ऐसा मत समझ, कि तू बहुत बडा तप करनेवाला है और अपने तपोवलसे मोक्षको प्राप्त करजावेगा वरु इन सर्वप्रकारके परिश्रमोंको करेताहुआ भी तू " ऐसा समझता रह, कि तू कुछ नहीं करता ये जो कुछ कर्म तुझसे होरहे हैं सब भगवत् ही की महिमा है "। इन सबोंके यदि कुछ फल वा सिद्धियां हैं तो सब उसीकी हैं । जैसे किसी राजाका भृत्य वा कटक युद्ध करता है सो तो वह अपने लिये नहीं करता । क्योंकि उस युद्धद्वारा जो कुछ देश हाथ आता है वह राजाका होता है ।

इसी प्रकार भगवत्ने वेदोंके द्वारा जो कुछ आज्ञा दी है उस आज्ञाका पालनमात्र करनेवाला है न कि उनके फलोंसे तुझे कुछ तात्पर्य है । ऐसा विचार करने ही से हे अर्जुन! जो कुछ तू तपादिका सम्पादन करेगा सब मुझ भगवत्को अर्पण होजावेंगे । इसीलिये मैं तुझको कहता हूं, कि जो कुछ तेरी आत्मा और शरीरसे बन आवे

" तत्कुरुष्व मदर्पणम् " वह सर्व कर्म-धर्म तू मुझ महेश्वरको ही अर्पण करदे ।

ऐसा कहकर श्री गोलोकविहारी मदनमुरारि गिरिवरधारीने संसारको उपदेश करदिया, कि हमारे भक्त जो कुछ करें—धरें सब मुझमें अर्पण करते चले जावें । फिर उनके भले बुरेका मैं देखनेवाला हूं उनको स्वयं अपनी चिन्ता करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है । उनका मुख्य कार्य यही है, कि सब कुछ करते हुए आप कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर अहर्निश मेरे स्वरूपमें मग्न रहें। मैं पहले प्रतिज्ञा भी कर आया हूं, कि उनका योग-क्षेम मेरे हाथ है ।

अर्पण शब्दका साहित्यदर्पणवालेने यही अर्थ किया है, इसी कारण यह सिद्ध है, कि जो एवम्प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दको अपना सर्वस्व समर्पण कर उनको ही भजता है उसीको सर्व सिद्धियोंका लाभ कहना चाहिये ।

"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य, एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति ।
तं पीठस्थं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्ययुक्ताः संयजन्ते न कामात् ।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदैव ॥

( गोपा० पू० ता० उप० श्रु० ३, ४, ५ )

अर्थ— वह जो एक है सबको अपने वशमें रखनेवाला है, सब ठौर है, सबोंसे स्तुति किये जाने योग्य है जो एकसे बहुत है।

भासता है ऐसे विष्णुपीठस्थित श्यामसुन्दर सच्चिदानन्दको जो धीर पुरुष भजते हैं उनहीको अटल सुखकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं ।

जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है जो बहुतोंका एक ही है और जो सर्वकामनाओंका देनेवाला है ऐसे विष्णुपीठस्थ नारायणको जो धीर यजन करते हैं उनहीको सिद्धिका लाभ है दूसरोंको नहीं ।

ऐसे विष्णुपरमपदको जो नित्ययुक्त होकर निरन्तर कामनारहित होकर यजन करते हैं अर्थात् सर्वकर्मोंको भगवत् अर्पण करदेते हैं उनहीके हृदयोंमें श्रीकृष्णभगवान् आत्मपदका प्रकाश करदेता है ॥ २७

अब श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एवम्प्रकार आत्मसमर्पण कर भजन करनेका महत्त्व अगले श्लोकमें कहते हैं—

**मू०— शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।**

**सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८**

पदच्छेदः— एवम् ( भगवदर्पणबुद्धया सर्वकर्मकुर्वतः ) कर्मबन्धनैः ( बन्धनरूपैः कर्मभिः ) शुभाशुभफलैः ( संसारगर्त्तपतिते देहे सुखदुःखपरिणामरूपैः ) मोक्ष्यसे ( मुक्तो भविष्यसि ) [ अनेन-प्रकारेण ] विमुक्तः ( कर्मबन्धनरहितः ) [सन् ] सन्न्यासयोगयुक्तात्मा ( सर्वकर्मणां भगवति समर्पणमेव सन्न्यासयोगस्तेन संशोधित आत्मा अन्तःकरणं यस्य स त्वम् ) माम् ( वासुदेवम् ) उपैष्यसि ( प्राप्स्यसि । साक्षात्करिष्यसि वा ॥ २८ ॥

पदार्थः— ( एवम् ) इसप्रकार जैसा, कि पूर्वश्लोकमें कथन कियागया है ऐसे भगवत्में सर्वकर्मोंके अर्पण करदेनेसे ( कर्मबन्धनैः ) कर्मोंके बन्धरूप ( शुभाशुभफलैः ) शुभाशुभफलोंसे ( मोक्ष्यसे ) तू छूट जावेगा एवम्प्रकार ( विमुक्तः ) कर्मबन्धनसे मुक्त होकर ( सन्न्यासयोगयुक्तात्मा ) सन्न्यासयोग अर्थात् भगवत्में सब कर्मोंके अर्पण करदेनेसे जो कर्मोंका त्यागरूप सन्न्यास है तिससे युक्त है आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसका ऐसा जो तू सो ( माम् ) मुझ वासुदेवको ( उपैष्यसि ) प्राप्त करलेगा अर्थात् मुझमें आमिलेगा ॥ २८ ॥

भावार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द अपनेमें सब कर्मोंको समर्पण करनेका फल वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन! [ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ] उक्त प्रकार यजन करनेसे तू शुभाशुभकर्मरूप बन्धनसे मुक्त होजावेगा अर्थात् फूल—पत्ती हो, मणिमाणिक्य हो, अन्न-जल हो अथवा शास्त्रानुसार इष्टापूर्त्त, कृच्छ्र, मौन इत्यादि व्रत हो कुछ भी क्यों न हो जो प्राणी मेरेमें अर्पण करदेता है वह नाना प्रकारके सुखदुःखरूप जो शुभाशुभ कर्मोंके फल हैं तिनसे छूटजाता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! [ सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ] सन्न्यासयोगयुक्तात्मा तू इस संसारसे मुक्त होकर मुझहीको प्राप्त होगा । यहां भगवान्ने केवल अर्जुनके मिससे ब्रह्माण्डमात्रके भक्तोंको यह उपदेश किया और दिखादिया, कि ' सन्न्यासयोग ' जो निष्कामकर्मके फलोंको मेरेमें समर्पण

करना है उससे युक्तहोकर जिस प्राणीका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण विशुद्ध होरहा है वही प्राणी यथार्थ 'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' अथवा 'त्यक्तकर्मा' कहलाता है।

आनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू इसी प्रकार योगयुक्तात्मा होताहुआ और 'विमुक्तः' सर्व शुभाशुभकर्मबन्धनोंसे छूटताहुआ अन्तमें 'मामुपैष्यसि' मुझको प्राप्त होजावेगा।

मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यह है, कि अर्जुनके समान जितने भगवद्भक्त त्यक्तकर्मा होकर पवित्रात्मा होरहे हैं सब भगवत्में अवश्य जा मिलेंगे। कर्मबन्धन उनको रंचकमात्र भी बाधा नहीं करेगा ॥ २८ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की— हे भगवन्! जब तुम भक्तोंको एवम्प्रकार प्राप्त होतेहो और अभक्तोंकी किसी वस्तुको ग्रहण न करके उनसे दूर फटकते हो तब तो तुममें भी साधारण मनुष्योंके समान रागद्वेष पायेजाते हैं सो ऐसा क्यों?

इतना सुन भगवान् बोले—

मु०— समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— अहम् ( वासुदेवः ) सर्वभूतेषु ( सर्वेषु प्राणिषु ) समः ( तुल्यः ) मे, द्वेष्यः ( द्वेषविषयः ) न, अस्ति, प्रियः ( रागविषयः ) [ अपि ] न [ अस्ति ] ये, तु, भक्त्या ( सर्वकर्मसमर्पणारूपया भक्त्या ) माम् ( ईश्वरम् ) भजन्ति ( सेवन्ते ) ते, मयि

( सच्चिदानन्दस्वरूपे ) [ वर्त्तन्ते ] च ( तथा ) अहम्, अपि, तेषु ( तदीयचित्तवृत्तौ ) [ वर्ते ] ॥ २६ ॥

पदार्थः— ( अहम् ) मैं जो साक्षात् वासुदेव स्वरूप सो ( सर्वभूतेषु ) सब प्राणियोंमें ( समः ) रागद्वेषरहित होकर समानरूपसे वर्त्तमान हूं ( मे, द्वेष्यः ) मेरे लिये कोई द्वेष करने योग्य प्राणी ( न, अस्ति ) नहीं है तथा ( प्रियः न ) कोई मेरा प्रिय भी नहीं है ( ये, तु ) तो भी जो प्राणी ( भक्त्या ) भक्तिपूर्वक ( माम् ) मुझ ईश्वरको ( भजन्ति ) भजते हैं ( ते, मयि ) वे सदा मुझमें वर्त्तमान रहते हैं ( च ) तथा ( अहमपि ) मैं भी विशेषकर ( तेषु ) तिन भक्तोंके हृदयमें वर्त्तमान रहता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि हे भगवन्! क्या तुममें भी राग और द्वेष पाये जाते हैं ? इस शंकाकेनिवारणार्थ जगत-हितकारी सर्वजनहृदयविहारी मुसकराते हुए कहते हैं, कि [ **समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः** ] सभी प्राणियोंमें मैं समान हूं मेरा न कोई प्यारा है और न कोई मेरा द्वेषी है। तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने देवता, देवी, गन्धर्व, नाग, किन्नर, यक्ष, रक्ष, विनायक, भूत, प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य इत्यादि हैं तिन सब प्राणियोंमें मैं समानरूपसे वर्त्तमान हूं अर्थात् मेरा परमप्रकाशस्वरूप सबोंमें एक रस वर्त्तमान है । क्योंकि यदि मैं उनमें न होऊँ तो उनसे जो भिन्न २ विचित्र कार्य्य होरहे हैं सो कदापि न होसकेंगे। ब्रह्मादि देवोंको कौन गिने? उनमें तो मेरी शक्ति

विशेष वर्त्तमान ही हैं। यह तो सबोंपर प्रकट है, कि ब्रह्मामें मैं ही हूं जो सारी सृष्टिको रचता हूं, विष्णुमें मैं ही हूं जो संसारका पालन करता हूं तथा शिवमें मैं ही अपनी शक्तिसे सारे ब्रह्माण्डका संहार करता हूं, वायुमें सुखानेवाली, अग्निमें जलानेवाली, जलमें गलानेवाली, और पृथ्वीमें उपजानेवाली शक्तियां भी मेरी ही हैं। फिर देखो इन्द्र होकर मैंही वर्षा कर मेघोंमें गरज, बिजलीमें तरज, रागोंमें परज, स्वरोंमें षड्ज और जलोंमें जलज मैंही हूं। देखो! पक्षियोंमें पर मारनेवाली तथा आकाशमें दूर-दूर उडजाने वाली शक्ति मेरीही है। देखो! एक छोटासा कीट जिसे मकडा कहते हैं उसमें दिन-रात सूत निकालनेकी तथा तिस सूतसे एक अद्भुत जाल बना लेनेकी शक्ति है वह भी मेरी है। क्योंकि उसी मेरी शक्ति द्वारा वह ऐसी चतुराईसे एक जाल बुनता है जिसकी गोलाई और जिसकी त्रिज्या, केन्द्रसे एक समान दीख पडती है। मनुष्यसे नहीं होसकता, कि उस प्रकारका जाल वैसे पतले सूत से बनाकर किसी स्थानमें स्थिर करसके। फिर देखो, मधुमक्षिकाएं किस प्रकार एक छत्ता बनाती हैं, कि जो बडे बडे कारीगरोंसे भी नहीं बनसकता।

देखो! बुलबुलोंमें चहकना, भिन्न-भिन्न पशुओंमें अर्थात् मृगा में चौकडी भरना, हंसमें दूध पानीका विलग करदेना इत्यादि विचित्र शक्तियां जितनी हैं सब मेरी ही हैं।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि यदि मैं सबोंमें समानरूपसे निवास करके उनकी सहायता न करूं तो किसी

कीट पतंगकी रक्षा नहीं होसकती। देखो ! क्षुधा पिपासा, निद्रा काम, क्रोध, स्वरक्षा ( अपनी रक्षा करनेकी शक्ति ) इत्यादि सर्वोंमें समान है। नित्य सब जीवोंकी क्षुधाकी शान्ति मैं समानरूपसे कर-देताहूं। एक कीट वा पतंग भी मेरी सृष्टिमें भूखा प्यासा नहीं रहता रात्रिको खा-पीकर सब जीव शयन कर सुषुप्तिका आनंद समानरूपसे भोगते हैं।

इनके देखनेसे यह प्रत्यक्ष होता है, कि भगवत् सबोंमें एक समान है। यदि उसे राग-द्वेष हो तो सर्वोंकी क्षुधा पिपासा की शान्ति अन्न जलके द्वारा समानरूपसे न होती। किसीको भूखा मारडालता किसीको भरपेट खिलादेता पर ऐसी विषमता वह कभी नहीं करता।

जैसे सूर्य्यकी किरणें सब छोटे-बडे धनी और दरिद्रके घरपर समानरूपसे पडती हैं पर जिसने अपने घरका द्वार पूर्व दिशाकी ओर बना रखा है उसके घरमें सूर्य्यका प्रकाश पहलेही पहुंचता है और कुछ अधिक पहुंचता है तथा शीतकालमें उसे कुछ अधिक लाभ होता है। फिर जैसे अग्निमें ताप सबोंके लिये समान है पर जो अग्निके समीपस्थ है उसे शीत कमी सताता है। जैसे चुम्बक पर्वत सर्वप्रकारके लोहको खींचनेमें समान है पर जो लौह उसके सम्मुख और समीप करदिया जाता है उसे शीघ्र अपनी ओर खींचलेता है इसी प्रकार भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि मैं सबोंमें समान हूं पर जो सर्वकर्मधर्म समर्पण करके मेरे समीप अपनेको करदेता

है उसे मेरा साक्षात्कार शीघ्र होता है । जैसे वर्षा सर्वत्र समान रूपसे जल छोडती है पर जो पृथ्वी गहरी होती है उसमें जल स्थिर होजाता है और उत्थल पृथ्वीसे इधर-उधर, छितर-बितर होजाता है ऐसी प्रकृति है अर्थात् जलको पृथ्वीसे राग-द्वेष नहीं है पर पृथ्वी की अपनी गहराई उंचाईसे जलकी विषमता देखपडती है इसी प्रकार भगवत्को किसीसे राग द्वेष नहीं है पर भक्त अभक्त दोनोंके हृदयकी समता वा विषमता अर्थात् भगवत्के सम्मुख और विमुख होनेका गुण दोष है पर भगवत्को राग द्वेष नहीं । इससे सिद्ध होता है, कि यह विषमता भगवत्में नहीं है वरु प्राणियोंमें उनकी मनोवृत्तिकी विषमताके कारण यह विषमता दीख पडती है सो प्राणियोंका अपना दोष है भगवत्में तो कोई दोष नहीं है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं सब प्राणियोंमें समानरूपसे स्थित हूं और "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" न मेरा कोई द्वेषी है और न कोई प्रिय है अर्थात् जैसे साधारण प्राकृत मनुष्योंमें शत्रु मित्रके कारण राग द्वेष होता है ऐसे मुझे किसीसे रागद्वेष नहीं है । जैसे दस प्रकारके काचलगे हुए लालटेनमें बत्ती जो जलती है उसका प्रकाश सब काचोंकी ओर समानरूपसे है पर लाल काचकी ओरसे लालप्रकाश, कालेकी ओरसे काला प्रकाश, नीलेकी ओरसे नीला प्रकाश निकलता है और जिधर केवल टीनका ढाप लगा रहता है उधरसे अंधेला होता है । प्रकाश कुछ भी नहीं होता । यद्यपि जलती हुई बत्तीका प्रकाश सब ओर समान है पर द्रव्योंकी विषमतासे प्रकाशमें विषमता भासती है । फिर जैसे सूर्यका प्रकाश तैजस, तामस सब पदार्थों पर समानरूपसे

पडता है. पर प्रकाश केवल तैजस-पदार्थ (सोना, चांदी, हीरा इत्यादि) में तो प्रत्यक्षरूपसे दीख पडता है तामस पदार्थ ( मृत्तिका, काष्ठ, लोह इत्यादि ) में नहीं दीखपडता है। यह पदार्थोंकी अपनी विषमता है. सूर्यका प्रकाश तो सबोंपर समान ही पडता है इसी प्रकार भगवान् तो सबमें समान है पर प्राणियोंकी चित्तवृत्तिकी विषमताके कारण वह परमात्मा किसीको कालरूप होकर भासता है और किसीको मित्ररूप होकर भासता है तिसका कारण यह है, कि " जाकी रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन तैसी " ( तुलसी )

देखो! श्रुतियोंसे भी सिद्ध होता है, कि वही परमात्मा भीषण अर्थात् परमभयावनरूप भी है और वही भद्र परमकाल्यणरूप भी है। फिर वही मृत्युका भी मृत्यु है।

प्रमाण श्रु०— " ॐ अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति तस्मादुच्यते भीषणमिति। अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति रोचनो रोचमानः। शोभनः शोभमानः कल्याणः तस्मादुच्यते भद्रमिति। अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति। तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति " ( नृसिंह पूर्वता० उप० २ श्रु० ४ )

अर्थ— उस महाप्रभुका नाम भीषण है सो उसे भीषण क्यों कहते हैं ? तहां श्रुति कहती है, कि जिसके तेजोमय स्वरूपको देखकर सर्वलोकलोकान्तरनिवासी सब देव, सब भूतमात्र मारे भयके

भाग जाते हैं परं वह महाप्रभु स्वयं किसीका भय नहीं करता इसीसे उसको भीषण कहते हैं और उसे भद्र अर्थात् कल्याणरूप भी कहते हैं. सो क्यों कहते हैं? तो श्रुति कहती है, कि भगवान् स्वयं मंगलरूप होकरे सर्वोंको मंगल प्रदान करता है और आप दीप्तियुक्त होकर सर्वोंको दीप्तियुक्त करता है और आप शोभनस्वरूप होकर सर्वोंके लिये शोभायमान और कल्याणस्वरूपही है उसीकी सुन्दरता और शोभासे अन्य सब देवता, देवी, मनुष्य, गन्धर्वादि सुन्दरताको प्राप्त होते हैं।

फिर वह महाप्रभु मृत्युका भी मृत्यु कहा जाता है सो उसे मृत्युका भी मृत्यु क्यों कहते हैं ? तहां श्रुति कहती है, कि वह महाप्रभु अपनी महिमासे अपने भक्तोंकी रक्षा निमित्त उनके सिरपर आयी हुई मृत्यु तथा अपमृत्यु ( अकालमृत्यु ) को नाश करके कालका भी काल कहलाता है।

इनही श्रुतियोंकी छाया लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी अपने रामायण नामक ग्रन्थमें कहते हैं, कि " करालं महाकालकालं कृपालं " हे प्रभो ! आप करालस्वरूप हो, महाकालके भी काल हो फिर कृपालु हो अर्थात भद्रस्वरूप होकर भक्तोंपर दया करनेवाले भी हो। जैसे एकही समय आप खंभ विदार नृसिंह हो हिरण्यकश्यपके लिये कालस्वरूप हो भासने लगे और प्रह्लादभक्तकेलिये कृपालुस्वरूप हो भासने लगे। इन वचनोंसे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि भगवानके निज स्वरूपमें विषमता नहीं है। विषमता प्राणियोंके हृदयकी वृत्ति तथा कर्मोंमें है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! [ **ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम्** ] जो मुझे भक्तिपूर्वक भद्र और कल्याणस्वरूप जानकर सेवन करते हैं अर्थात् प्रीतिपूर्वक मुझको अपना सर्वस्व अर्पणकर निष्काम हो संसारके विषयोंसे मुख मोड दिनरात मेरी ओर अपनी मनोवृत्ति लगाते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूं तथा वे मेरे और मैं उनका हूं। अर्थात् मुझमें और उनमें तनक भी अन्तर नहीं। तू निश्चय जान! कि मेरा भक्त मेरा ही स्वरूप है। मैं अपने भक्तोंसे पलमात्र भी विलग नहीं होता और न वे मुझसे विलग होते हैं ॥ २९ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जिस प्राणीमें विषम कर्मोंके द्वारा कुछ विषमता भी हो पर वह भी यदि मेरा भजन करे तो वह विषमता मेरे सामने समतारूप होकर भासती है—

**मू॰— अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**
**॥ ३० ॥**

पदच्छेदः— सुदुराचारः ( सु अत्यन्तं दुष्ट आचार आचरणं यस्य सः ) अपि, चेत् अनन्यभाक् ( न विद्यतेऽन्यस्मिन् भक्तिर्यस्य सः ) माम् ( सर्वेश्वरम् ) भजते ( सेवते ) सः, साधुः ( श्रेष्ठः ) एव, मन्तव्यः ( ज्ञातव्यः ) हि ( यतः ) सः, सम्यग्व्यवसितः ( परमेश्वरभजनेनैव कृतार्थो भविष्यामीति शोभनमध्यवसायं कृतवान् ) ॥ ३० ॥

पदार्थः— ( सुदुराचारः ) जो प्राणी अपनी पूर्वअवस्थाओंमें अत्यन्त दुष्ट आचरण करनेवाला ( अपि, चेत ) भी होवे पर पिछली अवस्थाओंमें ( अनन्यभाक् ) अनन्यभक्तिको स्वीकार करनेवाला होकर (माम्) मुझ सर्वेश्वरको ही ( भजते) सेवन करता है (सः) वही प्राणी (साधुः) असाधु होनेपर भी यथार्थ साधु ( मन्तव्यः ) मानने योग्य है ( हि ) क्योंकि ( सः ) उसी पुरुषने ( सम्यग्व्यवसितः ) पूर्णप्रकारसे अपनी मनोवृत्तिमें ऐसा निश्चय कररखा है, कि मैं परमेश्वरके ही भजनसे सब पूर्वकृत पापोंसे छूट कृतार्थ होजाऊंगा ॥ ३० ॥

भावार्थः— भव-जलधि-मथन-मन्दर गुण-मन्दिर दामोदर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द भक्तिकी महिमा दिखलाते हुए कहते हैं, कि [ अपि चेत्‌ सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ] जो प्राणी अत्यन्त दुष्ट आचरण अर्थात् विषम आचरण वाला भी होवे पर अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करे तो उसकी विषमताका नाश होजाता है । जैसे अजामिल, गणिका, व्याध, सजन-कसाई इत्यादिकी विषमताका नाश होगया । जो प्राणी अपनी आयुकी पूर्व-अवस्थामें अत्यन्त दुराचारी हो, मद्यपी हो, हिंसक हो, व्यभिचारी हो, दिन रात घोर पापोंमें मग्न हो, धर्मका कहीं लेशमात्र भी उसके शरीरमें न हो, सब छोटे-बडे उसके आचरणोंको देख घृणा करते हों और उसे महा दुष्ट जानते हों पर यदि वह भी शुभ प्रारब्धके उदय होनेसे सत्संग-द्वारा अथवा सच्चा गुरु मिलजानेसे इन पापोंको तिलांजलि देकर मेरा अनन्यभक्त होकर भजन करे अर्थात् सर्वप्रकारकी अन्य आशा

भरोसाको अपनी चित्तवृत्तिसे हटा केवल मुझमें प्रीति लगाकर मुझ सर्वेश्वर सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्री नारायणका ही निरन्तर भजन करने लगजावे तो [ साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ] वही प्राणी निश्चय करके साधु माननेके योग्य है और सम्यग्व्यवस्थित है। यद्यपि वह अपनी पहली अवस्थामें घोर पापोंका आचरण करताहुआ परम असाधु गिना जाता था वही अपनी पिछली अवस्थामें मेरा भजन करनेसे अपनी मनोवृत्तिको सब पापोंसे हटा अपने पापोंसे लज्जित हो मेरे नाममात्रका आधार जो करोडों जन्मके पापोंके नाश कर डालनेमें ऐसा है जैसे रुईके पर्वतको भस्म करदेनेमें एक छोटीसी आगकी चिनगारी तिस नामको ही अपना परम प्रायश्चित्त निश्चय कर सत्संग द्वारा मेरी शरण आकर मेरी सेवा पूजामें समय बिताता है सो साधु ही माननेके योग्य है। क्योंकि वही प्राणी सम्यक् प्रकारसे व्यवस्थित हुआ है अर्थात् उसकी सारी विषमता मिटगयी है और भगवत्सम्मुख होनेसे समताको प्राप्त होगया है।

इसमें तनक भी सन्देह करने योग्य नहीं है। यह भगवान्का वचन कहनेमात्र ही नहीं है और इस वचनमें विद्वानों और बुद्धिमानोंके अधिक विचारने और अर्थ लगानेकी आवश्यकता नहीं है यह वचन तो खुल्लमखुल्ला प्रत्यक्षरूपसे सबोंपर प्रकट है। सैकडों इतिहास और सर्वप्रकारके धर्म-ग्रन्थोंमें लिखेपडे हैं जिससे सिद्ध होता है, कि बडे-बडे घोर पापी पीछे सुधरकर ऐसे श्रेष्ठ महात्मा होगये हैं जिनके चरणकी धूली आज बडे-बडे विद्वान् अपने मस्तक और नेत्रोंमें लगानेको तयार हैं।

जैसे वाल्मीकि व्याधा जो ऐसे महात्मा होगये, कि जिनका रचा रामायण-ग्रन्थ आज सारे संसारको पवित्र कररहा है। यह इतिहास सबोंपर प्रकट है इसलिये यहां विस्तारके भयसे नहीं लिखागया।

इसी प्रकार अजामिल गणिका इत्यादिके इतिहासको सभी जानते हैं ।

आज भी जो प्राणी अत्यन्त दुराचारी हो पर भगवत्की शरण होजावे तो उसके दुष्कर्मोंका नाश होजाता है और वह परम पवित्र होजाता है। क्योंकि भगवत्का स्वभाव है, कि शरणागत आयेहुएको शुद्ध करदेते हैं और पापीको पुण्यात्मा बनादेते हैं।

तहां प्रमाण श्रुतिः— " ॐ यं मां स्मृत्वाऽगाधा गाधा भवति। यं मां स्मृत्वाऽपूतः पूतो भवति। यं मां स्मृत्वाऽव्रती व्रती भवति। यं मां स्मृत्वाऽश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति " ( गोपालोत्तरता० उप० श्रु० १ )

अर्थ— भगवान स्वयं अपने मुखारविन्दसे गोपियोंके प्रति कहते हैं, कि जिस मेरे स्मरण करनेसे अथाह सरिता थाह होजाती है, अपवित्र पुरुष पवित्र होजाता है, अव्रती अर्थात् अधर्मी जो कभी किसी प्रकारका शुभकर्म नहीं करता वह भी पूर्ण व्रती बनजाता है और अश्रोत्रिय श्रोत्रिय बनजाता है सो हे गोपियो ! तुम मेरा स्मरणकर यमुनापार होजाओ और दुर्वासाको भोजन कराआओ यमुना थाह होजावेगी।

इस ३० वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिकी महिमा दिखलायी। वरु इस श्लोकका अर्थ दूसरे प्रकार यों भी होसकता है, कि जो लोग दुराचारी हैं अर्थात् जिनका जन्म कसाई, मछुआ, भंगी, चर्मकार इत्यादि बुरे आचरणवालेके घरमें होगया है इस कारण वे अपनी जातिके धर्मको पालन कररहे हैं, मांस बेचरहे हैं, मछलियां मारकर अपना पेट भरते हैं तथा चमडेसे जूते इत्यादिकी सिलाई कर कुटुम्ब पालते हैं वे भी यदि भक्त हों तो उनका भी उद्धार होसकता है। ऋषियोंका वचन है—

"अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम ॥"

अर्थ— अत्यन्त पापमें डूबाहुआ प्राणी यदि एक पलमात्र भी भक्तिपूर्वक अच्युतभगवान्‌का ध्यान करे तो सब पापोंसे छूटकर वह तपस्वी होजाता है और पंक्ति अर्थात् अपने परिवारको पावन करनेवाले पुण्यात्मा-पुरुषोंको भी वह अपने दर्शनमात्रसे पावन करता है अथवा यों अर्थ करलो, कि वह ऐसा पावन होजाता है, कि अपनी जाति और कुटुम्बियोंको पावन करदेता है।

फिर कहते हैं, कि "तप" अर्थात् कृच्छ्रचान्द्रायण मौनादि तथा जितने अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, दर्श, पौर्णमास इत्यादि प्रायश्चित्त हैं उन सबोंमें श्रीकृष्णभगवान्‌के नामका स्मरणरूप प्रायश्चित्त

श्रेष्ठ है अर्थात् पापोंसे छुडानेवाला है । क्योंकि कृच्छ्रचान्द्रायण अथवा अग्निष्टोम, वाजपेय इत्यादि जो प्रायश्चित्त हैं वे एक-एक पापकी निवृत्ति निमित्त हैं और भगवत् नामका स्मरण एकही वार सर्वपापोंको नाश करदेता है ॥ ३० ॥

अगले श्लोकमें इसी विषयको और भी अधिक परिष्कार करते-हुए कहते हैं—

**मू०— क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।**
**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥**
**॥ ३१ ॥**

**पदच्छेदः**— क्षिप्रम् ( शीघ्रम् ) धर्मात्मा ( धर्मे आत्मा चित्तं यस्य धर्मानुगतचित्तः ) भवति, शश्वत् ( नित्यम् ) शान्तिम् ( उपशमम्, विषयभोगस्पृहानिवृत्तिम् ) निगच्छति ( नितरां प्राप्नोति ) [ हे ] कौन्तेय ! ( कुन्तीपुत्राऽर्जुन ! ) मे, भक्तः ( मयि समर्पितान्तरात्मा ) न, प्रणश्यति ( विनश्यति ) [ इति त्वम् ] प्रतिजानीहि ( निःशंकं सगर्वं निश्चितां प्रतिज्ञां कुरु ) ॥ ३१ ॥

**पदार्थः**— मेरा भक्त ( क्षिप्रम् ) अत्यन्त शीघ्र ( धर्मात्मा भवति ) धर्ममें प्रवृत्त हो पुण्यात्मा होजाता है फिर ( शश्वत् ) सदाके लिये ( शान्तिम् ) सर्वप्रकारकी विषयवासनाओंको त्याग संसारसे उपशमको ( निगच्छति ) प्राप्त होजाता है ( कौन्तेय ! ) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! ( मे, भक्तः ) जो मेरा भक्त है वह ( न

प्रणश्यति ) कभी भी नाश नहीं होता ( प्रतिजानीहि ) इस बातकी प्रतिज्ञा तू निश्चय करके करले ॥ ३१ ॥

**भावार्थः—** अशेषलोकशरण्य श्रीकृष्णचन्द्र अब दुराचार से पलटे हुए भक्तोंकी गति दिखलाते हुए और उनकी महिमाकी पुष्टि करते हुए कहते हैं, कि [ **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति** ] जो दुराचारी प्राणी अनन्य होकर मेरी शरण आता है वह शीघ्रही सब बुरे आचरणोंसे तथा विषयवासनाओंसे छूटकर धर्मात्मा होजाता है और सदाके लिये शान्ति प्राप्त करलेता है अर्थात् धर्मोंका आचरण करने लगजाता है। जैसे वाल्मीकिने व्याधाका आचरण छोड तपस्वीका आचरण करना प्रारंभ कर दिया। तात्पर्य्य यह है, कि जिसकी प्रकृति पहले दुराचारसे मिश्रित रहती है वह भगवद्भजनकी महिमा द्वारा निर्मल तथा शुद्धाचारसे परिपूर्ण होजाती है।

**शंका—** पहले भगवान अ० ३ श्लो० ३३ में कह आये हैं, कि प्राणीकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव प्रवलहै उसका निग्रह कैसे होसकता है ? जैसा स्वभाव है सो ही उसके मस्तकपर वर्त्तमान रहता है अन्यथा कुछ नहीं होसकता फिर जो स्वभावसे ही दुराचारी है सो सदाचारी कैसे बन सकता है ?

**समाधान—** भगवद्भक्तिकी तो यही एक आश्चर्य्यमयी महिमा है, कि जो असंभव हो उसे संभव करदेवे। फिर स्वभावको बदल देना भक्ति महारानीके लिये कुछ बडी बात नहीं है " भक्त

भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक। इनके पदवन्दन करत नाशत विघ्न अनेक " ( भक्तमाल ) शंका मत करो !

इसी विषयको भगवान् पुष्ट करते हुए कहते हैं, कि " शश्वच्छान्ति निगच्छति " मेरा भक्त सदाके लिये परमशान्तिको प्राप्त होजाता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! तू निश्चय करके जान! वरु भुजा उठाकर भरी सभामें प्रतिज्ञा पूर्वक कहदे, कि " न मे भक्तः प्रणश्यति " मेरा भक्त साधारण प्राणियोंके समान कभी नाशको प्राप्त नहीं होता।

सत्य है ! भगवानके इस वचनमें तनक भी सन्देह नहीं है। जो उनके भक्त हैं उनसे पूछो— वे अवश्य कहेंगे, कि भगवानकी भक्तिद्वारा मैं एक साधारण व्यक्तिसे असाधारण पदवीको प्राप्त हुआ हूं। " जेहि सुमिरत भये भागते तुलसी तुलसीदास " गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं, कि मैं जो पहले एक साधारण विषयी-पुरुष था अपनी स्त्रीके प्रेममें फंसा हुआ निर्लज्ज होकर उसके पीछे अपने श्वशुर-गृह ( ससुराल ) को चला गया था परन्तु यह केवल भगवतकी स्मृतिका ही प्रभाव है, कि मैं भाग्यवश तुलसी से गोस्वामी तुलसीदास कहलाने लगगया । अथवा मैं जो पहले साधारण भांगकी पत्तीके समान जंगलोंमें इधर उधर मारा फिरता था सो मैं भगवत् शरण आतेही भांगसे तुलसी हुआ और तुलसीकी

पत्तीके समान श्रेष्ठ होगया और फिर तुलसीसे गोस्वामी तुलसीदास ऐसे पदको पाया।

भक्तिरसामृतसिन्धुग्रन्थके पूर्वविभागमें लिखा है, कि यह भगवानकी भक्ति छः प्रकारकी हैं जो छः प्रकारके विशेष कार्य्योंको करती हैं वे कार्य यों हैं—

"क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा। सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।"

अर्थ— १. क्लेशघ्नी— (सर्वप्रकारके क्लेशोंको नाश करनेवाली है) क्योंकि सब क्लेशोंका मूल जो अविद्या है तिसे नाश करडालतीहै।

२. शुभदा— सर्वसद्गुणोंको प्रदान करनेवाली और सर्वत्र सब पुरुषोंमें सज्जनताकी फैलानेवाली होनेके कारण शुभको ही प्रदान करनेवाली होती है।

३. मोक्षलघुताकृत्— अर्थात् मोक्ष प्राप्तिके जो कठिन साधन-चतुष्टय हैं उनको यह भक्ति लघु करके तृणके समान सुलभ करदेती है। क्योंकि जिसे भगवच्चरणारविन्दमें तनक भी अनुराग हुआ उसकेलिये मोक्षसाधनके निमित्त साधनचतुष्टयमें कुछभी कठिनता नहीं होती। क्योंकि वह सदाकेलिये मुक्तस्वरूप होजाता है।

४. सुदुर्लभा— नाना प्रकारके कठोर साधनोंसे जो तत्त्व शीघ्र प्राप्त नहीं होता सो केवल इसी भक्तिसे प्राप्त होता है इसलिये इसको सुदुर्लभा कहते हैं।

५. सान्द्रानन्दविशेषात्मा— अत्यन्त परिपूर्णानन्दसे जो विशेषकर आत्माको रंगदेती है अर्थात् ब्रह्मानन्द, परमानन्द इत्यादि आनन्दोंको

आत्मामें भर देती है उसे " सान्द्रानन्दविशेषात्मा " कहते हैं ।

६. **श्रीकृष्णाकर्षिणी**— भक्तोंके हृदयमें इतना प्रेम भरदेती है जिसके द्वारा श्रीकृष्णभगवान् आपसेआप खिंचकर उनके समीप आजाते हैं इसीलिये इस भक्तिको " श्रीकृष्णाकर्षिणी " कहते हैं और यह सबोंमें उत्तम है ।

नाना प्रकारके ग्रन्थोंसे सिद्ध है, कि भक्तिसे प्राणीके सब क्लेश दूर होजाते हैं, सकल मंगलकी प्राप्ति होजाती है, मोक्षके साधन उसको तृणवत् होजाते हैं । अत्यन्त क्लेश करनेसे जो दुर्लभ गति है वह भक्तिद्वारा सुलभ होजाती है । प्राणीका हृदय आनन्दामृतसे परिपूर्ण होजाता है और भगवत् खिंचकर स्वयं उस प्राणीके गले लिपट जाता है । ये सब बातें केवल भक्तिसे प्राप्त होती हैं ।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं, कि मेरा भक्त किसी प्रकार नाशको प्राप्त नहीं होता, वरु कृतकृत्य होजाता है ॥ ३१ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न प्राणी हैं वे ही आपकी भक्तिसे शुद्ध होते हैं अथवा नीचकुलवाले भी आपकी इस भक्तिके अमोघ आनन्दको लाभ करसकते हैं ।

---

کشش ہے جذبہ الفت میں تو کھنچ کر آہی جاوینگے
رہینگے کب تلک سرکار پردوں میں نہاں ہو کر —

" कशिश है जज्बः उल्फतमें तो खिंचकर आही जावेंगे ।
रहेंगे कबतलक सरकार पर्दोंमें निहां होकर ॥ "

इतना सुन भगवान् प्रसन्नचित्त होकर बोले अर्जुन सुन—

मू०—मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
॥ ३२ ॥

**पदच्छेदः**— [ हे ] पार्थ ! ( पृथापुत्राऽर्जुन ! ) ये, पापयोनयः ( निकृष्टजन्मानोऽन्त्यजादयः ) अपि, स्युः [ तथा ] स्त्रियः ( साधारणभार्य्याः ) वैश्याः ( कृष्यादिरता द्विजाः ) तथा, शूद्राः ( जातितोऽध्ययनाद्यभावेन परमगत्ययोग्याः) ते, अपि, माम्, व्यपाश्रित्य ( शरणमागत्य। संसेव्य ) पराम् (उत्कृष्टाम् ) गतिम्, यान्ति ( प्राप्नुवन्ति गच्छन्ति वा ) हि ( इति निश्चितम् ) ॥ ३२ ॥

**पदार्थः**— ( पार्थ ! ) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (ये, पापयोनयः ) जो प्राणी पापयोनी हैं अर्थात अन्त्यजादि नीच जातिमें ( अपि, स्युः ) भी उत्पन्न हैं ( तथा ) तैसे ही ( स्त्रियः) साधारणस्त्रियां (वैश्याः) केवल कृषिकर्ममें रत जो वैश्य हैं और (शूद्राः) सेवा करनेवाली जाति जिनको वेदादि अध्ययनका अधिकार नहीं है ( तेऽपि ) वे भी ( माम् ) मुझ पतितपावनका ( व्यपाश्रित्य ) आश्रय कर अर्थात् मेरी शरण आ ( परां, गतिम् ) श्रेष्ठ गतिको ( यान्ति ) प्राप्त होजाते हैं ( हि ) यह निश्चय है ॥ ३२ ॥

**भावार्थः**— अब भगवान् अर्जुनके पूर्वप्रश्नपर स्वाभाविक पापाचरणवालोंका भी अपनी भक्ति द्वारा उद्धार होना सिद्ध करतेहुए

कहते हैं, कि [ **मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः** ] हे पार्थ ! जो प्राणी पापयोनि वानर, भालु, हस्ति, गीध इत्यादिमें जन्म लेचुका है तथा जो पुरुष अपने पूर्वपापकर्मोंके कारण महानिकृष्ट श्वपच, ( भंगी ) चर्मकार, कसाई, म्लेच्छ, राक्षस, बनचर, धीवर इत्यादि योनियोंमें उत्पन्न हैं वे भी मेरी शरण आकर परमगतिको प्राप्त करलेते हैं।

इसी प्रकार [ **स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्** ] स्त्रियां तथा कृषि, कुसीदादिमें रत 'वैश्यगण' और वेदाध्ययनादिका अधिकार न होनेके कारण जिन्हें किसी प्रकारकी शुभगतिकी आशा नहीं रहती ऐसे 'शूद्रगण' मेरी शरण आकर परमगतिको प्राप्त होजाते हैं।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इस जन्ममें पापाचरण करनेवाले यदि मेरी भक्तिकरके शुभ-गतिको प्राप्त होगये तो यह कौनसी बडी बात है ? क्योंकि भक्तिकी महिमा तो इतनी बडी है, कि पूर्वके अनेक जन्मोंमें पापाचरण करनेसे भी जो-जो प्राणी नीचयोनियोंमें आपडे हैं वे भी शुभगतिको प्राप्तहोजाते हैं। साधारण स्त्रियां जो परम अपवित्र और अज्ञानी समझी जाती हैं तथा वे वैश्य जो कृषिकर्ममें रत रहकर हल जोतने, बीज बोने, धान्यादि काटने इत्यादि हिंसामय कर्मोंमें रत रहते और वेदाध्ययन इत्यादि शुभकर्मोंकी ओर नहीं देखते तथा वे शूद्र जो वेदादि अध्ययनके अधिकारी न होनेके कारण पशुके तुल्य समय बिताते हैं वे भी सबके सब उनके सम्मुख होते ही तरजाते हैं।

प्रिय पाठको ! यद्यपि शंकर मधुसूदनादि पूर्वभाष्यकारोंके समीप मैं ऐसा हूं जैसे गरुड पक्षीके सम्मुख एक टिट्टिभ अथवा महासागरके सम्मुख एक छोटासा कूप फिर कब सम्भव है ? कि उनके भाष्यमें तनक भी मैं जिह्वा हिलासकूं । जो कुछ उन लोगोंने अपनी बुद्धि और विद्याद्वारा संसारके कल्याण निमित्त उत्तम रीतिसे भाष्य करदिया है उतना कौन करसकता है ? फिर भी गीता ऐसे गम्भीर शास्त्रकी टीकामें भला अस्मदादिको बोलनेकी कहां शक्ति है "**जेहि मारुत गिरि मेरु उडाहीं । कहहु तूल केहि लेखेमाहीं ।**" ( तुलसी ) अर्थात् जिस प्रवल प्रचण्ड वायुके झकोडेसे मेरु पर्वत उडजावे उसके सम्मुख एक छोटेसे तृणकी क्या गणना है ?

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस गीताशास्त्रके भाष्य करनेमें शंकर और रामानुज ऐसे विद्यानिधान परिश्रमकर थाह लेनेमें व्याकुलताको प्राप्त होचुके हैं और एक दूसरेके प्रतिकूल भाष्य लिखचुके हैं तिस गीताशास्त्रकी टीकामें मेरी अत्यन्त अल्पबुद्धि और विद्या क्या कार्य कर सकती है ? तथापि मेरी सम्मतिके अनुसार इस श्लोकमें ( वैश्याः ) के स्थानमें यदि " वेश्याः " ऐसा पाठ करदिया जावे तो अति उत्तम हो और इसका अर्थ यों कियाजावे, कि 'पुँश्चली' जो विशेषकर अपने वेषद्वारा सर्वसाधारण मनुष्योंको वशमें लाकर व्यभिचारद्वारा पेट भरती हैं वे सब भी भगवद्भक्ति करके तरजासकती हैं । जैसे पिंगला, चिन्तामणि, वारमुखी इत्यादि वेश्याएं भगवत्की भक्तिकर भगवन्नाम स्मरण द्वारा शुभगतिको प्राप्त होगयी हैं ।

क्योंकि यदि " स्त्रियो वैश्याः " ऐसा पाठ होवे तो ये वैश्य-जातिमें उत्पन्न गोरक्षा, वाणिज्य और कृषि करनेवाले वैश्य भी पाप-योनिमें ही समझे जाते हैं और स्त्री तथा शूद्रोंके समान वेदाध्ययना-धिकारसे च्युत होते हैं। पर श्रुतिस्मृतियोंसे यह सिद्धान्त किया हुआ है, कि वैश्यजाति न तो पापयोनिमें है और न वेदादिके अध्ययनमें अनधिकारी हैं फिर वैश्यको पापजन्मा नहीं कहसकते, वैश्य तो द्विजन्मा कहाजाता है। देखो ! श्रुतिने वैश्यजातिकी कपूययोनिमें नहीं गणना करके उत्तम योनिमें गणना की है।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्य योनिं वा "

( छा० उ० पञ्चमप्रपाठक खं० १० श्रुति० ७ में देखो)

अर्थ— जो प्राणी इस संसारमें रमणीय आचरणोंका अभ्यास करते हैं वे निश्चय करके रमणीय योनियोंको अर्थात् ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि, अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त होते हैं।

इस श्रुतिके वचनसे सिद्ध होता है, कि वैश्यजातिकी गणना निकृष्ट पापयोनियोंमें नहीं है रमणीय योनिमें है फिर यदि ऐसा कहा-जावे, कि इनको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है इसलिये इनकी गणना शूद्र वा स्त्रीके साथ करनी चाहिये सो ऐसा भी नहीं बनता क्योंकि वैश्योंको द्विजातिके भीतर स्मृतिने भी गणना करके वेदादि अध्ययनका अधिकार दिया है।

प्रमाण—" अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ "
( मनु० अ० १० श्लो० १ )

अर्थ— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो द्विजाति अपने२ कर्मोंमें पूर्णरूपसे स्थित हैं अर्थात् अपने२ वर्णाश्रमधर्मको यथाविधि यथाशास्त्र पालनेवाले हैं वे तीनों वर्ण वेदोंका अध्यन करें पर इन तीनोंमें वेद पढानेका कार्य केवल ब्राह्मण करे । दूसरा नहीं यह निश्चय है ।

जो हो पर वैश्यजातिकी गणना श्रुतिस्मृतियोंके अनुसार पापयोनियोंमें नहीं है कृषि इत्यादि करना तो इनका परमधर्म ही कहागया है और बोने, काटने इत्यादि पंचसूनाके पापोंके निवृत्त्यर्थ तो सन्ध्यादि पंचमहायज्ञोंका निर्देश इनके लिये कर ही दिया गया है फिर वैश्योंको पापयोनियोंमें गणना करनेका अवकाश ही नहीं मिलता । इसलिये ( वैश्याः ) के स्थानमें ( वेश्याः ) ऐसाही पाठ उचित प्रतीत होता है । यदि किसी विद्वान्को शंका हो तो समालोचना करके मेरे पास भेजदें ।

हां ! ( वैश्याः ) पाठ रखनेसे भी बहुत खैंचखांचकर अर्थ करना होगा और यह कहना पडेगा, कि जो वैश्य महा पापी हैं दिन-रात पापाचरणमें रत रहते हैं उन्हींके विषय भगवानने कहा है तो ऐसा भी नहीं बनता क्योंकि यह वार्त्ता ब्राह्मण क्षत्रियोंमें भी घट-सकती है । जो हो मेरी अल्पबुद्धिमें जो पाठ उचित जानपडा लिखदिया

( इति हंसस्वरूपः ) ॥ ३२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें कैमुतिकन्यायसे यह दिखलाया चाहते हैं, कि जब इन पापात्माओंकी मेरी भक्तिसे शुभगति होती है तो जो उत्तम कुलमें जन्मलेनेवाले हैं उनका तो कहनाही क्या है ?

मू०— किम्पुनर्ब्राह्मणाःपुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३

पदच्छेदः— पुण्याः ( शमदमादिसम्पन्नाः सदाचारा रमणीययोनयः ) भक्ताः ( मत्सेवकाः ) ब्राह्मणाः ( ब्रह्मवंशोद्भवाः ) तथा, राजर्षयः ( राजानश्च ते ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः ) पुनः, किम ( किमु वक्तव्यम् ) [ अतः त्वम् ] इमम्, अनित्यम् (क्षणभंगुरम्) असुखम ( सुखवर्जितम् ) लोकम ( मनुष्यलोकम ) प्राप्य (लब्ध्वा) माम् ( वासुदेवम ) भजस्व ( सेवस्व ) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— ( पुण्याः ) शम, दमादि शुभ आचरणोंसे सम्पन्न ( भक्ताः ) मेरे भजन करनेवाले ( ब्राह्मणाः ) ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न ( तथा, राजर्षयः ) राजर्षि सूक्ष्मदर्शी क्षत्रियोंका तो ( पुनः किम् ) फिर कहना ही क्या है ? [ अतः त्वम ] इसलिये हे अर्जुन ! तू ( इमम् ) इस ( अनित्यम् ) क्षणभंगुर ( असुखम् ) सुखसे रहित ( लोकम ) मनुष्य लोकको ( प्राप्य ) प्राप्त करके ( माम् ) मुझ वासुदेव सर्वेश्वरको ( भजस्व ) भज ! ॥ ३३ ॥

भावार्थः— अब भगवान् कैमुतिकन्यायसे यह दिखलाते हैं, कि [ किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ] जब नीचयो-

नियोंमें उत्पन्न अन्त्यज, स्त्री, शूद्रादिको भी मेरी भक्तिसे शुभगति होजाती है तो जो प्राणी श्रेष्ठ रमणीय ब्राह्मणकुलमें तथा क्षत्रियकुलमें उत्पन्न राजर्षि गण शमदमादि शुभ आचरणोंसे सम्पन्न सूक्ष्मदर्शी मेरे भक्त हैं और अहर्निश मेरी सेवापूजामें मग्न रहते हैं उनका तो कहना ही क्या है? अर्थात् वे तो अवश्य ही परमगतिको प्राप्त होंगे इसमें सन्देह ही क्या है? इसलिये हे अर्जुन तू जो श्रेष्ठकुलमें शमदमादि शुभगुणोंके सहित उत्पन्न हुआ है और पूर्वजन्ममें तूने ऐसे शुभ आचरण किये हैं, कि आज तू मेरे समीप रथपर उपस्थित है इसलिये तू मेरे भजनका उत्तम अधिकारी है। अतएव मैं तुझसे कहताहूं, कि [ **अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्** ] तू इस अनित्यसुखसे रहित मनुष्यलोकको प्राप्त करके सर्वविषयोंको अन्तःकरणसे त्याग, मुझ वासुदेव परमात्मा सच्चिदानन्द सर्वसुखदायक सकलनायकको भज! क्योंकि यह मनुष्यलोक अनित्य हैं और यह तेरा शरीर क्षणभंगुर है इस लोकमें तथा इस शरीरमें आस्था तनक भी मतकर! क्योंकि इसमें सुखका लेशमात्र भी नहीं है— " **अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्। चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः॥ जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम्। दुष्पूरं दुर्द्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभंगुरम्॥ कृमिविड्भस्मसंज्ञातं शरीरमिति वर्णितम्॥** "

( श्रीमद्भा० महात्म्य अ० ५ श्लो० ५८, ५९, ६० )

अर्थ— नाडियोंसे बँधाहुआ हाडका खम्भ मांस और शोणितसे लपेटकर चमडेसे ढकाहुआ, दुर्गन्धसे भराहुआ, मलमूत्रका स्थान, बुढापे और शोकके परिणामसे आर्त, रोगका घर, व्याकुल, कभी पूर्ण नहीं

होनेवाला, परम दुष्ट, सब दोषोंसे युक्त, क्षणमात्रमें नाश होजानेवाला अन्तमें कीडा, मल तथा भस्म होनेमें प्रसिद्ध यह शरीर वर्णन किया गया है। अज्ञानी इसे सुखका स्थान जानकर इधर दौडते हैं पर अन्तमें मूर्ख मृगा के समान इस मृगतृष्णाके समीप आकर प्याससे प्राण खो बैठते हैं । इसी कारण भगवान् अर्जुनपर कृपादृष्टिकर उपदेश करतेहैं, कि तू संसारसुखको दुःख जानकर मेरा भजन कर ! नहीं तो यह शरीर महान् दुःखका कारण निरर्थक नष्ट होजावेगा। तहां श्रुति भी कहती है, कि— "ॐ इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति" ( बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० १४ )

अर्थ— हमलोग इस संसारमें शरीर पाकर अज्ञान-निद्रासे रहित होकर किंचित् उस ब्रह्मतत्त्वको जान सकते हैं यदि ऐसा न हुआ तो जाने रहो ! कि बहुत बडे दुःखके कारण जो जन्म और मरण तिन्हें प्राप्त हो दुःख पाते हैं। इसी कारण जो लोग उस अनन्तशक्तिमान् जगदीश्वरको जानते हैं वे अमृतस्वरूप होजाते हैं अर्थात् अमर हो कैवल्यपरमपदको पाते हैं और जो उसको नहीं जानते वे बार-बार सर्वदुःखमय जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं।

इन सब वचनोंसे सिद्ध होता है, कि इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर नित्य और अवश्य उस श्यामसुन्दर आनन्दकन्दहीका भजन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

अगले श्लोकमें पूर्णप्रकार इसी विषयका उपदेश करतेहुए भगवान् इस अध्यायको समाप्त करते हैं।

मू०— मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
॥ ३४ ॥

पदच्छेदः— मन्मनाः ( मयि एव मनो यस्य न स्त्र्यादौ सः ) मद्भक्तः ( ममैवभक्तो न राजादेर्धनाद्यर्थम् स मत्सेवकः ) मद्याजी ( मदर्थमेव यजते न स्वर्गाद्यर्थं रु मद्यजनशीलः ) भव, माम् ( परमात्मानम् ) नमस्कुरु ( मनोवाक्कायैर्नमस्कुरु । अभिवादयस्व ) एवम्, मत्परायणः ( अहमेव सर्वोपाधिशून्यश्चिदात्मा परं सर्वोत्कृष्टमयनं प्राप्यं यस्य सः ) आत्मानम् ( अन्तःकरणम ) युक्त्वा ( समाधाय ) माम् ( महेश्वरम् ) एव, एष्यसि ( प्राप्स्यसि )॥ ३४ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! तू ( मन्मनाः ) मेरेमें सदा मनको लगानेवाला ( मद्भक्तः ) मेराही भजन पूजन करनेवाला मेरा परमप्रिय भक्त ( मद्याजी ) मेरीही प्राप्तिके निमित्त यज्ञादिका करनेवाला ( भव ) होजा ! तथा ( माम ) मुझहीको ( नमस्कुरु ) काया, मन और वचनसे अभिवादन अर्थात् नमस्कार करता रह ! ( एवं, मत्परायणः ) इस प्रकार सदा मेराही परायण होकर और मेरेही स्वरूपमें ( आत्मानम् ) अपनेको अर्थात् अपने अन्तःकरणको ( युक्त्वा ) जोडकर तू ( माम ) मुझ सच्चिदानन्द सर्वेश्वरकोही ( एष्यसि ) प्राप्त होजावेगा ॥ ३४ ॥

भावार्थः— अब भगवान अर्जुनके प्रति पूर्णप्रकार अपने भजन करनेका उपाय बतलाकर इस अध्यायको समाप्त करतेहुए कहते

हैं, कि [ **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु** ] हे अर्जुन ! तू मेरेहीमें मन लगा ! मेराही भक्त हो, मेराही यजन करनेवाला होजा ! और मुझहीको नमस्कार कियाकर । अर्थात् सबसे पहले तू सब विषयवासनाओंको त्यागकर दिनरात मेरीही ओर अपने मनको लगा। अभी जो तू महाभारतकी रणभूमिमें युद्धकेलिये उपस्थित हुआ है सो तू मेरे पूर्वउपदेशानुसार जय पराजयकी ओरसे मन हटा, राजसुखकी प्राप्तिकी अभिलाषा छोड, केवल अपना धर्म जान, युद्धका सम्पादन करेताहुआ मुझको इतनाही मत देख ! कि मैं तेरा रथवान होकर रथहीपर बैठाहुआ हूं। ऐसा नहीं वरु तू मुझको रथकी चारों ओर रथके अश्वोंमें, ध्वजाओंमें, पहियोंमें, धनुषमें, बाणमें, सो भी केवल अपनी ही ध्वजा और बाण इत्यादिमें नहीं वरु सम्पूर्ण महाभारतकी रणभूमिमें जितनी सेना तथा सेनापति तेरे सामने खडे हैं सबोंके रथ, घोडे, बाण और धनुषमें तू मुझहीको जानताहुआ फिर प्रत्येक युद्धकलामें मेरेही स्वरूपको देखताहुआ युद्धका सम्पादन कर तबही तू '**मन्मना**' कहलावेगा। इसलिये मैं तुझसे कहता हूं, कि हे अर्जुन ! मन्मना होनेसे तुझमें मेरी भक्ति अवश्य प्रवेश करेगी। एवम्प्रकार अपनेमें भक्तिको प्रवेश कराकर तू '**मद्भक्तः**' अर्थात् मेरा भक्त होजा। जैसे साधारण विषयी प्राणी धनादिके लोभसे राजा महाराजा तथा किसी अन्य धनवान् व्यक्तिका भक्त होजाता है उसीकी सेवा शुश्रूषा करता रहता है तू इसी प्रकार अन्य सब आश्रयोंको त्यागकर तू मेरी सेवा शुश्रूषा करता रह। फिर हे अर्जुन ! '**मद्याजी**' होजा अर्थात् स्वर्गादिकी अभिलाषा करके यज्ञादि मत कर ! वरु जो कुछ

अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, वाजपेय इत्यादि यज्ञ तुझसे बनपड़ें सबोंको इसी अभिलाषासे कर, कि मैं सर्वेश्वर सच्चिदानन्द तुझे प्राप्त होजाऊं। तथा 'मां नमस्कुरु' मेरे ही को नमस्कार कियाकर! क्योंकि मैं सर्वेश्वर सबोंका ईश हूं इसलिये केवल मुझको नमस्कारादि करनेसे अन्य सब देवी, देव भी सन्तुष्ट होजाते हैं।

प्रिय पाठको! यह जो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति कहा, कि केवल मेरेहीको नमस्कार कर तिसका केवल इतना ही तात्पर्य नहीं है, कि मेरेको मस्तक झुकादियाकर! नहीं! नहीं!! यह नमस्कार तीन प्रकारका है— कायिक, वाचिक, और मानसिक। सो भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि तू तीनों प्रकारके नमस्कारोंको मेरे ही प्रति कियाकर!

अब वे तीन नमस्कार पाठकोंके कल्याणार्थ वर्णन करदियेजाते हैं—

" प्रसार्यपादौ हस्तौ च पतित्वा दण्डवत् क्षितौ।
जानुभ्यां धरणीं गत्वा शिरसा स्पृश्य मेदिनीम्॥
क्रियते यो नमस्कार उत्तमः कायिकस्तु सः।
जानुभ्यां च क्षितिं स्पृष्ट्वा शिरसा स्पृश्य मेदिनीम्॥
क्रियते यो नमस्कारो मध्यमः कायिकस्तु सः।
पुटीकृत्य करौ शीर्षे दीयते यद्यथा तथा॥
अस्पृष्ट्वा जानुशीर्षाभ्यां क्षितौ सोऽधम उच्यते।
या स्वयं गद्यपद्याभ्याम् घटिताभ्यां नमस्कृतिः॥
क्रियते भक्तियुक्तैर्वा वाचिकस्तूत्तमः स्मृतः।

पौराणिकैर्वैदिकैर्वा मंत्रैर्या क्रियते नतिः ॥
मध्यमोऽसौ नमस्कारो भवेद्वाचनिकः सदा ।
स वाचिकोऽधमो ज्ञेयो नमस्कारेषु पुत्रकौ ॥
इष्टमध्यानिष्टगतैर्मनोभिस्त्रिविधं पुनः ।
मनसा मानसं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम् ॥
त्रिविधे च नमस्कारे कायिकश्चोत्तमः स्मृतः ।
कायिकैस्तु नमस्कारैर्देवास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥
पूर्ववद्दण्डवद्भूमौ निपत्य हृदयेन तु ।
चिबुकेन मुखेनाथ नासया त्वलिकेन च ॥
ब्रह्मरन्ध्रेण कर्णाभ्यां यद्भूमिस्पर्शनं क्रमात् ।
तदष्टांग इति प्रोक्तो नमस्कारो मनीषिभिः ॥

( कालिकापुराण अ० ७० में है )

रात्रौ नैव नमस्कुर्यात्तेनाशीरभिचारिका ।
अतः प्रातः पदं दत्वा प्रयोक्तव्ये च ते उभे ।

( महाभारतमिति केचित् )

देवलायतनं दृष्ट्वा दृष्ट्वा तु दण्डिनन्तथा ।
नमस्कारं न कुर्याद्यः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥
सभायां यज्ञशालायां देवतायतनेषु च ।
प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥
दूरस्थं जलमध्यस्थं धावन्तं मदगर्वितम ।
क्रोधवन्तं विजानीयात् नमस्कारं च वर्जयेत् ॥

पुष्पहस्तो वारिहस्तस्तैलाभ्यंगो जलस्थितः ।
आशीः कर्त्ता नमस्कर्त्ता उभयोर्नरकं भवेत् ॥"

( इति कर्मलोचनम् )

अर्थ— हाथ पांवको फैलाकर दण्डके समान पृथिवीपर गिर दोनों जानुओंसे और मस्तकसे पृथिवीको स्पर्श कर जो नमस्कार करे वह " उत्तम कायिकनमस्कार " कहा जाता है। जानुओंसे तथा शिरसे भूमिको स्पर्श कर जो प्रणाम कियाजाता है वह " मध्यम कायिक-नमस्कार " है ।जो दोनों हाथोंको जोडकर सिरसे लगाकर नमस्कार करे जानु और सिरसे पृथिवीको स्पर्श न करे उसे " अधम कायिक नमस्कार " कहते हैं ।

जो स्वयं अपनी उक्तिसे गद्य वा पद्य बनाकर भक्तियुक्त नमस्कार करता है उसे उत्तम वाचिकनमस्कार कहते हैं ।

पौराणिक तथा वैदिक मंत्रोंको पढकर जो नमस्कार करता है उसे मध्यम वाचिक नमस्कार कहते हैं । जो मानुषी वाक्यको सीधे-सीधे कुछ कहकरे नमस्कार करता है वह अधम वाचिक नमस्कार कहलाता है ।

इष्ट ( मित्र ) मध्यस्थ और अनिष्ट ( शत्रु ) इन तीन प्रकारकी मानसिक गतिसे जो नमस्कार करता है उसे क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम मानसिक नमस्कार कहते हैं ।

इन कायिक वाचिक और मानसिक नमस्कारोंमें कायिक नमस्कार उत्तम है । क्योंकि इस कायिक नमस्कारसे देवगण प्रसन्न होते हैं ।

पूर्ववत् जो दण्डके समान भूमिपर गिरकर हृदयसे, चिबुक ( ठुड्डी ) से, मुखसे, नासिकासे अलिक ( ललाट ) से, ब्रह्मरन्ध्रसे अर्थात् मस्तकके बीच भाग शिखाके स्थानसे, दोनों कानोंसे पृथिवीको स्पर्श कर नमस्कार किया जाता है उसे साष्टांग कायिकनमस्कार कहते हैं । ( ये सब वचन कालिका पु० अ० ७० में हैं )

रात्रिके समय न नमस्कार करना चाहिये और न आशीर्वाद देना चाहिये इसलिये यदि अत्यन्त प्रेम और भक्तिवश जो किसी स्थानसे गयेको नमस्कार वा आशीर्वाद करना हो तो प्रातः शब्दको उस नमस्कारके साथ जोडदेवे देवताके मन्दिरको और दण्डीको देखकर जो नमस्कार नहीं करता है वह प्रायश्चित्ती होता है।

सभामें, यज्ञशालामें, देवताके मन्दिरमें एक-एकके प्रति नमस्कार करनेसे पूर्वपुण्यका नाश होता है ऐसा नहीं करना चाहिये ।

अपनेसे जो दूर रहे तथा जो जलमें रहे अथवा दौडता रहे मारे घमंडके फूलकर बैठा रहे, बाततक न करे, आंख उठाकर अपनी ओर न देखे तथा जिस समय क्रोधसे भरा हो उस समय इन लोगोंको नमस्कार नहीं करना चाहिये ।

पुष्प और जल हाथमें लियेहुए, तैल लगातेहुए और जलमें खडेहुओंको जो नमस्कार करता है और जो आशीर्वाद देता है वे दोनों नरकगामी होते हैं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! एवम्प्रकार तू मेराही यजन और मुझकोही नमस्कार करताहुआ [ मामेवैष्यसि युक्त्वैव-

मात्मानं मत्परायणः ] मत्परायण होकर अपने आत्माको मेरेमें युक्त कियेहुए मुझको प्राप्त करेगा। अर्थात् जैसे नट बल्लेपर चढ़ताहुआ तथा पानी भरनेवाली पनिहारिन अपने अन्तःकरणको एक ओर लगालेती हैं इसी प्रकार तू अपने अन्तःकरणको एक मुझमें लगायेहुए मत्परायण होजा अर्थात् मेरेहीको तू अपना परमश्रेष्ठ अयन (रहनेका स्थान) समझकर मेरेही स्वरूपमें विश्राम करनेकी चेष्टा कियाकर! ऐसा करनेसे तू अवश्य मुझ सर्वेश्वर सच्चिदानन्द नित्य परमसुखस्वरूप अमृतमय अविनाशीको ही प्राप्त होगा। अर्थात् यह जो तेरा स्वरूप अर्जुन, नाम और उपाधिके कारण शरीर और इन्द्रियोंके भेदद्वारा मुझसे भिन्न भासरहा है सो तू इन सर्वप्रकारकी उपाधियोंसे वर्जित होकर मेरी भक्तिके बलसे चलता-चलता मुझमें ऐसे आमिलेगा जैसे नदियां बहती-बहती अपना नाम रूप छोडकर समुद्रमें मिल समुद्रही कहलाती हैं।

तहां प्रमाण श्रुति— "ॐ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम" (मुं० ३ खं० २ श्रु० ८)

अर्थ— जैसे भिन्न २ नदियां बहतीहुई अपने गंगा, यमुना, गोदावरी इत्यादि नामरूपको त्यागकर समुद्रमें जामिलती हैं तैसे विद्वान अपने नामरूपको त्यागकर उस परमपुरुषमें जामिलता है।

इस श्लोकमें 'मामुपैष्यसि' वाक्य उच्चारण करनेसे भगवानका यह तात्पर्य है, कि जैसे नीर क्षीरमें मिलकर क्षीरहीका रूप होजाता है

इसी प्रकार हे अर्जुन! तू मुझसे मिलकर मेराही रूप होजावेगा क्योंकि जबतक नीर नीरके स्वरूपमें रहता है तभीतक इस असत् संसारके दुःखों का विम्ब उसमें देख पडता है पर जब वह नीर क्षीर होजाता है तब ब्रह्मप्रकाशरूप उज्वलतासे आच्छादित होजानेके कारण फिर उसमें किसी प्रकारके सांसारिकदुःखोंका विम्ब नहीं देखाजाता। ऐसेही तू मुझमें मिलकर नानाप्रकारके क्लेशोंसे रहित होजा।

अर्थात् संसाररूप समरांगणका भयावह दृश्य, अनोखी चाल-ढाल, विचित्र लीला, भांति-भांतिके नये-नये करतूतोंको देखकर जो चतुर विवेकी पुरुष इस युद्धमें शीश नहीं कटवाते उन्हींको इसके अनित्य-त्वका ज्ञान होता है। वे ही इस प्रपंचमय जगत्‌की निस्सारता और अनित्यताको भली प्रकारे समझजाते हैं और कठिनसे कठिन दुःखोंके आगमन होनेपर भी जो अपने कर्त्तव्यपथसे तनकभी विचलित नहीं होते वरु हंसते-हंसते लोहेके चनोंको चबाजाते हैं और अनेक प्रकारके सुखावह विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनकी ओर आंख उठाकर नहीं देखतेहुए मार्गके कचडोंके समान अपने पैरोंसे ठोकर देते और कुचलते चलेजाते हैं वे ही पुरुष भगवदभिमुख होकर नित्य, शान्त, अविचल अनन्तस्वरूप, अगाध ईश्वरीयतत्त्वमें ऐसे घुलजाते हैं जैसे दूधमें मिश्री।

इतना कह भगवान् मन्द--मन्द मुसकरातेहुए अर्जुनकी ओर कृपादृष्टिसे अवलोकन करतेहुए चुप होरहे ॥ ३४ ॥

महेन्द्राद्यैर्देवो जयति दितिजान् यस्य बलतः,
न कस्य स्वातन्त्र्यं क्वचिदपि कृतौ यत्कृतिमृते।
कवित्वादेर्गर्वं परिहरति योऽसौ विजयिनः,
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां प्राकृतटीकायां राजविद्या राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

# इति नवमोऽध्यायः



# शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

| पृष्ठ | पं० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २०३८ | ६ | सृपि | सृष्टि |
| २०४१ | १० | न्निवृत्ता | न्निवृत्त |
| २०४३ | १ | ष्कमें | मस्तिष्कमें |
| २०४५ | २२ | त्त्वाष्ठा | त्त्वाष्टा |
| २०४६ | ११ | विरतार | विस्तार |
| २०४७ | ८ | त्त्वार्था | त्त्वार्थाः |
| २०७५ | १६ | कौन्तैय | कौन्तेय |
| २१०२ | १० | निप्फल | निष्फल |
| २१०६ | ८ | वृतारतांरते | वृतास्ताऽस्ते |
| २१०८ | १३ | प्रकृप्टो | प्रकृष्टो |
| २११३ | १७ | यन्ततः | यतन्तः |
| २११७ | ४ | मरे | मेरे |
| २११८ | ५ | पतल | पतले |
| " | ५ | ररसे | रस्से |
| २१३२ | १० | स्यिति | स्थिति |
| " | ११ | रहितम | रहितम् |
| २१३९ | १४ | प्रणावा | प्रणवो |
| २१५१ | ३ | मास्यान्ते | मास्यन्ते |
| २१५५ | १८ | सुवन्तः | सुरवन्तः |
| २१५७ | ७ | प्रकाके | प्रकारके |
| २१८९ | १९ | बीलका | विल्वका |
| २१९० | १६ | प्रभविष्णावं | प्रभविष्णावे |
| २१९१ | १७ | क्रिया | क्रियाम् |
| २१९३ | १५ | यज्जुहासि | यज्जुहोसि |
| २२०३ | १० | परमकाल्यण | परमक-ल्याण |
| २२०५ | १९ | सम्यग्व्यव-सितः | सम्यग्-व्यवसितः |
| २२१० | ११ | कोन्तेय | कौन्तेय |
| २२२१ | १२ | हेओर | है और |
| २२२३ | ६ | अन्तःक-रणम | अन्तःक-रणम् |



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

# श्रीमद्भगवद्गीता



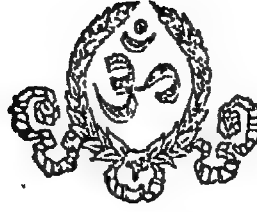
उपासनाख्ये द्वितीयेषट्के

## दशमोऽध्यायः


अलवरराजधान्याम्
श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये
मुद्रितः

प्रथम वार
१०००

सम्वत् १९८५
विक्रमी।
सन १९२८ ई०



⊛ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ⊛

श्रीज्ञाननलिनविकाशिने परमतत्त्वप्रकाशिने नमः ।

श्रीदुर्योधनदर्पदलिने वृन्दाविपिनविलासिने नमः ।

अथ




उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

## * दशमोऽध्यायः *

ॐ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्वरस्य

शततमं वेश्यं सर्व ताता दिवो दासमतिथिं॰ पदावम् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! (ऋ० अ० ३ मं० ४ सू० २६)



जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥

अहा ! आज जिधर जिस मार्ग होकर निकलता हूं वही अनगिनत पथिकोंके पैरोंसे रौंदाहुआ देख पडता है। इतना ही नहीं वरु थोडा ही आगे बढकर देखनेसे सहस्रों रथोंके चक्रों ( पहियों ) की लकीरें एक दूसरीपर ऐसी गुथीहुई पडी हैं, कि दृष्टिमें एक जालसी बनीहुई दीखती हैं। न जाने यह कौन देश है? कोई इधर आता जाता तो उससे पूछलेते । अच्छा इन मार्गोंमें किसी एक मार्गके किनारे बैठजाओ और आंखें मूंदकर उस महाप्रभुका ध्यान करो ! कोई इन मार्गोंका भेदिया आप ही इधर आजावेगा।

थोडी देरके पश्चात् आंखें खोलकर अहा ! देखो ! वह देखो ! कोई तेजःपुंज महापुरुष हस्तकमलमें एक पुस्तक लिये इधर ही को पधाररहे हैं। थोडा आगे बढकर— यह तो सर्वमार्गोंके सारतत्त्व जाननेवाले श्रीगुरुदेव हैं जिनके करकमलोंमें श्रीमद्भगवद्गीताकी पोथी सुशोभित होरही है।

शिष्यको अभिवादन करतेहुए देख ! श्रीगुरुदेव आशीर्वचनोंके साथ मस्तकपर हाथ रख 'गीता' पुस्तक दे इसके द्वारा सर्व

मार्गोंके जाननेके निमित्त अलौकिक दिव्यदृष्टि प्रदान कर अन्तर्द्धान होजाते हैं ।

शिष्य गीता खोलकर— अहा ! यह देश तो संसार-रूप कुरुक्षेत्रकी रणभूमि है जहां वीरोंके आनेजानेके सहस्रों मार्ग दिखायी देरहे हैं । ये वीर आयुष्पर्यन्त संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंके त्रिशूल, साहसके खड्ग, धीरजके धनुष और ब्रह्मचर्यके तीक्ष्ण बाणों से प्रपंचरूप महाभारतयुद्धके सम्पादन करनेमें तत्पर होरहे हैं । सच है ! इस संसाररूप कुरुक्षेत्रके प्रपंच रूप महाभारतकी अनगिनत सेनाओंके सम्मुख पाण्डवीय महाभारतकी केवल १८ अक्षौहिणी सेनाओंकी क्या गिनती है ? भारतीय महाभारतकी तो केवल १८ दिनोंमें समाप्ति होगयी थी पर इस प्रपंचरूप घोर महाभारत-युद्धकी तो सहस्रों युग पर्यन्त भी समाप्ति नहीं दीखपडती ।

भारतीय महाभारतमें दुर्योधनके रचेहुए लाक्षागृहसे युधिष्ठिरने एक सुरंग खोदकर प्राण बचालिया था पर यहां कालरूप दुर्योधनकी रचीहुई चिताके लाक्षागृहसे बचनेके लिये ब्रह्मरन्ध्ररूप सुरंग होकर निकलना कठिन और दुस्तर देख पडता है । पर भाई! थोडा धीरज धरो घबराओ मत । देखो ! उस महाभारतमें तो वीरोंकी रक्षानिमित्त केवल १८ अक्षौहिणीपति नियत कियेगये थे, पर हमारे तुम्हारे इस संसारचक्रके प्रपंचरूप महाभारतसे रक्षा करनेके लिये अनेक चतुर अक्षौहिणीपति नियत कियेहुए हैं जो प्राण बचाकर इस युद्धमें विजय प्राप्त करनेके सैकडों मार्ग दरशारहे हैं ।

देखो! वशिष्ठ, विश्वामित्रादि सातों ऋषि, व्यास, गौतम, कणादादि छवों दर्शनकर्त्ता, सनक, सनत्कुमारादि चारों ब्रह्मवेत्ता, जडभरत, दत्तात्रेयादि नवों परमहंस, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज शौनकादि अनेकानेक मुनि, जनक, अश्वपति, जयवलि इत्यादि अनेक राजर्षि तथा गौडपादाचार्य, शंकराचार्य रामानुजादि अनेक आचार्य ये सबके सब चतुर अक्षौहिणीपति इस प्रपंचरूप महाभारतको विजय करनेकी अनेक युद्धकलाओंकी बातें कररहे हैं। इन्होंने इतने मार्ग दरशादिये हैं, कि जो चाहे अपने अधिकारानुसार आनन्दपूर्वक काम, क्रोधादि शत्रुओंपर विजय पाताहुआ इस घोर युद्धसे मुक्त होजावे। पर इन सब मार्गोमें वह देखो! एक राजपथ दिखाई देरहा है जिसको भगवद्भक्तिमार्गके नामसे पुकारते हैं। जहां अन्य सब आश्रयोंको छोड केवल भगवच्चरणारविन्दका आश्रय लेना पडता है। यह मार्ग कैसा सुहावना है ? जिसकी दोनों ओर भगवत्कृपा और क्षमाकी अमराइयां लगीहुई हैं जिनकी शीतल छायाके नीचे यह जीव तीनों तापोंसे बचताहुआ कर्म, उपासना और ज्ञानरूप शीतल-मन्द-सुगन्ध-समीरकी मृदुल हिलोल लेताहुआ आनन्दपूर्वक गोलोकको चलाजाता है।

चलो सखे! हम-तुम भी इसी सुहावने मार्ग होकर चलें और इसके विचित्र आनन्दका अनुभव करें। अहा! वह देखो! इसी मार्गमें प्रेमरूप रथपर खडेहुए आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको कुछ उपदेश कररहे हैं। चलो हम-तुम भी सुनें क्या कहते हैं।

श्री भगवानुवाच ।

मू०— भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

पदच्छेद— महाबाहो ! ( महान्तौ युद्धादि स्वधर्मानुष्ठाने महत्परिचर्यायां वा कुशलौ बाहू यस्य तत्सम्बुद्धौ ) भूयः ( पुनः ) एव, मे ( मदीयम् ) परमम् ( निरतिशयवस्तुनः प्रकाशकं परमात्मनिष्ठम् ) वचः ( वाक्यम् ) शृणु ( श्रुतिगोचरं कुरु ) यत् ( परमम् वचः ) अहम् ( परमाप्तः ) हितकाम्यया ( हितेच्छया ) ते (तुभ्यम्) प्रीयमाणाय ( यतस्त्वं मद्वचनात् प्रीयसे अतस्ते प्रिय सत्याय प्रिय प्रेप्सवे वा ) वक्ष्यामि ( कथयिष्यामि ) ॥ १ ॥

पदार्थः— ( महाबाहो ! ) हे महान् पराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन! (मे, परमं, वचः ) मेरे परम श्रेष्ठ परमात्मनिष्ठ वचन को ( भूयः, एव ) फिर एकबार निश्चयरूपसे ( शृणु ) सुन ! ( यतः ) क्योंकि ( अहम् ) मैं ( हितकाम्यया ) तेरे हित करने की इच्छासे ( ते, प्रीयमाणाय ) अमृतके समान मेरे वचनको प्रीतिपूर्वक पीनेवाले तेरे निमित्त इस रहस्यको ( वक्ष्यामि ) अवश्य कहूंगा ॥ १ ॥

भावार्थः— इससे पहले यह कथन होचुका है, कि सातवें से लेकर बारहवें अध्याय तक भगवान् केवल उपासनाका वर्णन करेंगे सो सातवेंसे लेकर नवें अध्याय पर्यन्त भगवान्ने अपने उपासनीय सोपाधिक और निरुपाधिक स्वरूपोंका वर्णन किया । अर्थात्

ध्याननिष्ठ प्राणियोंके लिये सोपाधिक और ज्ञाननिष्ठ प्राणियोंके लिये निरुपाधिक स्वरूपका कथन किया क्योंकि उपासनाके लिये ही ये दोनों स्वरूप हैं।

सातवें अध्यायमें 'रसोऽहमप्सु' और आठवें अध्यायमें "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि वचनोंसे अपने सोपाधिक स्वरूपकी विभूतियोंका तथा नवें अध्यायमें "अहं क्रतुरहं यज्ञः" इन वचनोंसे अपने निरुपाधिक स्वरूपकी विभूतियोंका संक्षेपसे वर्णन किया।

अब करुणासागर सबगुणआगर आनंदकन्द श्रीकृष्णचन्द्र जीवोंपर दयाकरके उनही अपनी विभूतियोंको फिर इस दसवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन करना आरंभ करते हैं।

शंका— भगवान इन विषयोंका वर्णन तो पिछले कई अध्यायों में कई वार करचुके हैं फिर इस अध्यायमें पुनरुक्तिकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान— एवम्प्रकार पुनरुक्तिका मुख्य कारण यह है, कि भगवतकी विभूतियां दुर्विज्ञेय हैं अर्थात् अत्यन्त क्लेश करकेभी नहीं जानी जातीं। प्रमाण श्रु०— "न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्" ( केन० श्रु० ३ )

अर्थ— श्रुति कहती है, कि उस महाप्रभुके स्वरूप तथा विभूतियोंको यथार्थरूपसे न जानती हूं और न अपने शिष्योंको जना सकती हूं। इसीलिये दुर्विज्ञेय होनेके कारण भगवान् बार-बार

इन अपनी विभूतियोंको अर्जुनके प्रति कथन करते हैं । क्योंकि जो वस्तु अत्यंन्त दुर्विज्ञेय और क्लिष्टतर होती है वह वारंवार समझानेपर भी समझमें नहीं आती । भगवान् अपना स्वरूप आपही जानते हैं और आपही कथन करसकते हैं " नान्यदतोस्ति विज्ञात् " इस श्रुतिके वचनसे सिद्ध है, कि उनके अतिरिक्त उनके रूपका कोईभी जाननेवाला नहीं है अर्थात् अन्य किसी ब्रह्मादि देवोंसे उनकी विभूतियां नहीं जानी जातीं । सो भगवान् स्वयं आगे ' न मे विदुः सुरगणाः ' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट कर कहेंगे शंका मत करो !

अब भगवान् स्वयम् विना पूछे ही अर्जुनके प्रति अपनी विभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः] हे विशालपराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! फिर तू एकवार एकाग्रचित्त होजा और मेरे परमश्रेष्ठ परमात्मनिष्ठ वचनको सुन !

भगवान्ने जो अध्याय आरंभ करते ही अर्जुनको " महाबाहो " ऐसे विशेषणसे विभूषित किया तिसका कारण यह है, कि अर्जुनकी भुजाएं जानु तक लम्बी थीं और जिस किसी प्राणीकी भुजाएं ऐसी विशाल होती हैं वह अवश्य युद्धादिके सम्पादनमें एवं अपने धर्मकी रक्षामें अत्यन्त रुचि रखता हुआ युद्धमें विजय पाता है और धर्म द्वारा अनुपम यशका लाभ करता है । क्योंकि उसकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण और कुशाग्र होती है, कि कठिनसे भी कठिन विषयोंको शीघ्र समझ जाता है । इसी कारण भगवान् अर्जुनको " महाबाहो " कह-

कर यह जता रहे हैं, कि तू यदि एकाग्रचित्त होकर मेरे वचनोंको श्रवण करेगा तो अवश्य मेरे सारगर्भित रहस्यों तथा मेरे स्वरूप और विभूतियोंको शीघ्र समझ जावेगा।

भगवान् कहते हैं, कि [ **यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया** ] जिस रहस्यको मैं तुझे अपना प्रिय समझकर तेरे हितसाधनके लिये कहूंगा। अर्थात् जैसे प्राणी अमृत पान करनेसे प्रसन्नताको प्राप्त होता है और एकबार फिर पीनेकी इच्छा करता है इसी प्रकार तू अमृतके समान मेरे वचनोंको कर्णकुहरोंसे प्रेमपूर्वक गोचर-कर रुचिपूर्वक पीरहा है अतएव ये तुझको अत्यन्त प्रियकरे हैं सो इसलिये मैं फिर एक अद्भुत रहस्य तेरे सन्तोष निमित्त कहूंगा। यह मेरा कहना "हितकाम्यया" तेरे हितसाधनके लिये होगा ॥ १ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें अपने स्वरूप और विभूतियोंका दुर्विज्ञेय होना स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं—

**मू०— न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।**
**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्व्वशः ॥ २ ॥**

पदच्छेदः— सुरगणाः ( ब्रह्मादयः ) मे ( मम ) प्रभवम् ( प्रभावम्। प्रभुशक्त्यतिशयम्। जन्मरहितस्यापि नानाविभूतिभिराविर्भावम् ) न, विदुः ( जानन्ति ) महर्षयः ( भृग्वादयः ) [ च ] न [ विदुः ] हि ( यतः ) अहम् ( सर्वभूतमहेश्वरः ) देवानाम्, महर्षीणाम्, च, सर्वशः ( सर्वप्रकारैः ) आदिः ( प्रथमः। पूर्वः। कारणम् वा ) ॥ २ ॥

पदार्थः— ( सुरगणाः ) ब्रह्मादि देवगण ( मे; प्रभवम् ) मेरे प्रभावको ( न, विदुः ) नहीं जानते हैं तथा ( महर्षयः, न ) + भृगु अंगिरा इत्यादि महर्षि भी नहीं जानते हैं ( हि ) क्योंकि ( अहम् ) मैं ( देवानाम् ) सब इन्द्रादि देवताओं तथा ( महर्षीणाम् ) सब अंगिरादि महर्षियोंसे ( सर्वशः ) सर्वप्रकार ( आदिः ) प्रथम हूं अर्थात् उनका आदि कारण हूं ॥ २ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपने स्वरूप तथा अपनी विभूतियोंकी दुर्विज्ञेयताका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ] देवगण तथा महर्षिगण मेरे स्वरूपको नहीं जानते । अर्थात् मेरी जो नाना प्रकारकी गुप्तसे गुप्त तथा बडीसे बडी अद्भुत शक्तियोंसे युक्त अतर्क्य, अग्राह्य और अचिन्त्य विभूतियां हैं उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बृहस्पति, इन्द्र, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, आठों वसु इत्यादि देवगण तथा वशिष्ठ, व्यास, भृगु इत्यादि महर्षिगण भी नहीं जानते ।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि देवता, ऋषि और महर्षि जो सर्वज्ञ कहलाते हैं वे भी जब मुझको मेरी शक्तियोंसहित नहीं जानते तो अन्य मनुष्यादिकोंकी क्या गणना है ? । क्योंकि—

---

+ भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अंगिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वशिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः ।
परत्वेनर्षयस्तस्माद्भूतास्तस्मान्महर्षयः ॥ ( मत्स्यपु० अ० १२० )

" ॐ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् " " न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति " " अचिन्त्यमग्राह्य...." " ॐ बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति " " न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा " इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है, कि उस महाप्रभुका स्वरूप दुर्विज्ञेय है।

यदि कोई कहे, कि मैं उसको जानता हूं तो उसका ऐसा कहना मिथ्या है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् " ( के० खं० २ श्रु० १ )

अर्थ— प्रजापति अपने शिष्यके प्रति कहते हैं, कि हे सौम्य! यदि तू ऐसा मानता हो, कि उस ब्रह्मका स्वरूप सुवेद है अर्थात् सुलभतासे जानने योग्य है तो मैं अवश्य ऐसा कहूंगा, कि " दभ्रमेवापि नूनम् " तू निश्चय करके कुछ नहीं जानता जो कुछ जानता भी है वह " दभ्रम " अल्प करके जानता है अर्थात् नहीं जानता क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप जानने योग्य नहीं है। कारण यह है, कि " यज्ज्ञेयं तज्जडम " इस न्यायके वचनसे जो जानने योग्य वस्तु है वह जड होती है और जाननेवाला चेतन होता है। इसलिये यदि तू अपनेको ब्रह्मका जाननेवाला कहेगा तो वह ब्रह्म जड समझा जावेगा चेतन नहीं। पर ऐसा नहीं वह तो चेतन है और सबोंका ज्ञाता है उसका ज्ञाता कोई भी नहीं है। इसलिये मैं तुझे कहूंगा, कि तू पूर्णप्रकार नहीं जानता थोडा जानता है। इतना कहकर प्रजापति शिष्यकी

परीक्षा निमित्त फिर कहते हैं, कि "त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्" क्या तू उस ब्रह्मके रूपको जानता है ? अर्थात् उस ब्रह्मकी अध्यात्म उपाधिसे युक्त सूक्ष्मस्वरूप तथा अधिदैव और अधिभूत उपाधिसे युक्त जो स्थूल स्वरूप हैं तिनको तू जानता है ? क्या वह तुझसे जानने योग्य है ? कदापि नहीं। क्योंकि श्रुति कहती है– "ॐ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।" (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १५)

अर्थ— वह शब्दादिका विषय नहीं है, अव्यय है, अरस है, नित्य है और अगन्धवत है इसी कारण किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं कियाजाता।

पुनः प्रजापति शिष्यके प्रति कहते हैं, कि क्या तू उस ब्रह्मको जानता है ? नहीं ! नहीं जानता !! अर्थात् "यदस्य त्वम्" जो

---

शंका— यदि उस ब्रह्मका कोई रूपही नहीं है तो "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानघनमेव" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दमयो अभ्यासात्" इन वचनोंसे उसके स्वरूपोंकी पुष्टि क्यों कीगयी ? अर्थात् वह आनन्दस्वरूप है, सत्य है, चित् है और अनन्त है इत्यादि ऐसा कहना तो उसको स्वरूपवाला सिद्ध करना है ऐसा क्यों ?

समाधान— अरे प्रतिवादी तू मेरे वचनोंको स्मरण नहीं रखता, मैं तो अनेकों वार तुझसे कहआया हूँ, कि देह, इन्द्रिय इत्यादि सब मिथ्या और दुःखस्वरूप हैं इनसे परे दिखानेके तात्पर्यसे उस ब्रह्मको सत्य और सुखस्वरूप कहा है अर्थात् वाचारम्भण विकारके कारण उपाधिकी अपेक्षा उसे विज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, सत्य, चित् और अनन्त कहा है पर यथार्थमें वह अतर्क्य और अचिन्त्य ही है। ऐसी पोच्च शंका वार-वार मत कियाकर !

तू इस ब्रह्मको अध्यात्म उपाधि करके जीव और अधिदैव उपाधि करके शरीरसे परिच्छिन्न जानता है तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिको ब्रह्मरूप करके जानता है ऐसा तेरा जानना उपाधियों करके सत्य होवे तो होवे पर इतना जाननेपर भी तू अल्पही जानता है । क्योंकि " अथ नु मीमांस्यमेव ते " तू पूर्णप्रकार विचारकर देख, कि तू उसके स्वरूपको जानता है वा नहीं ।

इतनी आज्ञा पाकर शिष्यने एकान्तस्थानमें जाकर विचारना आरंभ किया एवम् प्रकार बहुत दिनोंतक विचारनेके पश्चात् फिर अपने गुरुदेव प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होकर बोला " मन्ये विदितम् " मैं ऐसा जानता हूं, कि मैंने ब्रह्मको जाना है । तब गुरुने कहा नहीं, हे सौम्य ! तूने केवल उपाधिसम्बन्धकरके उसके स्वरूपको जाना है । तू फिर जाकर कुछ काल विचार कर । तब शिष्यने जो उपाधि रहित होकर देखा और विचारा तो बोला— " नाहं मन्ये सुवेदेति " हां भगवन् ! मैं उसको सुवेद अर्थात् सुगमतापूर्वक जानने योग्य नहीं मानता । क्योंकि विचार करनेसे वह अगोचर है " अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ( केन० ख० २ श्रु० ३ )

अर्थात् नहीं जाननेवाला जानता है और जाननेवाला नहीं जानता ।

मेरे प्रिय पाठको ! केनोपनिषद्ने इस ब्रह्मके स्वरूपके जानने और नहीं जाननेके विषय बहुत विचारा है और यही सिद्धान्त किया है, कि उसका यथार्थस्वरूप मन, बुद्धि और वचनोंसे परे है । इससे

इतर अन्य श्रुतियां भी इसी प्रकार प्रतिपादन करती हैं सो पूर्वअध्यायोंमें कही जाचुकी हैं ।

अब भगवानने जो कहा, कि मुझको कोई नहीं जानता इसका कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि [ **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः** ] मैं सब देवता और महर्षियोंका आदिकारण हूं अर्थात् सबसे पहले हूं। इसलिये ये देवता और महर्षि मुझको नहीं जान सकते । क्योंकि जो जिससे पीछे होता है वह अपनेसे पूर्व-वालेका वृत्तान्त नहीं जानसकता । पुत्र पिताके जन्मदिनका वृत्तान्त यथातथ्य नहीं जानसकता यह सिद्धान्त वाक्य है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह महाप्रभु कबसे है और कहांसे उत्पन्न हुआ है ? समयके फेरफारसे अब उसके स्वरूपमें कुछ अन्तर है अथवा ज्योंका त्यों है ? इन वृत्तान्तोंको कोई नहीं कहसकता ।

अब इस श्लोकमें " सर्वशः " कहनेसे भगवानका यही तात्पर्य है, कि इस सृष्टिके जितने कारण हैं सब मैं ही हूं अर्थात् उपादान कारण ( Material Cause ) निमित्तकारण ( instrumental Cause ) मूलकारण ( Primary Cause ) साधारण कारण ( General Cause ) असाधारण कारण ( Special Cause ) इत्यादि जिस कारणको लेकर पूछाजावे सब मैं ही हूं अर्थात् सब देव और ऋषियोंका कारणमात्र मैं ही हूँ तथा मन, बुद्धि, चक्षु इत्यादि इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी मैं ही आदि हूं। तात्पर्य यह है, कि जहां तक मनद्वारा ये देव और ऋषि दौड़ सकते हैं तिस मनाकाशका भी मैं आदि कारण हूं फिर, जहांतक

उनकी बुद्धिका गम है तिससे भी पहले हूं इसलिये मैं सर्वप्रकार इन देव और ऋषियोंसे आदि हूं इसी कारण सबको जानता हूं पर मुझे कोई भी नहीं जानता ॥ २ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह कहेंगे, कि मुझको जो प्राणी इस प्रकार सबोंसे आदि, जन्म रहित जानेगा उसे कौनसा फल प्राप्त होगा ?

**मू०— यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।**
**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥**

**पदच्छेदः—** यः, माम्, लोकमहेश्वरम् ( लोकानां महान्तमीश्वरम ) अजम् ( अजातम् । उत्पत्तिरहितम ) च ( तथा ) **अनादिम्** ( आदिरहितम । सर्वकारणकारणम् । न विद्यते आदि कारणं यस्य ) वेत्ति ( जानाति ) असम्मूढः ( संमोहवर्जितः ) सः, मर्त्येषु ( मनुष्येषु ) सर्वपापैः ( सकलदुष्कृतैः ) प्रमुच्यते ( मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

**पदार्थः—** ( यः ) जो प्राणी ( माम्, लोकमहेश्वरम् ) मुझको लोकोंका महान ईश्वर ( अजम ) जन्मरहित तथा ( अनादिम्, च ) आदिकारणसे भी रहित ( वेत्ति ) जानता है ( सः ) वह पुरुष ( मर्त्येषु ) सब मनुष्योंमें ( असंमूढः ) मोह रहित होकर ( सर्वपापैः ) सब संचित और क्रियमाण पापोंसे ( प्रमुच्यते ) छूटजाता है ॥ ३ ॥

**भावार्थः—** अब भगवान इस श्लोकमें अपनेको अज अर्थात

जन्मरहित जानने वालेका फल दिखलातेहुए कहते हैं, कि **[ यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ]** जो मुझ अज, अनादि और लोकमहेश्वरको यथातथ्य जानता है अर्थात् मैं जो सब लोकलोकान्तरोंका महान् ईश्वर हूं भूलोक, भुवर्लोकादि सातों लोक ऊपर और अतल, वितलादि सातों लोक नीचे तथा वृहस्पतिलोक, इन्द्रलोक, वरुणलोक, कुवेरलोक, गन्धर्वलोकादि अनेकानेक लोकलोकान्तरोंमें जितनी भूतमात्रकी रचनाएं हैं सबोंका उत्पन्न, पालन और संहारकरनेवाला मैं ही हूं, ये सब मेरी आज्ञामें हैं । सबोंका अन्तर्य्यामी अर्थात सबोंको नियमपूर्वक अपनी आज्ञामें रखनेवाला मैं ही हूं इसलिये मैं लोकमहेश्वर कहाजाता हूं । सो मुझ लोकमहेश्वरको जो पुरुष ' अज ' और ' अनादि ' जानता है अर्थात ऐसा जानता है, कि मैं किसीसे जन्म नहीं लेता और मेरी कहींसे भी किसी प्रकार उत्पत्ति नहीं है वही मेरा जाननेवाला है। क्योंकि कितनी भी पूर्वसे पूर्व समयकी संख्या करते चलेजाओ और जहांतक अंकोंकी गणना है तहांतक मस्तिष्क दौडाते चलेजाओ पर मैं तिससे पूर्व ही स्थित हूं ।

भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे शत ( १०० ) से पूर्व सहस्र वर्ष फिर सहस्रसे पूर्व दस सहस्र, फिर तिससे पूर्व लक्ष एवम् प्रकार महाशंख पर्यन्त पूर्वसे पूर्व गणना करते चले जाइये । फिर उस महाशंखको महाशंखसे गुणा करते चले जाइये फिर इस अंकको इतनी ही बार गुणा करदीजिये अधिक क्या कहाजावे ? सारे ब्रह्माण्डको सर्वत्र नीचे, ऊपर इस ( ० ) शून्य अंकसे भरदीजिये अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जितनी त्रसरेणु हैं उतनेही वर्ष पहलेका

अनुमान करलीजिये तो भी वह महाप्रभु उस संख्यासे पूर्वही रहेगा। इसी कारण वह अनादि है, सबोंका कारण है और उत्पत्तिस्थान है पर उसका कारण कोई भी नहीं और न कहीं उसकी उत्पत्ति कही जासकती है। "अन्यदेव तद्विदितात्" इस श्रुतिके वचनानुसार वह सब विदित वस्तुओंसे न्यारा है और "पूर्वेषामपि गुरुः" इस सूत्रके अनुसार जो सबोंसे पूर्व होनेवाले ब्रह्मादि हैं तिनका भी वह गुरु है अर्थात् तिनसे भी पहलेसे है। क्योंकि "कालेनानवच्छेदात्" पूर्वमें जो अभी कालकी संख्या इत्यादि बतायीगयी तिससे वह अवच्छिन्न नहीं है।

एवम् प्रकार जो भाग्यवान् प्राणी उसके चरणोंमें अनुराग रखनेवाला और उसकी महिमाका जाननेवाला है अर्थात् उसको अजन्मा और अनादि जानता है [ असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैःप्रमुच्यते ] सोही पुरुष मनुष्योंमें असंमूढ है और सब पापोंसे मुक्त होजाता है। अर्थात् सर्वप्रकारके विकारोंसे पूर्णमोहरूप अंधकारमयी रात्रिके दुःखसे विवर्जित है। अभिप्राय यह है, कि उक्त प्रकारके पुरुषोंसे इतर जो साधारण व्यक्ति है वह इस मायाजालकी अंधकारमयी रात्रिमें पडकर नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता है। जैसे दोनों आखोंसे अन्धा जो किसी अंधेरे घरमें रख दिया जाता है और उसमेंसे जब निकलना चाहता है तब उसका द्वार नहीं मिलनेके कारण बार-बार दीवालोंसे टकराकर ठोकरें खाता है, गिरताहै, पडता है, चिल्लाता है, कराहता है पर बाहर नहीं निकल सकता। इसी प्रकारे जिस प्राणीकी आंखोंमें अज्ञानताकी अंधियाली भरीहुई है और इस संसाररूप अंधेरे

घरमें अकेला पडाहुआ नाना प्रकारके दुःखोंसे दुखी रहता है। अथवा जैसे कोई पक्षी नवद्वारके पिंजरेमें पडा हुआ उससे निकलनेकी चेष्टा करता है परन्तु द्वारोंके खुले न रहनेके कारण फडफडाकर उडता-हुआ बारम्बार चोट खाकरे दुखी होता है, रोंगटे उखड जाते हैं, आंखे फूट जाती हैं और चोंच टूट जाती है इसी प्रकारे यह प्राणी इस नवद्वारके शरीरमें अज्ञानतावश सम्मूढ होनेके कारण नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगता है। जिसके विषय श्रुति यों दिखलाती है, कि "ॐ यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मा-यीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः" (छा० अ० ६ खं० १४ मं० १)

अर्थ— हे सौम्य! जैसे कोई चोर वा डाकू किसी पुरुषको उसकी आंखोंपर पट्टी बांधकर उसके गन्धारनगरसे निकाल किसी निर्जन वनमें छोडदेवे तो वह जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणकी ओर घूमता हुआ नाना प्रकारके कण्टकोंसे बिंधता हुआ, भयंकर खड्डोंमें गिरताहुआ, चिल्लाता, चींखता और कराहता है, कि हा! देखो! किसीने मेरी आखें बांधकर यहां छोड दिया है। उसके इस दुःखको सुनकर "ॐ तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवो-पसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान्...." (छां अ० ६ खं० १४ मं० २)

अर्थ— तिसकी आंखकी पट्टी खोलकर कोई दयावान् पुरुष कहदेवे, कि इधर गन्धार देश है तू इसी दिशाको जा तब वह पूछता-

ताहुआ एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको बडी बुद्धिमत्ताके साथ जाता हुआ अपने गन्धारदेशको पहुंचजाता है और दुःखोंसे मुक्त हो परमसुखको प्राप्त होता है।

इस श्लोकमें इसी विषयको पूर्णप्रकार दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी इस संसारमें अन्धेके समान सम्मूढ होकर नाना प्रकारके पापोंको भोगता है वह जब किसी परमगुरुद्वारा ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा पाता है और उसके ज्ञान तथा वैराग्यकी आंखें खुलजाती हैं तब वह असम्मूढ होकर अर्थात् परम मधावी और पण्डित होकर मेरे स्वरूप और ऐश्वर्य्योंको भलीभांति पहचानकर सब प्रकारके पापोंसे छूट जाता है ॥ ३ ॥

अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि वे कौनसी विभूतियां हैं ? जो मुझसे उत्पन्न होती हैं और जिनके जाननेसे प्राणी असम्मूढ कहा जाता है ।

मू०— बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमासत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयञ्चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

पद छेदः— बुद्धिः ( अन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम् ) ज्ञानम् ( आत्मादिसूक्ष्मतत्त्वानामवबोधः ) असम्मोहः ( प्रत्युत्पन्नेषु ज्ञातव्येषु विवेकपुरस्सराबुद्धिप्रवृत्तिः । व्याकुलत्वाभावः ) सत्यम् ( यथार्थकथनम् ) दमः ( स्वविषयस्रोतसि प्रवर्त्तमानानां

बाह्येन्द्रियाणां वशीकरणम् ) शमः ( अन्तःकरणसंयमः ) सुखम् ( अनुकूलवेदनीयम् । आह्लादः ) दुःखम् ( प्रतिकूलवेदनीयम् । तापः ) भवः ( उत्पत्तिः ) अभावः ( नाशः ) भयम् ( भीतिः । त्रासः ) च ( तथा ) अभयम् ( भयाभावः ) एव ( निश्चयेन ) च ( पुनः ) अहिंसा ( मनोवाक्कायैर्भूतानां पीडनम् ) समता ( मित्रामित्रसमचित्तता ) तुष्टिः ( यथासम्पन्नवस्तुना सन्तोषः ) तपः ( द्वन्द्वसहनम् ) दानम् ( न्यायार्जितस्य वित्तादेः पात्रे त्यागः ) यशः ( सत्कीर्त्तिः ) अयशः ( दुष्कीर्त्तिः ) भूतानाम् ( प्राणिनाम् ) [ एते ] भावाः ( पूर्वोक्ता बुद्ध्यादयः ) मत्त एव ( मत्सकाशादेव ) भवन्ति ( उत्पद्यन्ते ) ॥ ४, ५ ॥

**पदार्थः—** ( बुद्धिः ) सार असारका निश्चय करनेवाली अन्तःकरणवृत्ति ( ज्ञानम् ) आत्मादि सूक्ष्मतत्त्वोंका बोध ( असम्मोहः ) किसी कार्य्यमें व्याकुलताका अभाव ( क्षमा ) जो कोई अपनेको क्लेश देवे पर उसके बदले उसकी कुछ हानि करनेका विचार न करना ( सत्यम् ) जैसा देखा हो, सुना हो तथा अनुभव किया हो उसी प्रकार ज्योंका त्यों कहदेना ( दमः ) बाह्य इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे रोकना ( शमः ) अन्तःकरणको अपने हाथ रखना चञ्चल न होने देना ( सुखम् ) अपने अनुकूल जो आनन्दकी प्राप्ति अर्थात् पूर्ण आह्लाद ( दुःखम् ) अपने प्रतिकूल जो अपनी दशाका अनुभव अर्थात् संताप ( भवः ) अपना उद्भव फिर ( अभावः ) अपना नाश ( भयम् ) त्रास ( अभयम् ) निर्भयता ( च ) और ( एव ) निश्चय करके ( अहिंसा ) पराये जीवको पीडा न देना

( समता ) रागद्वेषसे रहित होकर शत्रु मित्रमें समान दृष्टि रखना ( तुष्टिः ) जो कुछ प्रारब्धानुसार लाभ हो उतने ही पर सन्तोष करना ( तपः ) इन्द्रियोंको वश कर भगवत्प्राप्तिके निमित्त किसी प्रकारका शारीरिक क्लेश उठाना अथवा मन, बुद्धि इत्यादिको एकाग्रकर विचार करना ( दानम् ) देश काल जानकर सत्पात्रको कुछ देना ( यशः ) शुभ कर्मोंके कारण लोकोंमें अपनी बडाईकी प्रसिद्धि ( एते, पृथग्विधाः ) ये भिन्न भिन्न प्रकारके जो ( भूतानाम् ) प्राणियोंके ( भावाः ) भाव हैं वे उनके कर्मानुसार ( मत्तः ) मेरेहीसे ( भवन्ति ) प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरेही द्वारा जीवोंको हानि, लाभ यश, अपयश, सुख-दुःख इत्यादि सब बातें प्राप्त होती हैं ॥ ४, ५ ॥

भावार्थः— अब श्रीसर्वलोकलोकेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र अपनी लोकमहेश्वरताको विस्तारपूर्वक दिखलाते हुए कहते हैं, कि प्राणियोंको जो कुछ प्राप्त होता है सब मेरे ही द्वारा प्राप्त होता है। जैसे किसी चक्रवर्ती राजाके भृत्योंको तथा उसकी प्रजाओंको जो कुछ सुख दुःखकी प्राप्ति होती है वह उस चक्रवर्तीही द्वारा होती है।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि धन, सम्पत्ति, भोजन, वस्त्र, भेष, भूषा, महल, अटारी, हाथी, घोडे, पालकी, रथ इत्यादि सुखोंके पदार्थ तथा नाना प्रकारके दण्ड, कारागारका असह्य भार, बेतोंकी मार इत्यादि दुःखोंके पदार्थ सब उसी राजासे प्राप्त होते हैं अर्थात् जो जैसा करता है उसी प्रकारका सुख वा दुःख पाता है। क्योंकि

वह चक्रवर्ती अपने देशभरका शिरोमणि है और देशभरकी संभाल उसके अधीन रहती है । यदि वह ऐसा न करे तो "देश" नियममें न रहने पावे और चोर, चाण्डाल, डाकू हत्यारोंकी संख्या बढ जावे तथा भोले-भाले सीधेसादे सज्जनोंको और साधु-महात्माओंको नाना प्रकारके दुःख होने लगजावें । सारी प्रजा दुःखसे आक्रान्त होजावे । अन्नका अभाव होकर सर्वत्र दुःख फैलजावे तथा नाना प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होजावे जैसा, कि अन्यायी राजाओंके देशमें हुआ करता है । इनही उपद्रवोंको दूर करनेके निमित्त राजा धूर्त्तोंको दण्ड देता है सज्जनोंकी उन्नति करता है अर्थात् बडे विचारके साथ जो जैसा करता है उसके साथ तदनुसारही वर्त्ताव करके देशको अपने नियममें रखता है ।

इसी प्रकार वह भगवान् अपने सारे ब्रह्माण्डको नियममें रखने के तात्पर्यसे जो जैसा अधिकारी होता है उसको वैसा ही फल देता है । क्योंकि वह सबोंका ईश है अर्थात् लोकमहेश्वर है ।

इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [ बुद्धिर्ज्ञान-मसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ] १. बुद्धि, २. ज्ञान, ३. असंमोह, ४. क्षमा, ५. सत्य, ६. दम ७. शम इत्यादि जो सात्विक और पारलौकिक तत्त्व हैं ये प्राणियोंको मुझहीसे प्राप्त होते हैं ।

पाठकोंके बोधार्थ उक्त बुद्धि, ज्ञान इत्यादिका वर्णन यहां स्वच्छ-रूपसे विलग-विलग करदियाजाता है—

१. बुद्धिः— अन्तःकरणकी जो निश्चयात्मिका वृत्ति है जिसके द्वारा प्राणी अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तत्त्वोंको समझ सकता है उसीको बुद्धिके नामसे पुकारते हैं। जो बुद्धिमान होता है वह अपनी बुद्धिद्वारा समझजाता है, कि यह संसार असार है, अनित्य है और क्षणभंगुर है, केवल एक परमात्मा अजर है, शाश्वत है और नित्य है। क्योंकि " बुद्धिर्विवेचनारूपा सा ज्ञानजननी श्रुतौ " ( ब्रह्मवै० प्रकृति खं० अ० २३ ) वह बुद्धि जोसार असारकी विवेचना करनेवाली है सो ही मानो ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली माता है। ऐसी बातें श्रुतियोंमें भी कथन कीगयी हैं।

न्यायके मतसे यह बुद्धि दो प्रकारकी होती है अनुभूति और स्मृति। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो समझमें आवे उसे ' अनुभूति ' और जो अपनी शक्तिद्वारा बुद्धिसत्तामें स्थिर रहे अर्थात स्मरण रहे उसे ' स्मृति ' कहते हैं।

भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इस गीताके अठारहवें अध्यायमें श्लो० ३०, ३१, ३२ द्वारा इस बुद्धिका वर्णन करेंगे जहां यह स्पष्टरूपसे दिखलावेंगे, कि बुद्धि गुणोंके भेदसे सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकारकी होती है। यहांतक तो भगवानने अपने ऐश्वर्यका पहला अंक दिखलाया। अब दूसरा सुनो—

२. ज्ञानम्— ( विशेषेण सामान्येन चावबोधः ) अर्थात् विशेष तथा सामान्य रूपसे जो बोध होवे उसे ज्ञान कहते हैं जैसे मोक्ष, शिल्प और शास्त्रोंका जो ज्ञान है सो विशेष ज्ञान है और जो घटपटादिका ज्ञान है वह सामान्य ज्ञान है। फिर मोक्षधर्म नामक ग्रन्थमें लिखा है,

कि " एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः । आत्मनो व्यापिनस्तस्तु ज्ञानमेतदनुत्तमम् । "

अर्थ— बुद्धि और मन तथा अन्य सब इन्द्रियोंकी जो एकाग्रता है तथा जिसके द्वारा आत्माको सर्वव्यापक जानता है उसे ज्ञान कहते हैं।

फिर न्यायके मतसे " अप्रमा च प्रमा चैव ज्ञानं द्विविधमुच्यते " ज्ञानके दो भेद हैं-- अप्रमा और * प्रमा ( भाषापरिच्छेदः ) फिर " सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म " इस श्रुतिके वचनानुसार यह ज्ञान साक्षात् ब्रह्मस्वरूपही है । सबोंमें उत्तम ज्ञान क्या है जो यथार्थरूपसे ज्ञानीकी ही बुद्धिमें भान होता है सो कहते हैं—

" सर्वभूतेषु गोविन्दो वहुरूपो व्यवस्थितः ।
इति मत्वा महाप्राज्ञः प्रतिकूलं न कारयेत् ॥ "

( वह्निपु० यज्ञानुशासनअध्यामें देखो )

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी सर्वत्र सब भूतमात्रमें गोविन्दको ही नाना रूप धारण कियेहुए देखता है और ऐसा जानकरे इसके प्रतिकूल आचरण नहीं करता वही यथार्थ ज्ञानी है और उसके इसी प्रकारके अवबोधको यथार्थज्ञान कहते हैं ।

इसका वर्णन भगवान् सातवें अध्यायमें करआये हैं फिर आगे १३ वें और अठारहवें अध्यामें विस्तारपूर्वक करेंगे इसी कारण यहां संक्षेपसे लिखा है ।

---

* प्रमा— " तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा यथा रजते इदं रजतमिति ज्ञानम् " जो वस्तु जैसीहो उसी प्रकारके अनुभव करनेवाले ज्ञानको प्रमा कहते हैं । जैसे चांदीमें चांदीका ज्ञान होना और विपरीत रजतमें सीप वा सीपमें रजतका जो ज्ञान उसे अप्रमा कहते हैं ।

३. असंमोहः– ( मुह वैचित्र्ये इति धात्वर्थानुसारात् अज्ञानमात्रं मोहः ) अर्थात् मुह धातुका अर्थ विकृतचित्त होता है सो अविद्या द्वारा यह चित्त विकारको प्राप्त होता है इसलिये अज्ञानमात्रको मोह कहते हैं। तिस मोहका सम्यक्प्रकारसे मनुष्योंमें जकडकर बैठजानेका नाम संमोह है सो स्वयं अपने कर्त्तव्यसे प्राणियोंमें उत्पन्न होता है अर्थात् अज्ञानताके कारण प्राणी असत्यको सत्य और शत्रुको मित्र तथा हानिको लाभ मानकर किसी विशेष दुःखमें फंसजाता है। तथा

"मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम्।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्त्तितः॥"

( पाद्मे क्रियायोगसारे अ० १६ )

अर्थ— यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, इसी प्रकार अन्य प्रकारके विषयोंमें जो इनका ममत्व है सो ही मोह है। तिनके साथ आयुष्पर्य्यन्त निवास करनेसे उनके सुख दुःखका संगी बननेसे जो अहर्निश उनकी हानि और उनका लाभ तथा उनके जीवन और मरणसे अथवा धनसम्पत्तिके नाश होजानेसे जो व्याकुलता बढती है उसे भी संमोह कहते हैं। तिस व्याकुलताके अभावको असम्मोह कहते हैं।

४– क्षमा– वृहस्पतिका वचन है, कि "बाह्ये चात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्। न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता।"

अर्थ–जो कोई अपनेको शारीरिक अथवा आत्मिक दुःख देवे पर जो प्राणी अपने दुःख देनेवालेपर न क्रोधकरे और न उसको

हनन करे उसी प्राणीका नाम क्षमाशील है और इसी गुणको क्षमा कहते हैं।

इसी तात्पर्यको मत्स्यपुराण अ० १२ में यों कहते हैं—

" आक्रुष्टोऽभिहितो यस्तु नाक्रोशेन हनेदपि।
अदुष्टैर्वाङ्मनः कायैस्तितिक्षुश्च क्षमा स्मृता ॥ "

( अर्थ स्पष्ट है )

महाभारतमें युधिष्ठिर द्रौपदीसे कहते हैं—

" क्षमा धर्म्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेव जानाति स सर्व्वं क्षन्तुमर्हति ॥
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥
तां क्षमामीदृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥
क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता।
यदा हि क्षमते सर्व्वं ब्रह्मं सम्पद्यते तदा ॥
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्।
इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ "

( अर्थ स्पष्ट है। ३। २। ६। ५ )

मुख्य अभिप्राय यह है, कि युधिष्ठिर अपनी धर्मपत्नी द्रौपदीसे कहते हैं, कि जो कुछ सारतत्त्व है क्षमाहीमें है। यज्ञ तथा वेदादि अध्ययनका जो फल है सो केवल क्षमासे प्राप्त होता है। क्षमा

साक्षात् ब्रह्मस्वरूपही है तथा भूत, भविष्य, जप, तप, शौच इत्यादि सब क्षमा ही हैं क्षमाहीने इस जगत्को धारण कियाहै । यह पृथिवी इसी कारण क्षमाके नामसे पुकारी जाती है क्योंकि "क्षमते ह्यात्मोपरिस्थानां जीवानाममपराधं या जो अपने ऊपर रहनेवाले जीवोंके मल, मूत्रादि त्याग करनेके दोषोंको क्षमा करती है इसी कारण क्षमाके नामसे पुकारी जाती है । सो युधिष्ठिर द्रौपदीसे कहते हैं, कि हे कृष्णे ! जो यह क्षमातत्त्व है, जिसमें सत्य, ब्रह्म, यज्ञ तथा सब लोकलोकान्तर निवास करते हैं ऐसी क्षमाको हमलोग क्यों त्याग करें ? जो इस विषयके जाननेवाले हैं उनके द्वारा सदा क्षमाहीका सम्पादन होता है । क्योंकि सदा सर्वदोषोंके क्षमा करनेवालोंको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । यह लोक और परलोक दोनों क्षमावानहीके लिये बनेहुए हैं । क्योंकि इस लोकमें क्षमाहीसे सम्मान होता है और परलोकमें शुभगतिकी प्राप्त होती है ।

५. सत्यम्— जैसा देखा हो, जैसा सुना हो तथा अनुभव हुआ हो वैसाही ( ज्योंका त्यों ) भाषण करना " सत्य " कहा-जाता है ।

" यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तत् सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्य्ययम् ॥ "

( पद्मपु० अ० १६ )

अर्थ— जो यथार्थ कहता है वह सब लोकोंका सुखदायी है । उसीसे सत्य जानना चाहिये और जो उसके प्रतिकूल है वह असत्य ( मिथ्या ) कहा जाता है ।

" सत्यमायास्यति हरिः सत्यं निष्कपटं वद ।
यत् तत् स्वभयं त्यक्त्वा सत्यं ब्रूहि सुसंसदि ॥
वरं कूपशतात् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशतात् किल ॥ "

( ब्रह्मवै० जन्म.खं० अ० ६५ )

अर्थ— सत्यसे हरि स्वयं आकर प्राप्त होवेंगे इसमें सन्देह नहीं इस सत्यको निष्कपट तथा निर्भय होकर श्रेष्ठ सभामें बोला कर ! सौ कूपोंसे एक वापीका खोदाजाना श्रेष्ठ है और सौ वापियोंसे एक क्रतु ( यज्ञ ) का करना श्रेष्ठ है और सौ क्रतुओंसे एक पुत्र उत्पन्न करना श्रेष्ठ होता है और सौ पुत्रोंसे जितना पुण्य उत्पन्न होता है वह केवल एक सत्य भाषणसे होता है ।

" तस्मात् सत्यं परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम ॥
सत्यं वेदेषु जागर्ति सत्यं च परमं पदम् ।
कीर्त्तिर्यशश्च पुण्यं च पितृदेवर्षिपूजनम् ॥
आद्यो विधिश्च विद्या च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्येन वायु रभ्येति सत्येन तपते रविः ॥
सत्येनाग्निर्दहेन्नित्यं स्वर्गं सत्येन गच्छति ।
सत्येन चापः क्षिपति पर्जन्यो धरणी तले ॥
आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः ॥ "

( अर्थ स्पष्ट है )

६. दमः— " बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः " बाह्य इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे रोकनेका नाम दम है ( पद्मपुराणमें क्रियायोगसारके अन्तर्गत लिखा है—

" कुत्सितात् कर्म्मणो विप्र ! यच्च चित्तनिवारणम् ।
स कीर्त्तितो दमः प्राज्ञैः समस्तैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

अर्थ— भ्रष्ट-कर्मोंसे जो चित्तको रोकना है वही ज्ञानियोंद्वारा ' दम ' के नामसे पुकारागया है। सो भगवान् पहले भी अ० ६ श्लो० २४ में यों कह आये हैं, कि मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः " मनके द्वारा इन्द्रियोंको रोककर " शनैःशनैरुपरमेत् " धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होवे।

७. शमः— अन्तःकरणके संयम करनेको " शम " कहते हैं अर्थात् मन, बुद्धि इत्यादिको विषयोंकी ओर नहीं जाने देनेका नाम शम है तथा सर्वप्रकारके विक्षेपोंसे अन्तःकरणको रोकनेका नाम भी शम है।

फिर इसी गीताके छठवें अध्याय श्लो० ३ में भगवानने सर्व-कर्मोंसे निवृत्ति होना ही शम कहा है और योगारूढ होनेका कारण भी इसी शमको बताया है, कि " योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण-मुच्यते "।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ सुखं दुःखं भवोऽभावो भय-ञ्चाभयमेवच ] ८ सुख, ९ दुःख, १० भव, ११ अभाव, १२ भय १२ भय और १३ अभय ये सब भी प्राणियोंको मुझसे ही प्राप्त होते हैं। अब इन सबोंका भी वर्णन यथार्थरूपसे किया जाता है—

८. सुखम्— आह्लादयुक्त जो चित्तकी वृत्तिविशेष है जिसका संवेदन अपने अनुकूल होता है अर्थात् जो-जो वस्तु इस प्राणीके अनुकूल प्राप्त होती हैं उनके संभोगसे जो चित्त आनन्दको प्राप्त होता है उसीका नाम सुख है सो 'धर्मजन्य' है तात्पर्य्य यह है, कि धर्मसे उत्पन्न होता है अर्थात् धर्मात्मा पुरुषको लाभ होता है। क्योंकि सब देवता देवी भूतमात्र उसके अनुकूल होजाते हैं। वायु, अग्नि जल इत्यादि सब उसे सुख देने लगजाते हैं। यह सुख गुणोंके भेदसे तीन प्रकारका है सो भगवान् आगे १८ वें अध्यायमें कहेंगे।

९. दुःखम्— सन्तापयुक्त जो चित्तकी विशेषवृत्ति है उसे दुःख कहते हैं। जिसका संवेदन सदा अपने प्रतिकूल होता है सो अधर्मजन्य है अर्थात् अधर्मसे उत्पन्न होता है। प्राणीके पापोंके कारण भूतमात्र उसके प्रतिकूल होजाते हैं। वायु, अग्नि, जल इत्यादि सब उसे दुःख देने लगजाते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीनों ताप उसे दशों दिशाओंसे घेरलेते हैं। वायुदेव उसके घरके छप्परको उजाडकर फेंक देते हैं, पेट फूल जाता है, आग घरको जला देती है जल उसे बीच धारमें लेजाकर डुबा देता है फिर वह चाहे जितना चिल्लावे, चीखे कोई उसकी नहीं सुनता। क्योंकि जैसे ही कूद-कूदकर पाप किया था, अर्थात् हाथमें हाथीदांतकी छडी, जेबमें ब्रिटानियाकी सुनहरी घडी, गलेमें सोनेकी लडी कानोंके रुईके फाहोंमें मोतिया, केवडा इत्यादिकी बूंदें भरी, साथमें परिस्तानकी सुन्दर परी लिये अंग्रेजी बूंट खट-खटाते, उछलते कूदते, बडी अकडके साथ सडकोंपर फिरा करते थे अब उन्हींके प्रतिकूल हाथकी अंगुलियां कुष्टसे सडीं, जेबमें औष०

धिकी गोलियां पडी, कानोंमें पीप और रुधिरकी लोथडियां भरी और पैरोंमें चिथडे लिपटे हुए कराहते आहें भरते औषधालयोंमें घुसते हैं। यही अधर्मका फल है इसीको दुःख कहते हैं।

सब दुःखोंसे घोर दुःख तो यह है, कि मनुष्यशरीर पाकर प्राणी पापकर्ममें रत भगवद्भजन नहीं करता। वाराह पुराणमें देखो भगवान् स्वयं अपने मुखसे वसुन्धराके प्रति कहते हैं—

" अहंकारकृतो नित्यं नरो मोहेन चावृताः।
ये मां नैव प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरन्नु किम्॥
सर्वाशी सर्वविक्रेता नमस्कारविवर्जिताः।
ये च मां न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरन्नु किम्॥
असन्तुष्टस्तु वैषम्ये परदाराभिमर्दकः।
परोपतापी मन्दात्मा ततो दुःखतरन्नु किम्॥
लब्ध्वा तु मानुषीं संज्ञां पंचभूतसमन्विताम्।
मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरन्नु किम्॥ "

ऐसे-ऐसे अनेक दुःख भगवानने वाराहपुराणमें कथन किये हैं। कविकल्पलता ग्रन्थमें जो विशेष दुःखोंकी गणना की है सो पाठकोंके कल्याणार्थ यहां लिखदिये जाते हैं—

१. पारतन्त्र्यम् ( पराधीन रहना ) २. आधिः ( मानसीदुःख) ३. व्याधिः ( शारीरिक दुःख ) ४. मानच्युत ( अपमान होना ) ५. शत्रुः ६. कुभार्या ७. नैरवम् ( धनहीन होना ) ८. कुग्रामवासः ( भ्रष्ट गांवमें निवास करना ) ९. कुस्वामिसेवनम् ( बुरे स्वामीकी

सेवा करना ) १०. बहुकन्या ( बहुत कन्याओंका होना ) ११. वृद्धत्वम् ( वृद्धापन ) १२. परगृहवासः ( पराये घरमें रहना ) १३. वर्षाप्रवास ( वर्षाकालमें पराये स्थानमें रहना ) १४. भार्याद्वयम ( दो स्त्रियोंका होना ) १५. कुभृत्यः ( शठ सेवक ) १६. दुर्हलकरणकृषिः ( भ्रष्ट हलसे कृषि करना ) सज्जनोंके लिये इतने दुःखविशेष कहेगये हैं ।

१०. भवः— यहां भवका अर्थ शंकराचार्यने उद्भव किया है । भवका अर्थ उत्पन्न होना है । भवका अर्थ शिव भी है पर यहां भाष्यकारका तात्पर्य केवल उत्पन्न होनेसे है ।

११. अभावः— नाशको कहते हैं जो भव अथवा उद्भवकी प्रतिकूल सत्ता है इसलिये इसका अर्थ नाश अर्थात मृत्यु है । सो 'भवोऽभावो' कहनेसे भगवानका तात्पर्य जन्म और मृत्युसे है ।

१२. भयम— इसका अर्थ त्रास है जिसको साधारण भाषामें 'डर' कहते हैं इसका अर्थ साहित्यदर्पणवालेने तीसरे परिच्छेदमें यों किया है, कि "रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्" अर्थात रौद्ररस जो नवों रसोंमें एक रस है उस रौद्र रससे उत्पन्न जो चित्तको व्याकुल करनेवाली दशा है उसे भय अर्थात त्रासके नामसे पुकारते हैं । फिर व्युत्पत्तिवादमें गदाधर भट्टाचार्य लिखते हैं, कि "परतः स्वानिष्टसंभावना भयम् यथा व्याघ्राद्बिभेति व्याघ्राधीनत्वेन स्वीयमरणं संभावयति" अर्थात परायेसे जो अपने अनिष्टहोनेकी संभावना है उसे भय कहते हैं । जैसे प्राणी

व्याघ्रसे भय करता है तहां वह अवश्य ऐसा जानलेता है, कि मेरी मृत्यु इस व्याघ्रके अधीन है । इसलिये व्याघ्रके देखते ही भय खाता है ।

गरुडपुराण नीतिसार अ० ११५ में लिखा है, कि "तावद्भयस्य भेत्तव्यं यावद्भयमनागतम । उत्पन्ने तु भये तीव्रे स्थातव्यं तैर-भीतिवत् ॥"

अर्थ— भयसे तबही तक डरना चाहिये जब तक भय समीपमें उपस्थित नहीं हुआ है पर जब बडे वेगसे झट भय समीपमें आन पहुंचे तो वहां स्थिर होजाना चाहिये । क्योंकि यदि मनुष्य तहां धीरज धरे साहसके साथ नहीं स्थिर रहेगा, भागेगा तो आपसे आप मारे भयके अपना प्राण खोवेगा पर यदि स्थिर रहजावेगा तो सम्भव है, कि वह भय झट वहांसे हटजावेगा उसे न सतावेगा इसलिये भय करके भागना नहीं चाहिये।

१३. **अभयम्— ( भयस्याभावः )** भयके अभावको अर्थात ऊपर जो कुछ भयके विषय कह आये हैं उसके प्रतिकूल दशाको अभय कहते हैं अर्थात किसीसे कभी नहीं डरना ।

अब भगवान कहते हैं, कि[ **अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः** ] १४. अहिंसा, १५. समता, १६. तुष्टि, १७. तप, १८. दान, १९. यश और २०. अपयश भी प्राणियोंको मुझ हीसे प्राप्त होते हैं ।

अब इन तत्त्वोंका वर्णन भी विलग-विलग करदिया जाता है—

१४. अहिंसा— "तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारोहिंसा सा च सर्वानर्थ हेतुस्तदभावोऽहिंसा । हिंसायास्सर्वकालमेव परिहार्यत्वात् प्रथमं तदभावाया अहिंसाया निर्देश:" अर्थात् शरीरसे प्राणको विलग करदेनेके प्रयोजनसे जो व्यापार कियाजावे उसे हिंसा कहते हैं। सो सर्व अनर्थोंका कारण है। तिस हिंसाके अभाव अर्थात् नहीं करनेको अहिंसा कहते हैं। सो सब कालमें धर्मके सब अंगोंमें हिंसाका त्याग-देना उचित और श्रेष्ठ समझागया है। इसलिये अहिंसाकी गणना धर्मके अंगोंकी गणनामें सबसे पहले ही कीगयी है। इस अहिंसाका वर्णन भगवान् स्वयं आगे सोलहवें अध्यायमें करेंगे इसलिये यहां संक्षेप से लिखा गया है।

१५. समता— रागद्वेषकी निवृत्ति करके शत्रु, मित्र, हानि, लाभ, मान, अपमान, जय, अजय, हर्ष, शोक, शीत, उष्ण, सुख, दु:ख सबको समान दृष्टिसे देखने और समान रूपसे अनुभव करनेका नाम समता है।

यह अवस्था मनुष्योंमें तब होती है जब बहुकाल निष्कामकर्मोंका सम्पादन करते-करते उसका अन्त:करण शुद्ध होजाता है और भगवच्चरणारविन्दकी ओर श्रद्धा करने लगजाता है तबही भगवान् भी इस गुणको प्रदान करते हैं अन्यथा यह गुण दुर्लभ है शीघ्र प्राप्त नहीं होता।

---

**अहिंसा**— यदि इस विषयको पूर्णप्रकार जानना हो तो हंसनाद द्वितीयभागमें अहिंसाका व्याख्यान देखो।

१६. तुष्टिः— " अधिगतार्थादन्यत्र तुच्छत्वबुद्धिः " जो अर्थ अपनेको प्राप्त है उसीमें प्रसन्न रहकर उससे इतर विषयोंमें तुच्छबुद्धिके होनेको + तुष्टि कहते हैं प्रमाण— "सन्तोषादनुत्तमः सुख-

+ सांख्यके आचार्य कपिलदेवने इस तुष्टिके ९ भेद कहे हैं—
" आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः बाह्याविषयोपरमात्पञ्च । नव तुष्टयोऽभिमताः । "

( प्रकृतितुष्टि, उपादानतुष्टि कालतुष्टि, और भाग्यतुष्टि ) अर्थात् चार आध्यात्मिकतुष्टि और पांच विषयतुष्टि हैं ये सब मिलकर ९ तुष्टियां हैं ।

१. प्रकृतितुष्टि — शिष्यकी प्रकृतिके अनुसार उपदेश तत्त्वोंसे जो संतुष्टिकी प्राप्तिहो उसे प्रकृतितुष्टि कहते हैं अर्थात् शिष्यके स्वभावानुसार उपदेशद्वारा संतृप्ति होजानेको प्रकृतितुष्टि कहते हैं । जैसे करुणारसविशिष्ट प्राणियोंको रामकी उपासना और शृंगाररसविशिष्ट प्राणियोंको कृष्णकी उपासना द्वारा जो तुष्टि प्राप्त होती है उसे प्रकृतितुष्टि कहते हैं ।

२. उपादानतुष्टि— सन्न्यास वा त्याग होनेपर भी जिसकी प्रकृतिका पता न लगे चंचल हो तो पहले उपदेशद्वारा उसकी प्रकृतिको एकतत्त्वपर शान्त करनेके पश्चात् ध्यान और अभ्यासके द्वारा उसके हृदयमें तुष्टि प्राप्त करदेनेको उपादानतुष्टि कहते हैं ।

३. कालतुष्टि— त्याग होनेपर भी शीघ्र जिसे निर्वाणकी प्राप्ति न हो वह साधन करते-करते कुछ कालके पश्चात् जिसकी हरिपक्वता हो तिससे जो साधकके हृदयमें तुष्टि प्राप्त होती है अर्थात् बहुत काल तक अभ्यास करनेके पश्चात् जो आत्मज्ञान लाभ होजानेसे तुष्टिकी प्राप्ति होती है उसे कालतुष्टि कहते हैं ।

४. भाग्यतुष्टि— जिसे न कालकी अपेक्षा हो न उपादानकी अपेक्षा हो वह अनायास साधारण उपदेश द्वारा आत्मज्ञान वा हृदयमें त्यागके अंकुर उपज आनेहीसे

लाभः " योगसूत्रके कर्त्ता पतंजलि कहते हैं, कि सन्तोषसे अनुत्तम सुख लाभ होता है।

---

जो संतुष्टि लाभ होजावे उसे भाग्यतुष्टि कहते हैं। जैसे मन्दालसा ( अपनी माताके ) उपदेशमात्रसे ही उसके पुत्रोंका त्यागी होना और मोक्ष प्राप्तकर संतुष्ट होजाना। इसका दूसरा नाम जल भी है। ये चारों आध्यात्मिक तुष्टियां कहीजाती हैं।

अब विषय तुष्टियोंका वर्णन सुनो—

१. पार— जितने भी धनादि उपार्जनके उपाय हैं वे सब दुःखजनक ही हैं इस प्रकार विचारकर जो विषयोपराम द्वारा तुष्टि लाभ होती है उसे पार कहते हैं।

२. सुपार— उपार्जन कियेहुए विषयोंकी राजासे, अग्निसे, जलसे, चोरसे रक्षा करनेमें जो द्वन्द्व वा दुःख है उससे बचनेके लिये जो विषयोपराम द्वारा तुष्टि होती है उसे सुपार कहते हैं।

३. पारापार— बडे दुःखसे उपार्जन कियेहुए धनादिके भोगसे क्षय होजानेका दुःख अनुभव करके जो विषय उपरामसे संतुष्टि होती है उसे पारापार कहते हैं।

४. अनुत्तमांभ— शब्दादि विषयोंके अभ्याससे अर्थात् कामादि शत्रुओंके झपेटोंमें पडनेसे जो अन्तमें नाना प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं उन भोग दोषोंका विचार करतेहुए जो विषयोपरामसे सन्तुष्टि होती है उसे अनुत्तमांभ कहते हैं।

५. उत्तमांभ— बिना जीवोंकी हिंसा किये अर्थात् दुःख दिये विषय भोगोंकी प्राप्ति अनुभव करके जो विषयोंके उपराम द्वारा संतुष्टि प्राप्त होती है उसे उत्तमांभतुष्टि कहते हैं। ये पांचों विषयतुष्टियाँ हैं।

उक्त प्रकारसे चार आध्यात्मिकतुष्टि और पांच विषयतुष्टि सब मिलाकर ९ तुष्टियां कथन कीगयी। इन नवो तुष्टियोंका वर्णन पूर्णप्रकार सांख्यकारिकामें देखो।

१७. तपः— इन्द्रियोंका संयम करके भगवत्प्राप्तिनिमित्त शरीरको क्लेश देने तथा कृच्छ्रचान्द्रायण मौन इत्यादि व्रतोंका सम्पादन भी तप कहलाता है । श्रुतिके अनुसार " मनसश्चैन्द्रियाणामेकाग्र्यं परमं तपः" मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको तप कहते हैं अर्थात् एकाग्र होकर भगवद्विचारमें लौ लगानेका नाम भी तप है ।

इसका वर्णन पहले ठौर-ठौरपर होचुका है और फिर आगे १७ वें अध्यायमें भगवान् इसका वर्णन करेंगे ।

१८. दानम्— देश कालका विचारकर सुपात्रके प्रति तथा दानाधिकारीके प्रति भोजन, वस्त्र, द्रव्यादिका अर्पण करना। लंगड़े, लूले, कुबड़े, अपाहज इत्यादिके पालन निमित्त यथाशक्ति कुछ देना+ । " ग्रासादर्द्धमपि ग्रासमर्थिभ्यः किन्न दीयते ? " जो प्राणी अपने भोजनके एक ग्राससे आधा ग्रास बचाकर भोजन मांगने वालेको देदेता है वह क्या नहीं देदेता है ? अर्थात् वह मानो अपना सर्वस्व दान करदेता है । अभिप्राय यह है, कि इस प्रकार ग्रासमेंसे आधा ग्रास दान देनाभी अमोघ फलका देनेवाला होता है । फिर इस दानके चार भेद हैं—

" नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं दानमुच्यते ।
चतुर्थं विमलं प्रोक्तं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ॥

نیم نان گر خورد مرد خدا ✱ وصل درویشان کند نیم دگر

+ " नीम नाने गर खुरद मर्दे खुदा, वज्ब दर्वेशां कुनद नीमे दिगर । "

अर्थ— आधी रोटी अगर खाय मर्द खुदाका, तो दूसरी आधी मांगनेवालोंको बख्शिश करदे ।

अहन्यहनि यत्किंचिद्दीयतेऽनुपकारिणे ।
अनुद्दिश्य फलं तस्माद्ब्राह्मणाय च नित्यकम् ॥
यत्तु पापोपशान्त्यर्थं दीयते विदुषां करे ।
नैमित्तिकं तदुद्दिष्टं दानं सद्भिरनुत्तमम् ॥
अपत्यविजितैश्वर्य्यस्वर्गार्थं यत्प्रदीयते ।
दानन्तत् काम्यमाख्यातमृषिभिर्धर्म्मचिन्तकैः ॥
यदीश्वर प्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते ।
चेतसा धर्मयुक्तेन, दानं तद्विमलं शिवम् ॥ " (कूर्मपुराण)

अर्थ— नित्य, नैमित्तिक, काम्य ये तीन और चौथा विमल चार प्रकारके दान कथन कियेगये हैं। बिना किसी उपकारके कराये और बिना किसी फलकी इच्छाके ब्राह्मणोंको जो कुछ प्रतिदिन दिया-जावे उसे नित्यदानके नामसे पुकारते हैं और जो किसी प्रकारके पाप शमन करनेके तात्पर्यसे विद्वानोंके हाथमें दियाजावे उसे उत्तम नैमि-त्तिकदानके नामसे पुकारते हैं।

जो दान पुत्रके प्रयोजनसे तथा अपनी विजयके तात्पर्यसे वा स्वर्गकी कामनासे दियाजावे उसे धर्मकी चिन्ता करनेवाले ऋषियोंने काम्यके नामसे पुकारा है।

जो दान धर्मयुक्त चित्तसे ईश्वरके चरणोंमें प्रीति होनेके तात्पर्यसे ब्रह्म-वेत्ताओंको दियाजाता है उसे विमलदानके नामसे पुकारते हैं यह दान परम कल्याणकारक है तथा सब दानोंमें उत्तम दान है।

इसी प्रकार दान अवश्य करना चाहिये। भगवान् स्वयं आगे १६ वें अध्यायमें इस विषयका कथन करेंगे।

१९. यशः— धर्म वा परोपकार करनेसे जो संसारमें प्रशंसा की प्रसिद्धि होती है उसे यश कहते हैं। फिर किसी-किसीका मत यह है, कि वही प्रशंसा जब तक प्राणीके जीवित रहने तक होती है तब तक उसे यश कहते हैं और उसीको मरणके पश्चात् कीर्त्ति कहते हैं। "जीवितः ख्यातिर्यशो मृतस्य ख्यातिः कीर्त्तिरिति केचित्" पर किसी-किसीका मत यह है, कि— "दानादिप्रभवा कीर्तिः शौर्य्यादिप्रभवं यशः" दानादि करनेसे जो ख्याति हो उसे कीर्त्ति कहते हैं और शौर्य इत्यादि द्वारा जो उत्पन्न हो उसे यश कहते हैं।

पर यथार्थमें कीर्ति और यशमें थोडा ही अन्तर देखपडता है तहां जो कूप, बावडी, तडाग, गोशाला, पाठशाला, मन्दिर इत्यादिका बनवाना है उसकी गणना तो कीर्तिमें होसकती है और वही कीर्ति जब ख्यातिको प्राप्त होती है तो उसे यश कहते हैं।

इस कारण प्राणीको उचित है, कि अपनी अथवा परायेकी कीर्ति को नाश न करे। "हन्ति यः परकीर्तिञ्च स्वकीर्तिं सानवाऽधमः। स कृतघ्न इति ख्यातस्तत्फलं च निशामय" (अर्थ स्पष्ट है)

(ब्रह्मवै० प्रकृ० खं० अ० ४९)

२०. अयशः— "अधर्मनिमित्तकदोषकथनलोकनिन्दारूपा प्रसिद्धिः"।

अर्थ— अधर्मके करनेसे संसारमें जो निन्दा फैलती है उसकी प्रसिद्धिको **अयश** कहते हैं। अधिक अधर्म करनेसे जो प्राणी

अपने जानते कभी किसी यशके कार्यको भी घुणाक्षरन्यायसे कर बैठता है तो वह भी अयश होकरे फैलता है। यश नहीं होता।

अब भगवान् कहते हैं, कि [भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः] जो भिन्न-भिन्न प्रकारके २० भाव ऊपर कथन किये गये हैं ये सब प्राणियोंको मेरेही द्वारा प्राप्त होते हैं। क्योंकि ये सब मुझही से उत्पन्न हैं सो पहले भी कहा जाचुका है। देखो अध्याय ७ श्लोक १२।

शंका— इन बीसोंमें बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, भव, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान और यश ये १६ भाव तो उत्तम हैं। इनका तो भगवद्द्वारा प्राप्त होना उचित ही है पर दुःख, अभाव, भय और अयश ये चार तो निन्द-नीय भाव हैं और दुःखदायी हैं। भगवान कृपालु और दयालु होकर ऐसे निन्दनीय तथा दुःखदायी भावोंको क्यों देते हैं ?

समाधान— इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं, कि "पृथग्विधाः" जो जैसा करता है अपने-अपने धर्म और अधर्मकी विचित्रताके कारण इन विचित्र भावोंको प्राप्त होता है अर्थात् जिसकी जैसी करनी होती है भगवान् उसीके अनुसार उसे फल देते हैं। धर्मात्मा उक्त १६ भावोंको भगवान्से पाता है और पापात्मा भी पिछले चारों भावोंको उसी भगवानसे पाता है इसमें शंकाका स्थान नहीं है।

प्रश्न—यदि यह कहो, कि भगवान् अ० ९ श्लोक ३० में पहले कहचुके हैं, कि "अपि चेत् सुदुराचारो भजते ........" अर्थात् जो

पुरुष दुराचारी भी है वह यदि मुझको अनन्य होकर भजता है तो वह भी साधु ही मानाजाता है और अब कहते हैं, कि दुराचारियोंको उपरोक्त चारों निन्दनीय भाव मैं ही प्रदान करता हूं । इन दोनों वाक्योंमें विरोध पायाजाता है ऐसा क्यों ?

उत्तर— जो पापात्मा अधर्म करनेके पश्चात् भगवत्—शरण हो भगवत्का अनन्य भक्त होकर पूर्व कियेहुए पापोंपर पछताता है, शोक करता है, और पीछे भगवत्से आठों याम क्षमा मांगता है तो उसके पापोंकी अवश्य शांति होजाती है वह दण्ड-नीय नहीं होसकता । उसके अपराधोंको तो भगवान् क्षमा करके पिछले निन्दनीय चारों भावोंको नहीं प्रदान करते परे जो प्राणी भगवत्की ओर देखता ही नहीं वरु निडर होकर ढिठाई करताहुआ बडे अहंकारके साथ अधर्मोंका सम्पादन करता है, अपनी सम्पत्तिके मदमें पापाचरण करता चलाजाता है उसे तो अवश्य भगवान उसके कर्मानुसार ही उक्त चारों निन्दनीय भावोंको प्रदान करते हैं । क्योंकि अपनी सृष्टिके नियमानुसार भगवानने कर्मको ही प्रधान कररखा है । इसलिये कर्म तो अपने यथार्थ फलको अवश्य उत्पन्न करता है ।

शंका— जब ऐसा है, कि भगवानने कर्मोंकी रचना करके ऐसा नियम करदिया है, कि जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है तो अ० ५ श्लो० १४ में ऐसा क्यों कहा ? कि " न कर्तृत्वं न **कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः** " अर्थात् वह महाप्रभु न जीवोंके कर्तृत्वको और न उनके कर्मफलके संयोगको सृजता है अर्थात उसको इन शुभा-शुभ कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान— इसका विचार पूर्णप्रकार उसी पांचवें अध्यायके १५ और १६ श्लोकोंमें होचुका है इसलिये यहां इस विषयपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं देखीगयी। तथापि पाठकोंके कल्याणार्थ थोडा विचारकर दिखलाया जाता है। भगवान पांचवें अ० के श्लो० १४ में अपनी निर्लेपता और इस श्लोकमें अपनी लोकमहेश्वरता दिखलारहे हैं। दोनों स्थानोंमें दो भिन्न-भिन्न बातें दिखलायीगयी हैं फिर जैसा प्रकरण होता है उसी प्रकार वार्त्ता करना उचित है। भगवान् सर्वगुणसम्पन्न लोकमहेश्वर भी हैं और लोकोंसे निर्लेप भी हैं अर्थात् जब उनकी लोकमहेश्वरताको स्मरण कीजियेगा तो अवश्य ऐसाही कहना पडेगा, कि सब वस्तु उन्हींसे उत्पन्न हैं, उन्हींके अधीन हैं और उनसे इतर कुछ भी नहीं है पर जब उनकी निर्लेपताको स्मरण कीजियेगा तब ऐसाही कहना पडेगा, कि उस महाप्रभुको किसीसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं है वह सदा निर्लेप और निर्विकार है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब मनुष्य उस महाप्रभुके निरुपाधिक स्वरूपपर विचार करेगा तब ऐसा ही बोध होगा, कि वह सदा निर्लेप है और जब उसके सोपाधिक स्वरूपपर विचार कियाजावेगा तो यही कहना पडेगा, कि ये सब उसीसे उत्पन्न हैं। इसलिये बुद्धिमान् ज्ञानियोंको जानना चाहिये, कि इन दोनों श्लोकोंमें तनकभी अन्तर नहीं है और कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है। भगवानका स्वरूपही ऐसा है, कि दो विरुद्ध धर्म्म उसमें सदासे पायेजाते हैं। तहां प्रमाण श्रु०— "ॐ यो वै रुद्रः स भगवान यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः

स भगवान्यच्चामृतं तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यच्च सूक्ष्मं तस्मै वै नमोनमः "। ( अथर्वशिरउप० श्रु० २२, २३, २७ ) इन श्रुतियोंसे सिद्ध होता है, कि उस महाप्रभुमें सर्व विरुद्ध धर्म्म पायेजाते हैं।

पांचवें अध्यायमें भगवानका कहना यह है, कि किसी भी प्रकारके कर्तृत्वको, कर्मको वा उस कर्मके भोगको मैं नहीं रचता। तहां बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें यह वार्ता अवश्य दीख पड़ेगी, कि जैसे कुम्भकार घटादिको बनाता है ऐसे भगवान् किसी विशेष वार्ताको पाप पुण्य अथवा दुःख सुखको नहीं बनाता वरु स्वभाव अर्थात् प्रकृति जिसको जैसा चाहती है वैसा उससे कराती है। जैसे समुद्रसे मोती, शंख, कौडी, सीप, बुदबुद, फेन इत्यादि बनते हैं पर समुद्र स्वयं प्रतिदिन बनानेका संकल्प करके इनको नहीं बनाता है केवल जलका यह स्वभाव है, कि आपसे आप उसमें भिन्नभिन्न वस्तु बनती रहती हैं। इसी प्रकार भगवान कर्तृत्व वा कर्म तथा भोग प्रतिदिन प्राणियोंके घरमें लेजाकर नहीं बनाता है वे तो आपसे आप प्राणियोंके स्वभावानुसार बनते जाते हैं। इसी विषयको दृढ करनेके लिये भगवानने इस श्लोकमें "पृथग्विधाः" शब्दका उच्चारण किया। शंका मत करो ! ॥ ४, ५ ॥

अब भगवान अपनी लोकमहेश्वरताको और भी अधिक उत्तमतासे अगले श्लोकमें स्पष्ट कर दिखलाते हैं—

मू०— महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— पूर्वे ( सृष्ट्यारंभाविर्भूताः ) सप्त, महर्षयः ( भृग्वादयः ) तथा, चत्वारः, मनवः ( सावर्ण्यादयः ) येषाम्, लोके ( संसारे ) इमाः, प्रजाः ( संततयः ) [ तेऽपि ] मद्भावाः ( मच्चिन्तनपराः । मयि परमात्मनि भावना येषाम् वैष्णव्या शक्त्य-धिष्ठितत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यवन्तः । मदीयो भावः प्रभावो येषु ते हिरण्यग-र्भात्मनः) मानसाः ( मनः संकल्पादेवोत्पन्नाः नतु योनिजाः ) जाताः ( प्रादुर्भूताः ) ॥ ६ ॥

पदार्थः— ( पूर्वे ) सृष्टिमें सबसे पहले ( सप्त, महर्षयः ) भृगु इत्यादि सातों महर्षि ( तथा ) तैसे ही ( चत्वारो, मनवः ) सावर्ण्यादि चारों मनु ( येषाम् ) जिनकी रची हुई ( लोके ) इस संसारमें ( इमाः प्रजाः ) सारी प्रजाएं हैं, वे ही ( मद्भावाः ) मेरेमें सदा अपने चित्तको लगाये हुए मेरी वैष्णवी शक्तिके प्रभावसे युक्त प्रजागणकी रचना करनेमें समर्थ ( मानसाः, जाताः ) मेरे मनके संकल्पमात्रसे उत्पन्न हुए हैं ये लोग योनिज नहीं हैं अर्थात् माता पिताके संयोगसे नहीं उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् पूर्णरूपसे अपनी लोकमहेश्वर-ताको दिखलाते हुए कहते हैं, कि [ महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ] जो सातों ऋषि अर्थात् क्रतु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, पुलस्त्य और वशिष्ठ वैवस्वत, स्वारोचिष और सावर्णि

चारों मनु सबसे पूर्व उत्पन्न हुए अर्थात् मनुके साथ-साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये सावर्ण कहे जाते हैं।

यहां भाष्यकारोंके मतभेदसे इस स्थानमें दो प्रकारके अर्थ होसकते हैं। एक तो जो पहले कहआये हैं, कि सातों महर्षि और चारों मनु जो सृष्टिके पूर्वकालमें हुए हैं। दूसरा अर्थ यह है, कि सातों ऋषियोंसे पूर्व जो चारों ऋषि सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और स्वायंभुव इत्यादि १४ + मनु उत्पन्न हुए ये सबके सब सृष्टिकी आदिमें हुये हैं। इसलिये इनको सारी सृष्टिके पूर्व उत्पन्न कहना चाहिये। सो भगवान कहते हैं, कि [ **मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः** ] ये जो महर्षिगण तथा मनु इत्यादि हैं सब " मद्भावाः " हैं अर्थात सदा मेरेहीमें जिनकी भावना लगी हुई है। इस कारण मेरी वैष्णवीशक्तिके प्रभावसे युक्त प्रजागणकी रचना करनेमें समर्थ हैं सो ये सबके सब मेरे मानसिक

+ स्वारोचिषो मनुश्चैव द्वितीयो वह्निनन्दनः। राजा वदान्यो धर्मिष्ठः स्वायम्भुवसमो महान् ॥
प्रियव्रतसुतावन्यौ द्वौ मनू धर्मिणां वरौ। तौ तृतीयचतुर्थौ च वैष्णवौ तामसोत्तमौ ॥
तौ च शंकरशिष्यौ च कृष्णभक्तिपरायणौ। धर्मिष्ठानां वरिष्ठश्च रैवतः पंचमो मनुः ॥
षष्ठश्च चाक्षुषो ज्ञेयो विष्णुभक्तिपरायणः। श्राद्धदेवः सूर्यसुतो वैष्णवः सप्तमो मनुः ॥
सावर्णिः सूर्यतनयो वैष्णवो मनुरष्टमः। नवमो दक्षसावर्णिर्महाज्ञानविशारदः ॥
ततश्च धर्मसावर्णिर्मनुरेकादशः स्मृतः। धर्मिष्ठश्च वरिष्ठश्च वैष्णवानां सदा व्रती ॥
ज्ञानी च रुद्रसावर्णिर्मनुश्च द्वादशः स्मृतः। धर्मात्मा देवसावर्णिर्मनुरेव त्रयोदशः ॥
चतुर्दशो महाज्ञानी चेन्द्रसावर्णिरेव च। ( हरिवंशपुराण अ० ७ )

संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं। ये योनिज नहीं हैं अर्थात् माता पिताके संयोगसे नहीं हैं। इन्हींसे अन्य प्रजागणोंकी उत्पत्ति हुई है।

बिना मानसिक सृष्टिके सृष्टिका उत्थापन होना असंभव है। क्योंकि जबतक कमसे कम एक पुरुष और स्त्री न होगी तबतक आगे सृष्टि होही नहीं सकती पर उस एक पुरुष और स्त्रीको तो मानसिक मानना ही पडेगा। इस कारण हम सनातनधर्म्मावलम्बी सबसे पहले एक पुरुष और एक स्त्रीको मानसिक मानते हैं अर्थात् उस सच्चिदानन्द अज अविनाशी अजन्माको जब सृष्टिकी इच्छा होती है तो वह अपनेको आपमें मथन करता है अर्थात् अपने तपरूप बलको बढाता है तिससे स्वायंभुव मनु और सतरूपाकी मानसिक सृष्टि होती है। तहां श्रुतिका प्रमाण है— "ॐ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति" (बृहदा० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० ३)

अर्थ— चिरकाल पर्य्यन्त वह महाप्रभु अपने आप अकेला रहा पर अकेला क्रीडा नहीं होसकती। अतएव क्रीडाके तात्पर्य्यसे उसने दूसरेकी इच्छाकी। इस प्रकार इच्छा करते हुए अपनेको आपमें गाढ मंथन करे अर्थात् आलिंगनकर अपना दो भाग करदिया। जिससे पति और पत्नी अर्थात् स्वायंभुवमनु और शतरूपा प्रकट हुई। जैसे किसी वृक्षका बीज जब पृथ्वीमें डाला जाता है तो थोडे कालके पश्चात् फटकर उसमें दालके दो भाग होजाते हैं और तद्वंसे

वृक्षकी रचना क्रमशः चलती है इसी प्रकार परमात्माकी रचना करने वाली शक्ति दो स्वरूपोंमें आविर्भूत हुई।

इसी विषयको अन्य धर्म्मावलम्बी भी मानते हैं जैसे मुसलमान कहते हैं, कि सृष्टिकी आदिमें भगवानने **आदम** नामका एक पुरुष और हव्वा नामकी एक स्त्री बनायी इन्हीं दोनोंको ईसाई मतावलम्बी भी Adem और Eve (बाइविल ओल्ड टेस्टामेंट चैप्टर ४) कहकर मानते हैं। मुख्य अभिप्राय यह है, कि सब धर्मावलम्बी कमसेकम एक मानसिक सृष्टि अवश्य मानते हैं। क्योंकि विना एकको मानसिक माने आगे काम नहीं चलता और बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

इसी विषयको भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जब-जब सृष्टिकी इच्छा होती है तो मैं जो लोकमहेश्वर हूं अपनी शक्तिसे पहले मानसिक सृष्टि उत्पन्न करता हूं अर्थात् भृगु इत्यादि सात महर्षि, सनत्कुमारादि चारों ब्रह्मवेत्ता और स्वायम्भुव इत्यादि १४ मनु उत्पन्न करता हूं। ये सबके सब कैसे उत्पन्न होते हैं? सो कहते हैं। यदि शंका हो, कि एकही मानसिक पति और पत्नीसे सृष्टिकी वृद्धि होसकती थी फिर इतनी मानसिक सृष्टिकी क्या आवश्यकता थी? तो उत्तर इसका यों है, कि यथार्थमें तो भगवतने अपने तपरूप बलसे केवल स्वायंभुव और शतरूपाहीकी सृष्टि की पर उनमें भी ब्रह्मशक्ति प्रबल थी इसलिये इनसे भी बहुतेरी मानसिक योनियां उत्पन्न होगयीं। जैसे

"तपस्तप्त्वा सृजयन्तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठ च भृगुं नारदमेव च ॥
एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥
यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥
विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषिच ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानिच ॥
किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश्च विहंगमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥
कृमिकीटपतंगांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम् ॥

( मनुः अ० १ श्लो० ३३ से तक )

अर्थ— स्वायम्भुव मनु कहते हैं, कि उस विराट् पुरुषने तप करके जिसको सबसे पहले उत्पन्न किया सो मैं ही हूँ जो सारी सृष्टिका रचनेवाला हूँ ऐसा हे द्विजोत्तम! तुम मुझे जानो ! फिर मैंने प्रजाके रचनेकी इच्छासे बहुतही प्रबल तप करके दशों प्रजापति तथा महर्षियोंकी मानसिक रचनाकी वे महर्षि कौन-कौन हैं? सो कहते हैं—

१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. पुलस्त्य ५. पुलह, ६. क्रतु, ७. प्रचेता, ८. वशिष्ठ, ९. भृगु और १०. नारद फिर दशों महर्षि मनुओंको और इन्द्र इत्यादि बडे तेजवाले सातों ऋषियोंको तथा देवताओंको और उनके स्थानोंको तथा बडे-बडे तेजस्वी महर्षियोंको रचते भये तत्पश्चात् यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड और पितरोंके पृथक्-पृथक् समूहोंको रचा फिर भिन्न-भिन्न वानर, मत्स्य, पक्षी गौ, मृग, सिंहादि पशु तथा व्याल फिर नीचे ऊपर दोनों ओर जिनके दांत हैं ऐसे पशुओंको रचा फिर कीडे, कृमि, पतंग, जूं. मक्खी, मत्कुण (खटमल) डांस, मच्छड इत्यादि जन्तुओंकी रचनाकी। इसी प्रकार मेरी आज्ञा पाकर अपने तपोरूप बलसे इन महात्माओंने प्राणियोंके पूर्वकर्मानुसार सम्पूर्ण स्थावर जंगमोंकी रचना की अर्थात् पहले उस पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरसे कुछ दिनोंतक मानसिक सृष्टि होती रही फिर जबसे "अथातो रेतः सृष्टिः" ऐसी आज्ञा हुई तबसे इनही महात्माओंके द्वारा मैथुनी सृष्टि उत्पन्न होने लगी। इसलिये ये महर्षिगण तथा मनु इत्यादि इस सृष्टिके उत्पन्न करनेवाले हैं।

इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन! "येषां लोक इमाः प्रजाः" ये जो मेरी मानसिक सृष्टि हुई है जिससे ये सातों महर्षि तथा मनु इत्यादि उत्पन्न हुए इनहीकी इस लोकमें सारी प्रजा कहलाती है अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टिके रचनेवाले ये ही हैं और मैं इनका रचनेवाला लोकमहेश्वर कहाजाता हूं। इतना कहकर भगवानने इस श्लोकमें अपनी लोकमहेश्वरता पूर्णप्रकार सिद्ध करदी ॥ ६ ॥

उक्त प्रकार भगवान् अपने सोपाधिक स्वरूपका वर्णन करके अब उस स्वरूपके जाननेवाले तथा ध्यान करनेवालेका महत्त्व वर्णनकरते हैं।

**मू०— एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।**
**सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥**

**पदच्छेदः—** यः ( मद्भक्तः ) मम ( मदीयाम् ) एताम् ( पूर्वोक्तां बुद्ध्यादिरूपाम् ) विभूतिम् ( ऐश्वर्य्यम् । सर्वेश्वरत्वम् ) योगम् ( तत्तदर्थसम्पादनसामर्थ्यम् ) च, तत्त्वतः ( यथावत् ) वेत्ति ( जानाति ) सः, अविकंपेन ( अप्रचलितेन अचलेन वा ) योगेन ( समाधिना ) युज्यते ( युक्तो भवति ) अत्र, संशयः ( कश्चित् प्रतिबन्धकः ) न ( नैव ) [ विद्यते ] ॥ ७ ॥

**पदार्थः—** ( यः ) जो मेरा भक्त ( मम ) मुझ लोकमहेश्वरकी ( एताम्, विभूतिम् ) इतनी विभूतियोंको जो ऊपर कथन कीगयी हैं तथा ( योगम् ) इन विभूतियोंके सम्पादन करनेमें जो मेरा पूर्ण सामर्थ्यरूप योग है तिसको जो ( तत्त्वतः ) यथावत् ठीक-ठीक ( वेत्ति ) जानता है ( सः ) सो मेरा भक्त ( अविकम्पेन, योगेन ) अचल दृढ सुस्थिर निर्विकल्प योगसे ( युज्यते ) युक्त होजाता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि प्राप्त करता है ( अत्र ) इसमें ( संशयः, न ) तनक भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

**भावार्थः—** अब परमसुजान सर्वशक्तिमान् करुणानिधान श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनके प्रति अपनी लोकमहेश्वरताकी विभू-

तियोंके जाननेवालोंका महत्त्व कथन करतेहुए कहते हैं, कि [एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ] मेरी जो इतनी विभूतियां हैं और उनके द्वारा मानसिक सृष्टि और विराट् इत्यादिके सम्पादनमें जो मेरी अलौकिक सामर्थ्य है तथा मेरा योगबल है तिनको "यो वेत्ति तत्त्वतः" जो तत्त्वतः अर्थात् यथातथ्य जानता है [ सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ] सो निश्चल निर्विकल्प योगसे अवश्य युक्त होता है इसमें तनक भी संशय नहीं है अर्थात् सो मेरा भक्त इस प्रकार मेरे स्वरूपमें लय होजाता है, कि फिर उसे कहीं कुछ भी किसी प्रकारका अन्य विषय मुझसे अतिरिक्त नहीं भासता और कोई उसको अपने स्थानसे चलायमान नहीं करसकता वह सदाके लिये मुझमें स्थिर होजाता है। जैसे नदियां समुद्रमें जा स्थिर और लय होजाती हैं तथा अपने नाम रूपको छोड समुद्र बनजाती हैं फिर कोई नहीं कह सकता कि वे नदियां समुद्रमें किधर हैं।

प्रमाण—श्रु०— "इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति" ( छां० प्रपा० ६ खं० १० श्रु० १ )

तात्पर्य्य यह है, कि जैसे नदियां समुद्रहीसे मेघमाला द्वारा निकलकर पर्वतोंके शृंग होकर पृथ्वीमें पूर्वसे बहती हुई पश्चिमको फिर पश्चिमसे पूर्वको होती हुई समुद्रमें मिलजाती हैं पर वे यह नहीं जानती, कि मैं पहले गंगा, यमुना वा सरस्वतीके नामसे पुकारी जाती थी। इसी प्रकार मेरा भक्त अपने सत्स्वरूप ब्रह्ममें मिलकर

अपने नाम रूपको नहीं स्मरण करता क्योंकि वह स्वयं मेराही स्वरूप होजाता है। इसी दशाकी प्राप्तिको अचल निर्विकल्प-समाधियोग कहते हैं।

शंका— पहले भगवानने अपनी विभूतियोंको तथा स्वरूपोंको दुर्विज्ञेय कहा है और कहा है, कि "न मे विदुःसुरगणाः प्रभवं न महर्षयः" (श्लो० २) मुझे कोई देवगण तथा महर्षिगण नहीं जानते हैं और अब कहते हैं, कि जो मेरी विभूतियोंको ठीक-ठीक जानता है वही योगी है। यह दोनों विरुद्ध बातें कैसे बनसकती हैं?

समाधान— भगवानका ऐसा कहना है, कि मेरी विभूतियोंको ब्रह्मादि देवता तथा भृग्वादि महर्षिगण नहीं जानते सो यह यथार्थ है इसमें सन्देह कुछभी नहीं है पर जो इनके भक्त हैं उनकी गणना तो इन देवता और महर्षियोंसे भी अधिक है इसलिये भगवान इस श्लोकमें अपने भक्तोंके लिये कहरहे हैं, कि मेरा भक्त तो मुझे अवश्य जानता है। क्योंकि मेरे भक्तोंके लिये मेरी विभूतियां दुर्विज्ञेय नहीं हैं। सो भगवान पहलेभी कहआये हैं, कि "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (अ० ९ श्लो० २९) अर्थात जो मुझको भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें निवास करते हैं और मैं उनमें निवास करता हूं अर्थात उनका मन मुझमें बसता है और मेरा मन उनमें बसता है। इस वचनसे स्पष्ट होता है, कि भगवानके भक्त भगवानसे विलग नहीं हैं। फि जो जिससे विलग नहीं रहता सदा उनकी सेवामें रहता है वह अपने स्वामीका

सब वृत्तान्त यथावत् जानता है " नटसेवक नहिं व्यापै माया " ( तुलसी ) जो नट अर्थात् बाजीगरका सेवक रहता है उसको बाजीगरकी माया नहीं व्यापती है। बाजीगर जो गन्धर्वनगर बनाकर फिर उसमें आग लगाकर जला देता है तो बडे-बडे बुद्धिमान् उस बाजीगरी मायामें भूल आश्चर्यान्वित हो चकित होजाते हैं। उन बुद्धिमानोंकी समझमें कुछभी नहीं आता, कि बाजीगरकी सारी बस्ती कैसे जलगई। पर यदि सच पूछो तो एक तृण भी नहीं जलता जिसके भेदको उसका सेवक भली भांति जानता है। बाजीगर अपने सेवकके मस्तकपर आग जलाकर पूरियां पकालेता है और उसकी गर्दन काटलेता है पर उसका एक रोम भी नहीं बिगडता और न कहीं शरीरसे एक बूंद रुधिर ही निकलता है। वह सेवक आनन्द-पूर्वक हँसता रहता है और उसके सिरपर आगकी प्रदीप्त ज्वाला धधकती रहती है पूरियां पकती रहती हैं फिर वह पकीहुई पूरियां सब देखनेवालोंको दिखला देता है और खिला भी देता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि नटका सेवक नटके सब भेदोंको जानता है। इसी प्रकार जो भगवानका निज भक्त है वह उनकी सारी विभूतियोंको यथावत् जानता है, पर देव वा महर्षिगण न जान-कर उनकी मायामें मोहित होजाते हैं। जैसे ब्रह्मा मायामें मोहित हो ब्रजसे उनके बछडोंको चुराकर लेगया, पीछे उनके चरणोंपर गिरकर स्तुति की और कहा—

" को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्,
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।

क्व वा कथं वा कतिवाकदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ ”
( श्रीमद्भा० स्क० १० अ० १४ श्लो० २१ )

अर्थ— हे सर्वव्यापक ! हे भगवन् ! हे परात्मन् ! हे योगेश्वरे ! जब तुम अपनी योगमायाको अर्थात् अपनी सब विभूतियोंके उत्पादन करनेवाली सामर्थ्यको फैलाकर क्रीडा करने लगजाते हो तब इस त्रिलोकीमें तुम्हारी लीला और तुम्हारी विभूतियां कहां, कैसी, कितनी और ‘ कब ’ होती हैं यह कौन जान सकता है ? अर्थात् मैं जो ब्रह्मा सो भी नहीं जान सकता तो देवता देवियोंकी क्या गणना है ? इस कारण हे भगवन! तुम्हारे ऐश्वर्य और तुम्हारी विभूतियां अचिन्तनीय हैं । पुनः ब्रह्मदेव कहते हैं, कि “ **अथापि ते देव ! पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुग्रहीत एव हि । जानाति तत्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।** ”

( श्रीमद्भा० स्कन्ध १० अ० १४ श्लो० २१ )

अर्थ—हे भगवन् ! तुम्हारे चरणारविन्दोंके प्रसादके लेशमात्रसे जो अनुग्रहीत हुए हैं अर्थात् जो तुम्हारे भक्त हैं वे ही तुम्हारी महिमाओंके तत्त्वको यथावत् जाननेवाले हैं “ नान्यः कोऽपि ” तुम्हारे भक्तोंको छोड अन्य कोई भी चिरकाल पर्यन्त एकान्त वास करके शास्त्रोंके बलसे विचार करतेहुए भी तुमको नहीं जानसकता ।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है, कि भगवद्भक्त भगवत्की विभूतियोंको यथावत् जानते हैं । इसलिये भगवान्‌के दोनों वचनोंमें शंका मत करो!

इस वचनको दृढ करनेकेलिये भगवान् कहते हैं, कि " नात्र संशयः " इस विषयमें तनक भी सन्देह नहीं करना चाहिये, कि मेरा भक्त मेरी विभूतियोंको यथार्थरूपसे जानकर मेरे स्वरूपमें आ मिलता है ॥ ७ ॥

अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उस ज्ञानको स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं जिसके द्वारा भक्तजन उनकी विभूतियोंको जानकर निर्विकल्प योगको प्राप्त होते हैं ।

मू०— अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

पदच्छेदः— अहम् ( लोकमहेश्वरः ) सर्वस्य ( ब्रह्मादि स्थावरान्तस्य ) प्रभवः ( उत्पत्तिः । कारणम । निमित्तम ) मत्तः ( मदेवान्तर्यामिनः सर्वज्ञात सर्वेश्वरात् ) सर्वम ( स्थितिनाशक्रिया फलोपभोगलक्षणं ब्रह्माण्डम अथवा पूर्वोक्तबुद्धिज्ञानमसंमोहादिकम् ) प्रवर्त्तते ( चेष्टते ) इति, मत्वा ( ज्ञात्वा ) भावसमन्विताः ( परमार्थतत्त्वाभिनिवेशेन संयुक्ताः प्रेमसमन्विताः ) बुधाः ( अवगतसंसारतत्त्वाः ) माम् ( लोकमहेश्वरम् ) भजन्ते ( सेवन्ते ) ॥ ८ ॥

पदार्थः— ( अहम ) मैं जो लोकमहेश्वर हूं सो मैं ( सर्वस्य ) ब्रह्मासे लेकर एक तृणपर्यन्तका ( प्रभवः ) उत्पत्तिस्थान हूं ( मत्तः ) मुझहीसे ( सर्वम ) सम्पूर्ण विश्वमात्रके पदार्थ ( प्रवर्त्तते ) अपनी-अपनी चेष्टा कररहे हैं ( इति, मत्वा ) ऐसा

ज्ञानकर ( भावसमन्विताः ) परमार्थसे युक्त ( बुधाः ) ज्ञानी ( माम् ) मुझ लोकमहेश्वरको ( भजन्ते ) भजते हैं ॥ ८ ॥

**भावार्थः**— अब रसिकविहारी योगेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र इस श्लोकमें उस यथार्थ ज्ञानको जिसके द्वारा उनके भक्त उनकी सब विभूतियोंको और उनकी सम्पादन करनेवाली शक्तियोंको भली भांति जानकर उनहीके स्वरूपमें लय होजाते हैं उसी ज्ञानको स्पष्टरूपसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते** ] हे अर्जुन ! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का उत्पत्तिस्थान हूं अर्थात् कारण और महाकारण हूं ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्त चौदहों भुवन तथा इन्द्रलोक, वरुणलोक, कुवेरलोकादि अनेक लोक लोकान्तरोंको उत्पन्न करनेवाला मैं ही हूं।

यहां भगवानका तात्पर्य यह है, कि जैसे सम्पूर्ण वृक्षोंका उत्पत्तिस्थान वीजमात्र है और जैसे लहर, झाग, बुदबुद तथा भाठा ज्वार सबोंका उत्पत्तिस्थान समुद्र है इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्वका उत्पत्तिस्थान वही एक आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र लोकमहेश्वर है ।

उक्तप्रकार जब उस महाप्रभुने अपने महत्त्वकी ओर ईक्षण किया तो सारी सृष्टि उससे निकलपडी । प्रमाण श्रु०— " **स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति** " ( एत० खं० १ श्रु० १ ) फिर " **स इमांल्लोकानसृजत** " ( एत० श्रु० २ ) अर्थात् जैसे कोई वास्तुविद्याविशारद (Enginer) जब गृह इत्यादि निर्माण करनेकी इच्छा करता है तब पहले एकवार उसके सब प्रकारके चिन्हों‌को, आकारोंको, अव-

लोकन करलेता है अर्थात् कितने इसमें बँगले होंगे, कितनी कोठरियां होंगी, कितने बरामदे होंगे, कितनी कडियां लगेंगी, कितने झरोखे होंगे; कितनी मिहराबें होंगी, कितनी जालियां होंगी, कितने बीम लगेंगे तथा कितनी लम्बी चौडी पृथ्वी होनी चाहिये सबोंका निरूपण करलेता है। इसी प्रकार उस महाप्रभुने मनोयोग देकर अपनी विभूतियोंकी ओर अवलोकन किया और एवम्प्रकारे अवलोकनकर कहा, कि मैं इस प्रकार सृष्टिको रचूं। फिर क्या था? पल मारतेहुए सृष्टिकी रचना करदी। जितना समय एक पलकके उठानेमें लगता है इतने ही समयमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचना होगयी। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं ही सबोंका " प्रभवः ' अर्थात् उत्पत्तिका स्थान हूं अतएव " मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते " मेरेही द्वारा ये सब लोकलोकान्तर वर्त्तमान हुए हैं।

मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यह है, कि जैसे किसी पुतलीघरमें जो सबसे बडा उपकरणयंत्र ( Engine ) रहता है उसीके द्वारा उस कार्य्यालयभरमें जितने कल इत्यादि रहते हैं चलते हैं। उन अन्य कलोंमें अपनी निज शक्ति कुछभी नहीं रहती वे तो निर्जीवके समान निश्चेष्ट पडे रहते हैं पर जब वह बडा यंत्र चलने लगता है तब उसकी शक्ति पाकर सब छोटे २ यंत्र चलने लगते हैं इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप भगवत्की शक्ति द्वारा ब्रह्मलोकसे लेकर पाताललोक पर्य्यन्त सबके सब अपने-अपने कार्योंकी शक्ति पाकर भिन्न-भिन्न रूपसे चेष्टा कररहे हैं। इसी कारण भगवान् कहरहे हैं, कि [ इति मत्वा भजन्ते माम् बुधा भावसमन्विताः ] ऐसा जानकर ज्ञानी मेरे भावमें समन्वित होकरे मुझहीको भजते हैं अर्थात्

अहर्निश मेरे ही स्वरूपमें मग्न रेहते हैं जहां देखते हैं वहां मुझही को देखते हैं । क्योंकि उन्होंने पूर्णप्रकार मेरी विभूतियोंको निश्चित-रूपसे जान लिया है, कि बिना मेरे एक तृण भी नहीं हिलसकता।

ऐसे भजनेवाले कौन हैं ? तिनके विषय भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! सुन " बुधाः भावसमन्विताः " जो बडे-बडे ज्ञानी मेरे भावसे समन्वित हैं अर्थात् परमार्थतत्वसे भरे हुए हैं और प्रेमसे परि-पूर्ण हैं । वेही मेरे भजनेवाले हैं जैसे आम्रका फल जब परिपक्व होजाता है तब सर्वत्र रेसही रससे भर जाता है। इसी प्रकार जो बुधजन प्रेमके रससे तथा परमार्थतत्वसे भरे हुए हैं वे ही मुझको भजते हैं ॥ ८ ॥

अब भगवान् उस प्रेमपूर्ण परमार्थतत्वयुक्त भजनका स्वरूप अर्जुनके प्रति कहते हैं—

**मू०— मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥**

**पदच्छेदः—** मच्चित्ताः ( मयि वासुदेवे चित्तं येषां ते ) मद्गतप्राणाः ( मां गताः प्राणाश्चक्षुरादयः प्राणा इन्द्रियाणि येषां ते । मद-र्पितजीवनाः ) परस्परम ( अन्योन्यम् ) बोधयन्तः ( श्रुतियुक्ति-प्रदर्शनेन समुदायं ज्ञापयन्तः ) नित्यम ( निरन्तरम् ) कथयन्तः ( इष्टमित्रेभ्य उपदिशन्तः । संकीर्त्तयन्तः ) च, तुष्यन्ति ( अनुमोद-नेन सन्तोषमुपयान्ति ) च, रमन्ति ( रतिं प्राप्नुवन्ति । उत्तमसुख-मनुभवन्ति ) च ॥ ९ ॥

पदार्थः— ( मच्चित्ताः ) जिन मेरे भक्तोंका चित्त सदा मुझहीमें लगारहता है तथा ( मद्गतप्राणाः ) और जिन्होंने मेरे हीमें अपना प्राण अर्पण कररखा है तथा सब इन्द्रियोंको लगारखा है वे ( परस्परम् ) एक दूसरेके साथ ( बोधयन्तः ) श्रुति और युक्तिके अनुसार मेरे स्वरूप तथा मेरी विभूतियोंको जानते और जनाते हुए तथा ( नित्यम् ) निरन्तर ( कथयन्तः ) अपने इष्टमित्रोंके साथ मेरे यश, गुण तथा विभूतियोंका कथन करतेहुए भी ( तुष्यन्ति, च ) मारे आनन्दके सन्तोषको प्राप्त होजाते हैं तथा ( रमन्ति, च ) मेरे ही शृंगारयुक्त सुन्दर रूपमें रमण भी करते हैं अर्थात् जबतब मेरे गुण, स्वरूप और लीलाओंको स्मरणकर मग्न रहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थः— अब भगवान् भावसमन्वित, अपने प्रेमयुक्त तथा परमार्थतत्त्वयुक्त भजनका स्वरूप वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम् ] जो हमारे सच्चे भक्त हैं वे आठों याम मेरेहीमें चित्तको लगायेहुए हैं अर्थात् जिनके चित्तको मेरे स्वरूपसे भिन्न अन्य कुछ नहीं भासता है और जो इस प्रकार अपना चित्त मुझमें जोडदेते हैं वे मेरा स्वरूप ही होजाते हैं। उनको चलते फिरते ऐसा भासने लगजाता है, कि मैं स्वयं कृष्णस्वरूप ही हूं मेरा प्राणप्रिय कृष्ण मुझसे भिन्न नहीं है तथा ' मद्गतप्राणाः ' जिन्होंने अपने प्राणको मुझमें अर्पण कररखा है, अपना जीवन मेरेही अधीन जानते हैं तथा अपने जीवनको केवल मेरे भजन यजनके ही निमित्त जानते हैं। यदि मैं उनसे एक क्षणके लिये भी विलग होऊं तो विह्वल होकर प्राण देदेनेकी इच्छा करने लगते हैं।

यहां ' मद्गतप्राणाः ' शब्दका अर्थ यह भी होसकता है, कि जिन्होंने अपने प्राणोंको अर्थात् इन्द्रियोंको मुझहीमें अर्पण करडाला है, आंखोंसे सर्वत्र मुझहीको देखते हैं, कानोंसे मेरेही गुणोंका श्रवण करते हैं तथा जिह्वासे मेराही यश गान करते हैं । फिर यों भी अर्थ करलीजिये, कि जिन्होंने अपने नेत्रोंको भगवत्के नेत्र, अपने कर्णोंको भगवत्के कर्ण तथा अपनी जिह्वाको भगवत्की जिह्वा समझरखी है ऐसे जो भक्त हैं उनहीको विद्वान् पुरुष " मच्चित्ताः ' और 'मद्गतप्राणाः ' कहते हैं ।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि ये दशाएं केवल भगवत्के दर्शनमात्र ही से नहीं होतीं । क्योंकि दर्शनमें तो व्यवधान रहता है अर्थात् द्रष्टा ( भक्त ) और दृश्य ( भगवत्स्वरूप ) में अन्तर रह जाता है । इसलिये यहां जो भगवान् कहरहे हैं सो उस दर्शनसे भी उत्तम अवस्थाका वर्णन कररहे हैं । क्योंकि दर्शनमात्र ही से भक्तिका फल नहीं है । महर्षि शांडिल्यने भी ऐसा ही कहा है, कि " दर्शनफलमितिचेन्न तेन व्यवधानात् " ( शांडिल्य अ० १ सु० १२ )

अर्थ— भक्तिका फल दर्शन ही मात्र नहीं है क्योंकि उसमें व्यवधान अर्थात् अन्तर रहजाता है । इसलिये जो प्राणी भगवत्की दृढ उपासना करनेसे उसके अलौकिक, अपूर्व, ज्योतिर्मय, एवं माधुर्य्य पूर्णसौन्दर्य्य तथा नाना प्रकारके अनुपम शृंगारयुक्त ललित, ललाम, नयनाभिराम घनश्यामका दर्शन पाकर उसके प्रसन्न पादपद्मकी परमपद प्रदायिनी रेजसे अपनेको पवित्र करता है अर्थात् साकाररूपका दर्शन

करता है वही एवम्प्रकार उन्नति करते-करते भगवानके निराकार निरंजन स्वरूपमें भी रमजाता है अर्थात् सायुज्यमुक्ति पानेका अधिकारी होजाता है। अर्थात् पहले जो ज्ञान, ज्ञाता ज्ञेय का व्यवधान था वह मिटजाता है तब अन्तःकरण एकमात्र अद्वैत-भावको धारण करलेता है अर्थात् जब भगवद्भक्त अत्यन्त प्रेमासक्त होकर अपने प्रियतम प्रभुके अनन्य प्रेममें मग्न होकर उसीका मनन और निदिध्यासनकर तद्भावको प्राप्त होजाता है अर्थात् भगवद्रूप ही होजाता है तब ही उसकी अवस्था यथार्थमें भक्तिकी अवस्था कहलाती है। इसी अवस्थाको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनके प्रति " मच्चित्ताः " और " मद्गतप्राणाः " दो शब्दोंमें संक्षिप्तरूपसे कहदिया है।

अब आनन्दसागर श्रीमनमोहन नटनागर कहते हैं, कि " बोधयन्तः परस्परम् " जितने मेरे भक्त मेरी उपासना करनेवाले हैं वे परस्पर एक संग मिल एक दूसरेको मेरा मोहनी स्वरूप दिव्य-गुण, विचित्र लीला, अलौकिक सौन्दर्य्य इत्यादिको परस्पर एकदूसरेके प्रति बोध कराते हुए अर्थात जो मेरी अद्भुत कलाओंको तथा मेरी भक्तवत्सलता इत्यादि गुणोंको नहीं जाननेवाले हैं उनको जनातेहुए [ कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ] मेरे भिन्न २ चरित्रोंकी कथा एक दूसरेको कहतेहुए सन्तोषको प्राप्त होते हैं और रमते हैं अर्थात जिस प्रकार मैंने ध्रुव, प्रह्लाद, सुदामा, शबरी, गजराज इत्यादिको अपनेमें बसालिया और जिस प्रकार आग पानीसे तथा दुष्टोंके आक्रमणसे उनकी रक्षा की उन सब इतिहासोंको आनन्दपूर्वक गद्गद-कंठसे सदा परस्पर संभाषण करते हुए परमसन्तोषको प्राप्त

होते हैं और रमते हैं अर्थात् शान्त शीतल भगवद्भक्ति-मन्दाकिनीमें अपने हृदयको बोरकर परम पुण्यमय अभिनव आनन्द और सन्तोषकी उपलब्धि करते हैं ।

भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जो मेरे स्वरूपकी उपासना करने वाले भक्त हैं वे सब परस्पर इष्टमित्र बनजाते हैं । किसीने कहा है, कि "**इष्ट मिले अरु मन मिले मिले भजन रस रीति । मिलिये तहां निशंक हो करिये तिन सन प्रीति**" इस प्रकार जिन सज्जनोंके स्वभाव इष्ट, मन इत्यादि सब परस्पर मिलजाते हैं उनहीके संगको सत्संग कहते हैं । सो जो भगवानके भक्त हैं वे उनके ऐश्वर्य्योंका स्मरणकर अहर्निश उनके लावण्यमें मग्न, एक दूसरेसे उन्हींकी वार्त्ता करतेहुए, परस्पर गलबांही मिलते हुए ऐसा अनुभव करते हैं, कि मैं श्यामसुन्दरहीके साथ मिलरहा हूं । एवम् प्रकार अलौकिक सुख लाभ करते हुओंको तहां ऐसा अनुभव होता है जैसे सूर्य्य सूर्य्यकी आरती करे और चन्द्रमा चन्द्रमासे जामिले । इसी प्रकार सब परस्पर नाचते हैं, गाते हैं, उछलते हैं, कूदते हैं अर्थात् परम आनन्दको प्राप्त होते हैं । भूख–प्यास भूल सदा सब काल संकीर्त्तन करते हुए भगवत्‌कोही स्मरण करते हैं और एक दूसरेसे बडे ऊंचे स्वरमें पुकारकर कहते हैं, कि भैया हरि बोल ! हरि बोल! हरि बोल ! बोलो हरे राम! हरे राम! रामराम हरे! हरे ! हरे कृष्ण हरे कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! हरे हरे । अर्थात् जैसे कमल विकसित होजानेपर मकरन्दको अपने हृदयके भीतर नहीं रख सकता बाहर फेंक देता है और सर्वत्र सुगन्धको फैला देता है । इसी प्रकार भक्तों

का हृदय जब प्रफुल्लित होता है तो हरिनाम रूप मकरन्दको अपने भीतर छिपाकर नहीं रखसकते। वह नाम हठात् उबाल खाकर बाहर आही जाता है इसी कारण भक्तजन ऊंचे स्वरसे हरिनाम उच्चारण करने लगते हैं।

शंका— इतना हो हल्ला मचाकर एक दूसरेको भगवच्चरित्र वा उनकी सुन्दरता, मनोहरता इत्यादि वर्णन करनेसे क्या लाभ? मनहीमन आनन्दका अनुभव करना क्या श्रेष्ठ नहीं है? यदि है तो वारम्बार बकनेसे, गानेसे तथा चिल्लानेसे कौनसी उत्तमता और विशेषता प्रकट होती है?।

समाधान— यह उनका चिल्लाना, गाना, कोलाहल मचाना जान बूझकर नहीं होता। जैसे पुष्पकी कलियोंका स्वभाव है, कि जब पूर्णतापर आती हैं तो स्वाभाविक ही खिलखिलाकर हंसपडती हैं। किसीके रोके नहीं रुकतीं। इसी प्रकार जब भगवद्भक्तका हृदय भगवत्साक्षात्कारके आनन्दसे पूर्ण होजाता है तब आपसेआप उनके मुखसे भगवन्नाम फूटकर निकल पडता है सो तुम्हें मैं पहले जनाचुका हूं पर तुम अपने हठवश समझते नहीं हो!

दूसरी बात यह है, कि एवम्प्रकार परस्पर कीर्तन, भजन, यजन मनन, अध्ययन, हरि-चर्चा, हरि-कथा, हरि-नामस्मरण इत्यादि करनेसे भक्तोंके जो पाप हैं वे सब नाश होजाते हैं। क्योंकि जैसे अनेक प्रकारके पापोंके लिये स्मृतियोंने अनेक प्रकारके कृच्छ्र-चान्द्रायण इत्यादि प्रायश्चित्त कहे हैं इसी प्रकार भगवद्भक्तोंके लिये

उनका नाचना, गाना, कथा कहना, कीर्तन करना इत्यादि प्रायश्चित्त रूप ही हैं। प्रमाण—

" स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात्। "

( शां० सू० अ० २ आह्नि० २ सू० ७५ )

अर्थ— भगवन्नामकी स्मृति और कीर्तन करना आर्त भक्तगणोंका प्रायश्चित्त स्वरूप है। जब किसी आर्त भक्तपर किसी पापके उदय होनेसे किसी प्रकारकी विपत्ति आनकर पहुंचती है तो इसी हरिनामस्मरण और कीर्तनरूप प्रायश्चित्त द्वारा नाश होजाती है। इसी कारण भगवान्‌ने इस श्लोकमें भक्तिका प्रथम उपाय वर्णन किया बार-बार शंका मत करो!॥ ६ ॥

अब भगवान् अपने भजन पूजन करनेवालोंको क्या पुरस्कार ( इनाम ) देते हैं सो कहते हैं।

**मू०—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥**

**पदच्छेदः—** तेषाम्, सततयुक्तानाम ( नित्योत्साहवताम। निवृत्तसर्वबाह्यैषणानाम्। भगवत्येकाग्रबुद्धीनाम्। भगवत्यासक्तानाम् वा ) प्रीतिपूर्वकम भजताम् ( स्नेहपूर्वकं सेवमानानाम् ) तम् ( अविकम्पम् ) बुद्धियोगम् ( बुद्धिः मत्तत्वविषयकं सम्यग्दर्शनं तेन योगो बुद्धियोगस्तम् ) ददामि ( प्रयच्छामि ) येन ( सम्यग्दर्शनीयेन बुद्धियोगेन ) ते ( ये मच्चित्तादिप्रकारैर्मां भजन्ते ते ) माम्

( लोकमहेश्वरम् ) उपयान्ति ( प्रतिपद्यन्ते । प्रविशन्ति । साक्षात्कुर्वन्ति ) ॥ १० ॥

**पदार्थः**— ( सततयुक्तानाम् ) जो मेरे भक्त सदा मुझ में युक्त हैं अर्थात् मुझहीमें आसक्त हैं तथा ( प्रीतिपूर्वकं भजताम् ) परमप्रेमसे युक्त होकर मुझे सेवन करते हैं ( तेषाम् ) तिन अपने भक्तोंके लिये मैं ( तं बुद्धियोगम् ) उस मेरे तत्त्वकी जाननेवाली बुद्धियोगको ( ददामि ) प्रदान करता हूं ( येन ) जिस बुद्धियोगसे ( ते ) वे लोग ( माम ) मुझको ( उपयान्ति ) प्राप्त होजाते हैं अर्थात् मुझे साक्षात्कार करलेते हैं ॥ १० ॥

**भावार्थः**— बृन्दाविपिनविहारी, शोक संतापहारी श्रीकृष्णमुरारी अपने भक्तोंको क्या पुरस्कार प्रदान करते हैं सो कहते हैं, कि [ **तेषां सतत युक्तानां भजतांप्रीतिपूर्वकम्** ] जो मेरे भक्त मच्चित्त और मद्गतप्राण होकर सदा मेरे स्वरूपहीमें युक्त हैं तथा मेरी दिव्य महिमा एवं "पावनं पावनानाम" चरित्रमें इस प्रकार अहर्निश आसक्तचित्त हैं जैसे पानी भरने वाली स्त्री चाहे मार्गमें किसीसे भी बोले बतरावे पर उसका चित्त उसके मस्तकके घटमें युक्त है इसी प्रकार जिन्होंने सब कार्य करतेहुए अपने मनको मुझहीमें युक्त कररखा है, और प्रेम विभोर होकर मुझहीको भजते हैं ।

ऐसे जो मेरे भक्त सदा स्नेह पूर्वक मेरी कल्याणमयी ललित लीला तथा मेरे अभिराम चरित्रकी पावन कथामें आसक्त रह मुझे स्मरण करते हैं [ **ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते** ]

उन भक्तोंको मैं ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता हूं जिसे पाकर वे मुझ हीमें लीन होजाते हैं।

यहां भगवान्का तात्पर्य उस बुद्धियोगसे नहीं है जिसका वर्णन अ० २ श्लो० ३६ में " बुद्धियोगे त्विमां शृणु ···· " कहकर किया है। क्योंकि वहां जिस बुद्धिका वर्णन किया है वह कर्मयोगके विषय किया है अर्थात् कर्मयोगमें किस प्रकारकी बुद्धि होनी चाहिये ? और कैसे-कैसे उन कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये ? इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकमें स्वच्छरूपसे कहदिया, कि जो मेरेमें नित्ययुक्त हैं और सदा मुझको ही भजते हैं उन्हींको मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूं। इसी बुद्धिके विषय महर्षि शांडिल्य भी कहते हैं, कि " अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् " ( शांडि० अ० ३ आ०२ सू० १६ ) इस सूत्रका अर्थ यह है, कि अनन्यबुद्धिके अत्यन्त लय होनेसे तन्मयी बुद्धिका उदय होता है इसी ' तन्मयी बुद्धिकी ' प्राप्तिके विषय भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं कि ' ददामि बुद्धियोगं तम्' ।

जैसे तैलपाईकीट ( झींगर ) को कुंचुकीकीट ( भृंगी। लखेरी ) के ध्यानमें तद्रूप होजाना पडता है अर्थात् कीटभृंगी न्यायसे जैसे कीट भृंगी बनजाता है इसी प्रकार साधक अपनी अनन्यभक्तिसे भगवान्की चिन्ता करते-करते संसारकी उपाधियोंसे रहित होकर भगवत्स्वरूपको प्राप्त करलेता है। अर्थात् जैसे-जैसे भगवद्भक्ति बढती जाती है वैसे-वैसे बुद्धि तन्मय होतीजाती है ऐसे तन्मय होते-होते भगवद्रूप ही होजाती है।

शंका—भगवानने इस श्लोकमें ऐसा कहा, कि जो मुझे प्रीतिपूर्वक भजता है उसको मैं अपने स्वरूपकी प्राप्ति करनेवाली प्रेममयी बुद्धि प्रदान करता हूं पर जब तक प्रेममयी बुद्धि प्राप्त न हो तब तक भक्तिपूर्वक भजन कैसे करेगा ? और जबतक भक्तिपूर्वक भजन नहीं करेगा तब तक भगवान प्रेममयी बुद्धि कैसे प्रदान करेंगे ? ऐसा अन्योन्यविरोध कैसे बने ?

समाधान—प्रेमके दो भेद हैं व्यभिचारी और स्थायी । सो जितने भक्त पहले प्रेमके पथपर चढते हैं वे केवल व्यभिचारी प्रेमको लेकर भगवतकी ओर चलते हैं पर वहांतक जाते-जाते स्थायी प्रेम की बुद्धि प्रकट होजाती है । जैसे कोई प्राणी रात्रिको दीपक लेकर चले तो सूर्य तक पहुंचते २ वह दीपक पटक देवेगा और उसके सम्मुख करोडों दीपकके समान प्रकाश दीख पडेगा। ऐसे ही गौणी भक्ति परा-भक्तिके सम्मुख पटकदी जाती है। इसी दो प्रकारकी भक्तिको शांडिल्यने गौणीभक्ति और परा भक्तिके नामसे पुकारा है प्रमाण—

भक्त्या भजनोपसंहाराद् गौणयापरायैतद्धेतुत्वात् ( शांडि० अ० २ आ० २० सृ० ५६ )

यहां भक्ति शब्द गौणी भक्तिका प्रतिपादक है और सेवा ही गौणी भक्ति है सो यह पराभक्तिका कारणरूप है अर्थात् मूर्ति इत्यादिकी सेवा करते-करते पराभक्ति उत्पन्न होती है। भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि गौणी भक्ति करनेवालोंको मैं परा-भक्तिकी बुद्धि प्रदान करता हूं। गौणी भक्तिकी भी उन्नति करते-

करते समाधि लाभ होती है। प्रमाण— 'गौणया तु समाधिसिद्धिः' ( शां० अ० १ आ० १ सू० २० ) शंका मत करो! ।

यदि तहां बुद्धि शब्दका अर्थ- ज्ञान करलिया जावे जैसा, कि बहुतेरे टीकाकारोंने किया है तो भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि तब भगवानका अभिप्राय यों मानना पडेगा, कि जो भक्त मेरेको प्रेमपूर्वक भजता है मैं उसको सबसे पहले ज्ञान प्रदान करता हूं। क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे उपासनाका उदय होकर ज्ञान तो उत्पन्न होता ही है और अन्तःकरणकी शुद्धि निष्काम कर्मके सम्पादनसे लाभ होती ही है फिर जो भक्त भगवत्स्वरूपमें प्रेम करना आरम्भ करेगा वह निष्काम तो होही जावेगा । क्योंकि यथार्थ प्रेममें कामना नष्ट होजाती है और ज्ञानका उदय होने लगजाता है। इसलिये ज्ञान तो उसे मिलेहीगा क्योंकि कामना रहित होते ही अज्ञानके तमका नाश होता है । इसी कारण भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो बुद्धि बडे-बडे कर्मकाण्डियोंको निष्काम होकर परिश्रम पूर्वक करनेसे प्राप्त होती है सो बुद्धि मैं अपने भक्तोंको प्रेमपूर्वक प्रदान करदेता हूं। अपने भक्तोंके लिये मुझमें यही तो विशेषता है।

फिर भगवान् ऐसा भी कहआये हैं, कि ज्ञानी भक्त मुझको अधिक प्रिय है इस कारण यहां बुद्धियोगका अर्थ ज्ञानभी होसकता है ॥ १० ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह कहते हैं, कि मैं अपने भक्तों को जो बुद्धिरूप पुरस्कार प्रदान करता हूं उसका यदि कुछ प्रतिबन्धक भी हो तो उसे नाश ही करडालता हूं—

मू०— तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
॥ ११ ॥

पदच्छेदः— तेषाम् ) मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्भजताम् ) अनुकम्पार्थम् ( दयाहेतोः प्रयोजनसिद्ध्यर्थम् ) एव, अहम् ( भक्तानां प्रियतमः ) आत्मभावस्थः ( ब्रह्माकारान्तःकरणस्थः । भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तान्तःकरणस्थः ) भास्वता ( दीप्यमानेन । चिदाभासयुक्तेन ) ज्ञानदीपेन ( दीपसदृशेन ज्ञानेन ) अज्ञानजम् ( अविवेकतो जातम् ) तमः ( मिथ्याप्रत्ययतत्त्वाणां मोहान्धकारम् ) नाशयामि ( निवृत्तं करोमि ) ॥ ११ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि ( अनुकम्पार्थम् ) दया के हेतु अपने भक्तोंके प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ( तेषाम् ) तिनके ( अज्ञानजं तमः ) अज्ञानसे उत्पन्न मोहान्धकारको ( एव ) निश्चय करके ( अहम् ) मैं ( आत्मभावस्थः ) जो ब्रह्माकारवृत्ति सहित अन्तःकरणके अन्तर्गत स्थित हुआ ( भास्वता ) अत्यन्त प्रबलप्रकाशस्वरूप जो चिदाभास तिससे युक्त ( ज्ञानदीपेन ) ज्ञानके दीपकसे ( नाशयामि ) नाश करदेता हूं । अर्थात् मैं अपने भक्तों पर दया करके उनके हृदयमें बैठाहुआ परमप्रकाशस्वरूप ज्ञानद्वारा उनके हृदयके अन्धकारको नाश करडालता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थः— अब श्रीराजीवलोचन सकलदुःखविमोचन शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने भक्तोंको जो बुद्धि-

योग प्रदान करते हैं उस बुद्धिको रोकनेवाले किसी प्रकारके विघ्न और उपद्रव मार्गमें आखडे हों तो उनके नाश करडालनेकी प्रतिज्ञा करतेहुए कहते हैं, कि [ **तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः** ] जो मेरे में सदा प्रेमयुक्त चित्त लगाकर परम पुनीत भावसे मेरे भजन करनेवाले हैं, जो मेरी ही भक्तिके अनन्य-प्रेममें विह्वल होरहे हैं, मेरे बिना किसी अन्य पदार्थमें सुखका अनु-भव नहीं करते और जिनके चित्तमें मेरे चरणोंकी निरन्तर प्रीति तथा मुझसे मिलनेकी श्रद्धारूप सरिताएं ऐसे तीव्र बेगके साथ लहरें लेरही हैं जैसे वर्षाकालमें गंगा और यमुनाकी नदियां परस्पर अपनी उत्ताल तरंगोंसे लहरातीहुई प्रयागराजमें जामिलती हैं। इन विशिष्ट गुणोंसे संयुक्त ऐसे अपने भक्तोंके कल्याण निमित्त दयादृष्टिके हेतु [ **नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता** ] उनके अज्ञानान्धकारपूर्णबुद्धिको परम प्रकाशमय दिव्य ज्ञानदीपकद्वारा नाश करदेता हूं अर्थात् अज्ञानसे उत्पन्न हुए उनके मोहान्धकारको नाश कर देता हूं।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब प्रीति करने-वाला किसी अपने प्रीतमसे स्नेह लगाता है और उस स्नेहकी पूर्त्ति करनेके तात्पर्यसे अपने अन्य सब प्रकारके झंझटोंको तोडना चाहता है तो मार्गमें नाना प्रकारकी रुकावटें उत्पन्न होपडती हैं सो अज्ञानताके कारण प्रबल होजाती हैं। क्योंकि अज्ञानता एक प्रकार का अन्धकार है जो अन्तःकरणको ढकलेता है। जैसे भादोमासकी अमावस्याकी अर्द्धरात्रिमें जो प्राणी बिना दीपक लिये अपने घरकी

ओर बडी शीघ्रताके साथ चलता है तो वह मार्गमें प्रायः कहीं न कहीं फिसलकर गिरही जाता है जिस कारण उसे अपने घरपर शीघ्र पहुंचनेमें विलम्ब होजाता है। इसी प्रकार जब भगवद्भक्त अपने प्रेमरूप गृह की ओर बडी शीघ्रतासे चलता है तब इस संसाररूप महा अन्धकार-मयी यामिनीमें ठौर-ठौरपर फिसलकर गिरजाया करता है तब भगवतको उसपर दया आती है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "अनु-कम्पार्थम्" दयाकर उनकी रक्षा निमित्त उस अज्ञानसे उत्पन्न संसृतिबन्धनरूप महाघोर अन्धकारको नाश करडालता हूं।

**शंका**— तहां भगवान्‌ने जो यह कहा, कि "आत्मभावस्थः" उस अपने भक्तके भावानुसार उसके अन्तःकरणमें स्थित अर्थात् निवास करताहुआ अज्ञानको नाश करडालता हूं। ऐसा क्यों कहा? ऐसा कहनेसे प्रत्यक्ष बोधहोता है, कि भगवान् अपनी इच्छा वा भावानुसार भक्तोंके हृदयमें निवास नहीं करते वरु भक्तोंके भावानुसार ही उनके हृदयमें निवास करते हैं ऐसा क्यों?

**समाधान**— हां! भगवान् अवश्य भक्तोंहीके भावसे बद्ध हैं। क्योंकि भक्त अपने प्रेमके अमूल्य वैभवसे जिस प्रकारकी भक्ति करता हुआ जिस स्वरूपसे और जिस भावसे भगवान्‌को हृदयमें वसाता है उसी भक्तिकी पवित्र प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान उसी स्वरूप और उसी भावसे उसके हृदयमें निवास करते हैं। अर्थात् प्रेमकी परम पुनीत भावनासे भगवत्‌की उपासना करते-करते भक्तजनोंके सौभाग्यगगनमें प्रेमरूप चन्द्रकी शीतल सुहावनी एवं प्रकाशमयी शुभ्रज्योति छिट-कपडती है और मोहान्धकारको नाश करदेती है।

तहां भक्तोंकेलिये कितने प्रकारके भाव हैं? सो कहते हैं—

स्मार्तमतके अनुसार पांच प्रकारके भाव हैं अर्थात् उस एकही भगवत्त्वो विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य और गणपति पांच भिन्न-भिन्न ❀ भावों करके उपासना करनेकी आज्ञा दीगयी है। और भागवतमतके अनुसार दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्त और सर्वभाव इन पांच भावोंकरके उपासना करनेकी आज्ञा दीगई है मुख्य तात्पर्य यह है, कि भक्तजन अपनी २ प्रकृति और प्रवृत्तिकी विचित्रताके कारण उस महाप्रभुका अनेक रूपोंमें ध्यान करते हैं इसलिये इन भावोंमें किसी एक भावसे उपासनाका आरंभ करते हैं। उसी एक भावमें परमात्मा उनके अन्तःकरणमें निवास करता हुआ उनकी बुद्धिकी प्रेरणा करता रहता है तहां सर्वप्रकारकी आपत्तियोंसे बचनेकेलिये तथा संसृतिविषयवासनाओंको कुत्तोंके उवान्तके समान समझकर त्याग करदेनेकेलिये अज्ञानसे उत्पन्न उनके हृदयोंके अन्धकारको नाश करडालता है। शंका मत करो!

**शंका**— भगवान् अपने भक्तोंहीके अन्तःकरणमें निवास करता है? क्या पापियोंके हृदयमें निवास नहीं करता?

**समाधान**— वह तो सबके हृदयोंमें निवास करता है पर जैसे कल्पवृक्षको एक पापी और एक पुण्यात्माके घरमें लगादो तो उनके भावानुसार ही वह फल देवेगा। पापी तो कल्पवृक्षसे यही मांगेगा, कि हे कल्पतरु! तू मुझे सुन्दर वेश्या देदे, मेरे घरमें ब्रांडी, ह्विस्की, पोर्ट, शेरी जो नाना प्रकारके मद्य हैं भरदे और कबाबोंका ढेर लगादे

❀ इन भावोंका वर्णन हंसनाद द्वितीयभाग उपासनाके व्याख्यानमें देखो जहां एक **भीतिभाव** का भी वर्णन है जो केवल आर्त्त भक्तोंके लिये है।

तथा मुझमें ऐसी प्रबल शक्ति देदे, कि मैं सौधविहारिणी कोकिला कंठी वारांगनाओंसे भोग किया करूं तथा धन सम्पत्तिभी चुरालायाकरूं। देखो! चोर भी जब चोरी करने चलता है और मछुवा जब अपनी टोकरी और अपना जाल लेकर चलता है तो दोनों भगवानसे यही मांगते हैं, कि हे भगवन्! मुझको आज पुष्कल धन हाथ लगे, मुझको बडी-बडी मछलियां मेरे जालमें फंसकर मिलें और मेरी टोकरी मछलियोंसे भरजावे। मुख्य तात्पर्य यह है, कि भगवान भी कल्पवृक्षके समान सबके हृदयोंमें बैठाहुआ सबोंको उनके भावानुसार ही फल देता है। इसी प्रकार जो उसके भक्त हैं उनके भावोंको भी पूर्ण करता रहता है। शंका मत करो!

अब यहां इस श्लोकमें " भास्वता " कहनेसे भगवानका यह अभिप्राय है, कि केवल ज्ञान जो प्रेम रहित है उससे मेरे स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होसकती वरु उस ज्ञानके साथ प्रेमके जुट जानेकी आवश्यकता है। प्रेम उस ज्ञानके दीपकको अधिक प्रकाशमान करता है। जैसे जितनी मोटी बत्ती और जितना अधिक घृत दीपकमें दियाजावेगा उतनाही उसका प्रकाश जाज्वल्यमान देख पडेगा। इसी प्रकार जितना प्रेमरूप स्नेहके साथ श्रद्धाभक्तिकी मोटी बत्ती होगी उतनाही अधिक भगवत्स्वरूपका प्रकाश उदय होता जावेगा। इसी कारण भगवानने " भास्वता " शब्दका प्रयोग किया है ॥ ११ ॥

भगवान्के मुखारविन्द से टपकते हुए इन मधुर वचनोंको श्रवण कर अर्जुन आनन्दकी सरस-शीतलता एवं दिव्य सन्तोषकी मधुरतासे तथा भक्तिके विलक्षण चमत्कारसे कृतकृत्य होगया और अपना जन्म सफल माना और उसके हृदयमें परमप्रकाश होनेके कारण अन्धकार का आवरण सदाके लिये नाश होगया। जिस शोकसे वह पहले सूखता जाता था अब कर्पूर की डली के समान उड गया

और उसे ऐसा अनुभव हुआ, कि मैं जन्ममरणके दुःखसे छूटगया । आत्माने परमात्माको पालिया ।

अहा! क्यों न हो! वह भक्त जिसका हृदय निष्काम साधनद्वारा भगवान्की पवित्र उपासनाका परम पुनीत मन्दिर है तो निश्चय ही उसमें कल्याणकी जीवित कल्पना, आशाका सुन्दर प्रदर्शन, वैभवकी श्रेष्ठतम विभूति, तपस्याका अनुपम तथा अनिर्वचनीय तेज और स्वयं कल्याणमय भगवान्का दिव्य वास रहता है ॥ ११ ॥

एवम्प्रकार भगवान्के यथार्थस्वरूपका अनुभव होताहुआ देख आनन्द-चित्त अर्जुन अपने दोनों करोंको सम्पुटितकर मस्तक झुकाये नेत्रोंसे भगव-च्चरणारविन्दके नखमणियोंकी प्रोज्ज्वल प्रभाकी ओर दृष्टि करताहुआ मन्द २ स्वरसे गद्गद् कंठ हो प्रेमाश्रु टपकाताहुआ विशेषकर भगवत्की विभूतियोंको जाननेके तात्पर्यसे भगवान्की स्तुति करताहुआ बोला ।

अर्जुन उवाच ।

मू०—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— भवान ( वासुदेवः ) परं ब्रह्म ( परमात्मा ) परं धाम ( स्थानम । आश्रयः । तेजः ) परमं पवित्रम (पाव-नम ) [ च ] सर्वे ऋषयः ( वशिष्ठादयः ) तथा, *देवर्षिः (सुरर्षिः)

* तुम्बुरुभरतादिः कणादादिः त्रिकांडशेषः

नारदः, असितः ( व्यासशिष्यो मुनिविशेषः ) देवलः ( × प्रत्यूषस्य ऋषिपुत्रः ) व्यासः ( भगवान् कृष्णद्वैपायनः ) त्वाम्, शाश्वतम् ( नित्यम् । सर्वदैकरूपम् ) पुरुषम् ( देहान्तरस्थम् पुरिशयम् पूर्णपरमात्मानम् ) दिव्यम् ( परमे व्योम्नि चिदाकाशे भवम् ) आदिदेवम् ( सर्वेषां ब्रह्मादि देवानामादौ भवम् ) अजम् ( जन्म-रहितम् ) विभुम् ( +विभवनशीलम् । सर्वगतम् । व्यापकम् ) [ च ] आहुः ( कथयन्ति ) स्वयम् ( त्वम् ) च, एव, मे ( मह्यम् ) ब्रवीषि ( भाषसे ) ॥ १२, १३ ॥

पदार्थः— ( भवान् ) हे भगवन् ! आप जो वासुदेव हैं सो आप निश्चय करके ( परं ब्रह्म ) परमोत्कृष्ट सर्वोपरि परमात्मा हैं फिर ( परं धाम ) अत्यन्त श्रेष्ठ सब धर्मोंसे उत्तम आपका धाम अर्थात् स्थान है अथवा सब आश्रयोंसे उत्तम आपका आश्रय है। फिर हे नाथ ! ( परमं पवित्रम् ) सब पवित्र करनेवाले तीर्थादिकोंसे भी अधिक पवित्र करनेवाले हो। सो हे भगवन्! ( सर्वे ऋषयः ) जितने ऋषि हैं तथा ( देवर्षिर्नारदः ) देवर्षि जो नारद हैं फिर ( असितः ) व्यासदेवके शिष्य जो असितमुनि हैं फिर प्रत्यूषके पुत्र जो देवल नामके ऋषि हैं तथा (व्यासः) स्वयम् जो व्यासदेव हैं ये सबके सब (त्वाम्) तुमको ( शाश्वतम् ) नित्य तीनों कालमें एकरस वर्त्तमान रहनेवाला ( पुरुषम् ) सबके शरीररूप गृहमें शयन करनेवाला

× "प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रं ऋषिं नाम्नाथ देवलम्" ( विष्णुपु० १ । १५ । ११५)

+विभवनशीलम्— विविधभवनमिति व्यपनमिति वा तदर्थः

( दिव्यम् ) चिदाकाशमें स्थित ज्योतिःस्वरूप ( आदिदेवम् ) ब्रह्मादि सब देवताओंसे आदि सबोंका कारण ( अजम् ) जन्मरहित (विभुम्) सर्वव्यापक भी ( आहुः ) कहते हैं तथा ( स्वयं, च, एव ) तुम भी तो निश्चय करके अपने मुखारबिन्दसे ( मे, ब्रवीषि ) मेरे बोधके निमित्त वैसा ही कहते हो जैसा, कि वे कहते हैं अर्थात् तुम भी अपने नित्यस्वरूप और विभूतियोंको मेरे प्रति अपने मुख-कमलसे बार-बार कहचुके हो ॥ १२, १३ ॥

**भावार्थः—** अर्जुनके हृदयमें विरागमयी अनुरक्ति और अनुरागमयी विरक्ति प्रोल्लासित होनेके कारण भगवत्की महिमामयी विभूतियोंको जानलेनेके तात्पर्यसे उस जगदाधारकी स्तुति १२ और १३ दो श्लोकोंद्वारा करताहुआ कृताञ्जलिपुट होकर सजलजलदकीसी कान्तिवाले श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंकी ओर अवलोकन करताहुआ विनम्रभावसे निवेदन करता है, कि [ **परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्** ] हे भगवन् ! आपतो परब्रह्म हो अर्थात् हे परब्रह्म ! भूताकाश मनआकाशसे परे जो चिदाकाश तिससे भी उत्कृष्ट जो परमात्मस्वरूप सो तुमही हो ।

यहां अर्जुनने जो ब्रह्मके साथ **पर** शब्दका प्रयोग किया इसका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे कोई प्राणी किसी वस्तु—तत्त्वके जाननेकी इच्छा करता है तो पहले उसकी ऊपरवाली वस्तुओंको जानता है पश्चात् उसे उधेरते-उधेरते जब उसके सब ढक्कनोंको खोल देता है तब उसे वह यथार्थ वस्तु देखनेमें आती है । जैसे मानलो ! कि

एक बिजलीकी बत्ती किसी घरमें बलरही है पर उसके ऊपर एक सहस्र वस्त्रोंके तह एक दूसरेपर पडे हुए हैं। इसमें सन्देह तो नहीं, कि अत्यन्त प्रकाश होनेके कारण उन सहस्रों तहोंको वेधकर भी प्रकाशका बिम्ब बाहर आरहा है पर जैसे-जैसे उस वस्त्रके तहको हटाते जाओगे प्रकाश अधिकसे अधिक बढता चला जावेगा। एवम् प्रकार हटाते-हटाते जब अन्तिम तहको हटाओगे तो वह यथार्थ प्रकाश देख पडेगा। इसी प्रकार मनुष्य प्रथम इन्द्रादि देवको जानते-जानते ब्रह्मा पर्य्यन्तको जानलेता है और एकको दूसरेसे श्रेष्ठ जानता चलाजाता है पर जब सबको जानते-जानते जहां जानना शेष होजाता है फिर अधिक कुछ जाननेके निमित्त नहीं रहता उसीको सबसे परम कहते हैं सो अर्जुन यहां भगवतको सबसे पहिले परब्रह्म कहकर पुकारता हुआ यही सूचना कररहा है, कि हे भगवन्! आप सबोंसे परे हो। आपको जानलेनेके पश्चात् फिर कोई अन्य वस्तु आपसे परे नहीं है इसलिये आप परब्रह्म हो। तहां श्रुतिका प्रमाण है—

"**ॐ यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै तदमृतम्**" अर्थ— प्राणी चलते-चलते जहां पहुंचकर अन्य किसीको नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता वही भूमा कहा जाता है और जो भूमा है वही अमृत है और "ब्रह्मैवेदममृतम्" इस श्रुतिके वचनानुसार जो अमृत है सो ही ब्रह्म है। इसी कारण तिस भूमाको अर्जुनने परब्रह्म कहा। तथा ब्रह्मके स्वरूपको तो श्रुतियां नाना प्रकारसे प्रतिपादन कररही हैं। यथा-"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" आनन्दो ब्रह्मेति

व्यजानात्" "आनन्दरूपममृतम् यद्विभाति" "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति"। ये सब श्रुतियां उस ब्रह्मको प्रतिपादन कररही हैं इनके अर्थ इस गीतामें ठौर-ठौरपर किये जाचुके है इसलिये विस्तार के भयसे यहां नहीं कियेगये। पर ऐसे ब्रह्मके साथ पर शब्द लगानेके अनेक कारण हैं जो फिर यहां दूसरे प्रकारसे दिखलाये जाते हैं।

"यल्लाभान्न परो लाभो यत्सुखान्न परं सुखम्।
यज्ज्ञानान्न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥
यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥"
(आत्मबोध ग्रन्थमें देखो)

इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है। इनही कारणोंसे अर्जुनने ब्रह्मके साथ पर शब्दका विशेषण लगाकर भगवानके सम्मुख कहा कि हे भगवन्! तुमही परब्रह्म हो फिर तुमही परमधाम हो। अर्थात् प्राणी भिन्न-भिन्न स्थानोंका आश्रय लेते-लेते जब कहीं भी सन्तोष नहीं पाता है सर्वत्रसे अर्थात् अन्य देवताओंके धामसे लौटकर फिर मृत्युलोकमें आगिरता है पर जब सब धामोंके आश्रयोंको छोड तुम्हारे धामपरे पहुंचता है और तुम्हारा आश्रय लेता है तब पूर्ण सन्तोषको पाजाता है फिर लौटकर इस संसारचक्रमें नहीं आता। अर्थात् तुम्हारे धामसे परे फिर कोई दूसरा धाम नहीं है।

सो भगवान् स्वयं अर्जुनसे कहेंगे, कि "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" (अ० १५ श्लो० ६) जहां जाकर फिर प्राणी संसारचक्रमें नहीं लौटते सोही मेरा परमधाम है । इसी कारण सब आश्रयोंसे श्रेष्ठ आश्रय और सब तेजोंसे श्रेष्ठ तेज समझकर अर्जुनने धामशब्दके साथ भी पर शब्दका विशेषण लगाया है ।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भगवन् ! तुम्ही सब प्राणियोंके परम आश्रय हो तथा हे नाथ ! तुम ही उस अनादि अनन्त और अनिर्वचनीय शक्तिके अधिष्ठातृदेव हो । जैसे गंगादि तीर्थ तथा कोई अन्य देव देवी जो प्राणियोंके पवित्र करने वाले हैं वे सदाकेलिये सब पापोंसे छुडाकर पवित्र नहीं करते पर तुम्हारे स्पर्शमात्रसे प्राणी मोक्षपदवी पाकर सदाकेलिये पापोंसे छूट पवित्र होजाता है इसलिये तुम परमपवित्र हो पावनके भी पावन करने वाले हो ।

फिर हे भगवन ! [ **पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्** ] तुमको सब लोग + पुरुष, शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अज और विभु कहते हैं अर्थात् प्राणीमात्रके शरीरमें जो नवद्वारका *पुर कहलाता है तिसमें तुम शयन करनेवाले हो इसलिये तुम पुरुष कहलाते हो ।

---

+ पूर्षु शेते यः इति पुरुषः ।

* पिपर्त्ति पूरयति बलं यः ।

प्रमाण— " पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥ "
(श्रीमद्भागवत स्कं० ७ अ० १४ श्लो० ३०)

अर्थ— मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि और देवताके पुर अर्थात् शरीरोंको उत्पन्न करके तुम प्रत्येक शरीरमें अन्तर्य्यामीरूपसे स्वयं शयन करते हो इस कारण × पुरुष नामसे प्रसिद्ध हो।

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! एक अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म कीट तथा स्थूलसे स्थूल तिमिंगलादि महामत्स्यके शरीररूप पुरीमें तुम प्रत्यगात्मा होकर निवास करते हो इस कारण तुम पुरुष कहेजाते हो । फिर श्रुतिका भी वचन है, कि "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः । " ( अर्थ स्पष्ट है )

शंका—सो हरि यदि शरीरोंहीमें निवास करता है तो ऐसा समझा जावेगा, कि इन शरीरोंके नष्ट होजानेसे वह भी नष्ट होजाता होगा।

समाधान— इसी शंकाके निवारणार्थ अर्जुन कहता है, कि ऐसा नहीं तुम शाश्वतम नित्य हो तीनों कालमें एक रस हो, कभी नाश नहीं होते। क्योंकि सबोंके तुम कारण हो, शरीरोंके नष्ट होनेपर भी तुम वहांही वर्त्तमान हो। जैसे घट वा मठके टूटजानेसे घटाकाश वा मठाकाशका नाश नहीं होता वह ज्योंका त्यों वहांही बना रहता है

× पुरुसंज्ञे शरीरेऽस्मिन् शयनात् पुरुषो हरिः । शकारस्य षकारोयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते ॥ ( शंकरविजय प० १३ )

इसी प्रकार हे भगवन् ! तुम शरीरोंके नष्ट होनेपर भी वहांही बने रहते हो। शंका मत करो !

अब फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम दिव्य हो अर्थात् परमप्रकाशस्वरूप हो। क्योंकि सबसे परे जो चिदाकाश परम प्रकाशस्वरूप है उसी चिदाकाशमें तुम वर्त्तमान हो। इसीलिये तुम दिव्यमय परमप्रकाशस्वरूप हो। फिर तुम आदिदेव हो अर्थात् सबसे आदि ब्रह्माकी उत्पत्ति हो। जो सम्पूर्ण सृष्टिके कर्त्ता हैं तिस ब्रह्मासे भी तुम आदि अर्थात् पहलेसे हो और तिस ब्रह्माकी उत्पत्तिके भी तुम्हीं कारण हो। फिर तुम अज हो किसीसे उत्पन्न नहीं हुए हो वरु सब देवता देवी तुमहीसे उत्पन्न हैं। फिर विभु हो अर्थात् सर्वगत हो, सर्वत्र व्यापक हो और कोई भी स्थान तुमसे शून्य नहीं है।

इसी कारण वेदने भी तुमको 'विभु' कहकर गान किया है प्रमाण— "ॐ त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा * विभुर्वां याम उत रातिरश्विना।" ( ऋग्वेद मंड० १ सू० ३४ मं० १ )

अर्थ— यहां यह मन्त्र विभुः अर्थात् व्याप्त कहकर भगवानकी स्तुति करता है। फिर "एकस्य चिन्मे ÷ विभ्वस्त्वोजः" ( ऋ० मंड० १ सू० १६५ मं० १० ) यहां भी विभु शब्दका अर्थ सर्वत्रगमनशील तथा व्यापक है। फिर इस विभु शब्दका अर्थ ईश्वर भी

* विभुर्व्याप्तः इति तद्भाष्ये सायणः।

÷ विभु सर्वत्रगमनशीलम् इति तद्भाष्ये सायणः।

है "यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं+ विभ्वं विशे विशे"
( ऋ० मंडल ४ सू० ७ मं० १ )

फिर वशिष्ठ, अंगिरा, विश्वामित्र इत्यादि सत ऋषि जो ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। फिर देवर्षि जो तुम्बुरु, भरत, कणादादि हैं इन देवर्षियोंमें भी विशेषकर जो नारद हैं ये सबके सब तुम्हारे विशेष गुणोंका गान करते हैं। इतनाही नहीं, कि केवल ये ही लोग ऐसा करते हैं वरु [ असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे ] श्रीव्यासदेवके शिष्य असित मुनि प्रत्यूषऋषिके पुत्त देवल ऋषि तथा व्यासदेव तुम्हें उपर्य्युक्त विशेषणोंसे पुकारते हैं तुमने तो स्वयं भी अपने सुन्दर मुखारविन्दसे अपने विशिष्ट गुणोंको मेरे प्रति कथन किया है जिनके द्वारा मुझे तुम्हारे स्वरूका बोध हुआ है।

नारद मेरेपास आकर तुम्हारे गुणोंका वर्णन करते थे और कईबार वीणा बजा—बजाकरे हे भगवन ! तुम्हारा गुणानुवाद करते थे। 'असित' और 'देवल' तथा व्यास भी मेरे गृहपर आकर तुम्हारी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करतेथे पर जैसे अंधे केवल जाडेके दिनोंमें सुर्य्यके तापका सुख अनुभव करसकते हैं पर उसके प्रकाशका बोध उनको कुछ भी नहीं होसकता। इसी प्रकार इन ऋषियोंके गान अर्थात राग तानका सुखमाल तो मैं अवश्य अनुभव करता था पर यथार्थमें तुम्हारे परमप्रकाशस्वरूपका कुछ भी बोध नहीं होता था। परन्तु जब

+ विभ्वं विभुमीश्वरम् इति तद्भाष्ये सायणः

तुमने स्वयं मुझपर कृपाकरके अपने मुखसरोजसे वर्णन किया है तब मुझे तुम्हारे यथार्थस्वरूपका बोध होरहा है। सो हे भगवन् ! अब मेरे हृदयका अन्धकार समूल नष्ट होगया है ॥ १२, १३ ॥

अब अर्जुन भगवान्‌के प्रति अगले श्लोकमें अपने दृढ विश्वासकी पूर्ण परिपक्वता दिखलाताहुआ कहता है—

**मू०—सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ! ।**
**न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः**
**॥ १४ ॥**

पदच्छेदः— [ हे ] केशव ! ( को ब्रह्मा ईशः रुद्रः तौ आत्मनि स्वरूपे वदति प्रलये उपाधिरूपमूर्त्तित्रयमुक्त्वा एकमात्र परमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते यः ) माम् ( अर्जुनं प्रति ) यत्, वदसि ( भाषसे ) एतत्, सर्वम्, ऋतम् ( सत्यम् ) मन्ये, हि ( यस्मात ) [ हे ] भगवन् ! ते, व्यक्तिम् ( प्रभावम् । स्वरूपम् ) देवाः ( ब्रह्मादयः ) न, विदुः, दानवाः ( राक्षसाः ) न [ विदुः ] ॥ १४ ॥

पदार्थः— ( केशव !) हे केशव! ( माम् ) मुझ अर्जुनके प्रति ( यत्, वदसि ) जो कुछ तुम कहते हो ( एतत्, सर्वम् ) उन सब विषयोंको ( ऋतं, मन्ये ) मैं सच मानता हूं ( हि ) क्योंकि ( भगवन् ! ) हे भगवन् ! ( ते, व्यक्तिम् ) तुम्हारे स्वरूपके प्रभावको ( देवाः ) ब्रह्मादि देव भी ( न, विदुः ) नहीं जानते हैं। तथा ( दानवाः, न ) राक्षसगण भी नहीं जानते हैं। तात्पर्य्य

यह है, कि तुम अपना प्रभाव आपही जानते हो अन्य कोई कुछ नहीं जानता ॥ १४ ॥

**भावार्थः—** अब अर्जुन भगवानके तथा ऋषियोंके वचनोंमें दृढ विश्वासकी सूचना करता हुआ कहता है, कि [ **सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव !** ] हे केशव ! जो कुछ तुम मुझसे कहते हो उन सब वार्त्ताओंको मैं सत्य मानता हूं ।

क्योंकि इस रथपर थोडे कालमें जो तुमने मुझ दीन हीन अर्जुनपर दयाकर अपने दिव्य वचनरूप सूर्यके प्रकाशसे मेरे हृदयके अन्धकारको दूर करदिया है इसलिये पहले जो नारदादि ऋषियोंके वचनोंका मुझसे कुछभी अर्थ नहीं लगता था सो अब मुझे स्वच्छ दीखने लगगया । जैसे पौर्णमासीके चन्द्र और तारागणोंकी ज्योति वर्षाकालके महीनोंमें मेघ मालासे आच्छादित होनेके कारण नहीं दीख पडतीं पर जब प्रचण्ड वायुके तीव्र वेगसें घटा फटजाती है तब सम्पूर्ण आकाश चन्द्रमाकी ज्योति ही ज्योतिसे शुभ्र और निर्म्मल देख पडता है और चन्द्रमा सारे जगत्की आंखोंको अपनी शुभ्र ज्योतिकी छटासें आनन्दित करदेता है । इसी प्रकार हे केशव ! तुम्हारे वचनरूप वायुके वेगसे मेरे हृदयका अज्ञानरूप बादल फट जानेसे मेरा हृदय पौर्णमासीके आकाशके तुल्य निर्म्मल और स्वच्छ होगया और तुम्हारा स्वरूप पूर्णचन्द्रके समान मेरे हृदयमें उदय हो आया । तुम्हारे तथा ऋषियोंके वचनरूप तारागण सब मुझे स्वच्छ दीखने लगगये और तुम्हारी सब बातें मुझे ज्योंकी त्यों सत्य भासने लगगयी ।

सच है ! माली कितना भी वृक्षको सींचे पर फल तो समय ही पर लगता है इसी प्रकार तुम्हारे ऐसे गुरुके प्राप्त होनेसे ऋषियोंका पूर्व परिश्रम आज मुझे फलदायक देख पडता है । अब मेरे चित्तमें इस बातकी तनक भी शंका नहीं है, [ **न हि ते भगवन् ! व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः** ] हे भगवन् ! तुम्हारे विशेष प्रभावको ब्रह्मादि देव भी कुछ नहीं जानते तथा राक्षसोंमें भी कोई कुछ नहीं जानता ।

**शंका**— देवता तो सात्विक हैं उनकी मनोवृत्ति भगवत्की ओर रहती है इसलिये उनके जाननेके विषय अर्जुनका कहना उचित है पर " न दानवाः " ऐसा क्यों कहा । क्योंकि ये दानव तामसी हैं इनको तो भगवत्स्वरूपसे कोई तात्पर्य ही नहीं है फिर अर्जुनने दानवोंका नाम क्यों लिया । जैसे कोई कहे, कि अंधेरी रातमें आंखवालोंको कुछ नहीं सूझता और अन्धोंको भी कुछ नहीं तो यह वाक्य यहां कहना व्यर्थ है । क्योंकि अन्धोंको तो उजियाली रात्रिमें भी वस्तु-तस्तु नहीं सूझती । जैसे " **अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्तेन** " चन्द्रमाके प्रकाशका जहां वर्णन है तहां फिर दीपिकाकी पुनरुक्तिसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् ऐसेही वाक्यों को " अपेक्षातिरिक्त " वचन कहते हैं सो यहां अर्जुनका " न दानवाः " कहना अपेक्षातिरिक्त अर्थात् निरर्थक है ।

**समाधान**— यह वाक्य निरर्थक नहीं है जैसे देवता बडे-बडे महत्त्ववाले, शक्तिमान्, बलवान्, विद्वान, धीमान् और पराक्रमवाने

होते हैं इसी प्रकार बहुतेरे दानव भी बडे-बडे विद्वान्, तेजवान्, शक्तिमान् और शौर्य्यवान हुए हैं। देखो! कश्यपकी कई स्त्रियां थी तिनमें एक दनु नामकी स्त्रीसे दानवोंकी उत्पत्ति है इस दनुसे बडे-बडे विद्वान् तत्त्वज्ञ सौ पुत्र उत्पन्न हुए ये सब दानव कहलाते हैं। इन सौ पुत्रों में जो बडे-बडे ज्ञानी हुए उनका नाम गिनाया जाता है—

"दनुः पुत्रशतं लेभे कश्यपात् बलदर्पितम्।
विप्रचित्तिः प्रधानोऽभूत येषां मध्ये महाबलः॥
द्विमूर्द्धा शकुनिश्चैव तथा शंकुशिरोधरः।
अयोमुखः शम्बरश्च कपिलो वामनस्तथा॥
मरीचिर्मेघवांश्चैव हरा गर्भशिरस्तथा।
विद्रावणश्च केतुश्च केतुवीर्य्यः शतह्रदः॥
इन्द्रजित सत्यजिच्चैव वज्रनाभस्तथैव च।
एकचक्रो महाबाहुर्वज्राक्षस्तारकस्तथा॥"

इन श्लोकोंमें जो २२ दानवोंके नाम कथन किये गये हैं ये दानवगण ऐसे बडे-बडे विद्वान और वेदज्ञ तथा नाना प्रकारके यज्ञोंके सम्पादन करनेवाले थे जो देवताओंसेभी शास्त्रार्थमें जय पातेथे अर्थात ये ऐसे पराक्रमी हुए हैं, कि शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें देवताओंसे बढे-चढे थे और देखिये! रावण जो प्रसिद्ध राक्षस है कैसा विद्वान् था? चारों वेदोंपर भाष्य किया है और वेद शास्त्रमें तथा यज्ञादिमें परमप्रवीण था।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि बहुतेरे दानव भी देवताओंके समान विद्वान् और तेजस्वी होते हैं इसलिये अर्जुनका दानवाः

ऐसा पद कहना इस श्लोकमें अपेक्षातिरिक्त अर्थात् व्यर्थ और निरर्थक नहीं है । शंका मत करो ! ॥ १४ ॥

लो और सुनो अर्जुन क्या कहता है—

मू०—स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ! ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ! ॥ १५ ॥

**पदच्छेदः**– [ हे ] पुरुषोत्तम ! ( पुरुषश्चासौ उत्तमश्च तत्सम्बुद्धौ । विष्णो ! । जगन्नाथ ! ) [ हे ] भूतभावन ( भूतोत्पादक ! ) [ हे ] भूतेश ! ( सर्वभूतानामीश ! ) [ हे ] देवदेव ! ( देवानां सूर्यादीनामपि द्योतक ! अथवा देवानां सर्वाराध्यानामप्याराध्य ! ) [ हे ] जगत्पते ! ( जगत्पालक ! ) स्वयम्, एव, त्वम्, आत्मना ( निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिपरिपूर्णेन स्वस्वरूपेण स्वेनैव वा ) आत्मानम् ( निरतिशयज्ञानैश्वर्यबलादिशक्तिमन्तमीश्वरम् ) वेत्थ ( जानासि ) ॥ १५

**पदार्थः**– ( पुरुषोत्तम ! ) हे पुरुषोंमें उत्तम महापुरुष ! ( भूतभावन ! ) हे सर्वभूतमात्रोंके उत्पन्न करनेवाले ( भूतेश ! ) हे सर्व भूतोंके स्वामी ( देवदेव ! ) हे सूर्यादि देवोंके भी प्रकाश करनेवाले अथवा सब प्राणियोंसे आराधना करने योग्य जो ब्रह्मादि देव तिनसे भी आराधना कियेजानेवाले तथा ( जगत्पते ! ) हे सम्पूर्ण जगत्के पालन करनेवाले ( स्वयमेव, त्वम् ) तुम तो आप ही ( आत्मना ) ज्ञान और नाना प्रकारके ऐश्वर्यादि शक्तियोंसे परिपूर्ण अपने स्वरूप को ( वेत्थ ) जानते हो । अभिप्राय यह है, कि तुम ही जानते हो तुमसे इतर तुमको कोई भी नहीं जानसक्ता ॥ १५ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन भगवानके ऐश्वर्य्योंको भगवान्हीके मुखसे जाननेकी इच्छाकर भगवान्की स्तुति करता हुआ कहता है, कि [ **स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !** ] हे भगवन् ! तुमतो अपनी शक्तियोंको, विभूतियोंको, ऐश्वर्य्योंको तथा अपने निरुपाधिक और सोपाधिकस्वरूपोंको अपनीही शक्तिद्वारा आप ही जानते हो दूसरा कोई भी तुम्हारे रूप और ऐश्वर्य्योंके जाननेमें समर्थ नहीं है । ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके देव, देवी, गन्धर्व तथा बडे २ बुद्धिमान् मनुष्य एकत्र और एक सम्मति होकर एक महती सभा कर सबकेसब अपनी-अपनी आयुप्पर्य्यन्त मीमांसा करते रहजावें, असंख्य युगपर्य्यन्त अपनी बुद्धिको विचारकी मथानीसे मंथन करते रहजावें तथापि वे तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान सकते । वेदोंने जो तुम्हारे विषय कुछ मुंह खोला है सो बालकोंके सदृश केवल तुम्हारे स्वरूप रूप महासागरके किनारे चिर काल पर्य्यन्त मानों छोटी-छोटी घोंघियोंको चुनता रहगया है इसलिये वेद भी "न विद्मो न विजानीमः" कहकर चुप होगया है। बस फिर इससे इतर दूसरा कौन है? जो तुम्हारे जाननेमें समर्थ होसके इसलिये यह सिद्धान्त है, कि तुमको तुमही जानते हो। क्योंकि आकाशके विस्तारको आकाशही जानता है और यदि थोडी देरके लिये स्वीकार भी करलूं, कि दूसरे देव, देवी तथा वेद वेदान्तमें तुम्हारी गुणावलियोंके भण्डार भरे भी हों तो भी वे मेरेलिये वृथा हैं ।

जैसे सातों समुद्र तथा गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सरस्वती इत्यादि नदियोंमें जल पूर्ण है पर चातककेलिये सब वृथा है। क्योंकि

चातकको तो स्वातिकी एक बूंदही सन्तोषप्रद है इसी प्रकार हमारे सन्तोषके लिये तो सरकारके अधराधर पल्लवसे निकसे हुये वचन रूप स्वातिकी बूंदही सन्तोषदायिनी होसकती है इसलिये [ **भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते !** ] हे भूतोंके उत्पन्न करने तथा चराचरकी भृकुटी विलास मात्रसे रचना करनेवाले तथा भूतमात्रके ईश, अन्तरात्मा, परमात्मा, सर्वव्यापी सबके अन्तर्य्यामी तुम ही हो । हे देवोंके देव ! अर्थात् सम्पूर्ण विश्वको उजेला करनेवाले जो सूर्यदेव हैं उनको भी प्रकाश करनेवाले अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देव जो सम्पूर्ण विश्वसे पूजेजाते हैं तिन देवताओंसे पूजेजानेके योग्य जो तुम हो अर्थात् तैंतीस कोटि देव जिसको मस्तक झुकायेहुए जिसकी आज्ञाके पालनमें तत्पर हैं और जिसके भयसे सबके सब भय खारहे हैं, दिनकर निशिकर सांझ सकारे विस्तृत गगनपर दिन–रात दौड मारते रहते हैं, सप्तर्षि, ध्रुव, नक्षत्रगण, नवों ग्रह, कोटानुकोटि और असंख्य तारकचय जिसकी आज्ञाके पालनमें तत्पर हैं ऐसे भूतभावन भगवान् देवदेव महेश्वर तुम ही हो । प्रमाण श्रु०— " भीषास्मात् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः " ( तैत्ति० अष्टम अनुवाक )

अर्थ— जिसके डरसे हवा बहती है, जिसके डरसे सूर्य उदय होता है तथा जिसके भयसे इन्द्र, चन्द्रादि तथा मृत्यु दौडी फिरती है ।

फिरे अर्जुन कहता है, कि केवल सब डरतेही रहते हैं इतनाहि नहीं वरु " जगत्पते ! " हे जगदीश्वर ! तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके पति

अर्थात् पालन करनेवाले भी हो, सब प्राणीमात्रके रक्षक हो और उनके दुःखोंको नाश करदेनेवाले हो। जब-जब किसी प्राणीपर किसी प्रकार की विपत्ति आन पडती है तो तुम उसकी सहायता कर उस विपत्तिसे छुडा देते हो। क्योंकि पतिका तो धर्मही है, कि अपने अधीनवालोंकी सदा रक्षा करता रहे। सो हे आनन्दकन्द! तुम जो पुरुषोत्तम हो, भूतभावन हो, भूतेश हो, देव-देव हो और जगत्पति हो सो तुम मुझपर कृपा करो ॥ १५ ॥

भगवान्‌को एवम् प्रकार उपर्य्युक्त छवों विशेषणों द्वारा युक्तकर पुकारनेसे अर्जुनका मुख्य अभिप्राय यह है, कि उसके हृदयमें जो भगवानके स्वरूप और विभूतियोंके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न हो आयी है उसे अपनी भगवान्‌के मुखसे ही पूर्ण करानेकी इच्छासे कहता है—

**मू०— वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**
**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६**

**पदच्छेदः—** त्वम्, याभिः विभूतिभिः ( ऐश्वर्यादिभिः ) इमान्, लोकान् ( भूर्भुवः स्वः तथा अतलवितलादीनि चतुर्दश भुवनानि ) व्याप्य ( आच्छाद्य ) तिष्ठसि ( स्थितो भवसि ) हि [ ताः ] दिव्याः ( अत्यन्तदीप्तियुक्ताः। दैवीप्रभायुक्ताः ) आत्मविभूतयः ( स्वमहात्म्यविस्ताराः ) अशेषेण ( पूर्णरूपेण ) वक्तुम्, अर्हसि ( योग्यो भवसि ) ॥ १६ ॥

**पदार्थः—** ( त्वम् ) हे भगवन्! तुम ( याभिर्विभूतिभिः ) जिन अपने ऐश्वर्योंके साथ ( इमान्, लोकान् ) इन चौदहों भुव-

नोंको ( व्याप्य ) आच्छादन कर ( तिष्ठसि ) स्थित होरहे हो ( हि ) निश्चय करके ( दिव्या:, आत्मविभूतय: ) तिन अपने परम अलौकिक और अद्भुत ऐश्वर्य्योंको ( अशेषेण ) पूर्णरूपसे तुमही मेरेप्रति ( वक्तुमर्हसि ) कहनेके योग्य हो। अभिप्राय यह है, कि तुमही अपने आपको जानते हो अन्य कोई तुमको नहीं जानता है इसलिये तुमही अपनी विभूतियोंको पूरा-पूरा मुझसे कहनेमें समर्थ हो ॥ १६ ॥

**भावार्थ:**— अब अर्जुन भगवानकी दिव्य विभूतियोंको उनहीके मुखारविन्दद्वारा जाननेके तात्पर्य्यसे कहता है, कि [ **वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय:** ] हे भगवन् ! तुम अपनी विभूतियोंको पूर्णरूपसे सांगोपांग अपनेही मुखसे कहनेके योग्य हो। क्योंकि तुम सर्वज्ञ हो अपने आपको पूर्णरूपसे जानते हो अन्य जितने ब्रह्मादि देव हैं वे तुम्हारे सम्मुख अल्पज्ञ हैं इसलिये वे कुछ नहीं कहसकते। तुम्हीं कहसकते हो। क्योंकि तुम सबके अन्तर निवास करने वाले सबके नियन्ता हो। प्रमाण श्रु०— " ॐ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनि: " ( माण्डू० श्रु० ६ )

अर्थ— हे भगवन् ! तुमही सर्वेश्वर हो, सर्वज्ञ हो, सर्वान्तर्यामी हो तथा सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान हो। जो कुछ अपनी विभूतियोंके विषय कहोगे सो तुमही कहोगे अतएव मेरी प्रार्थना है, कि मुझ दीन शरणागतपर दयाकरके अवश्य अपने उपदेशामृतको कथन करो मैं तुम्हारे उपदेशको सुनकर कृतार्थ होजाऊंगा। मैं पहलेही तुमको गुरु मानचुका हूं, और प्रतिज्ञा कर चुका हूं कि " शिष्यस्तेऽहं साधि मां त्वां प्रपन्नम् " ( अ० २ श्लो० ७ ) मैं तुम्हारा शिष्य हूं, शरण आया हूं

मुझे शिक्षा दो। इसलिये तुम अपनी ' दिव्या ह्यात्मविभूतयः ' दिव्य आत्मविभूतियोंको मुझपर दयाकर कहो, सो अर्जुन कहता है, कि हे भगवन! [ याभिर्विभूतिभिर्ल्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ] जिन अपनी विभूतियोंके साथ तुम इन चौदहों भुवनोंमें तथा दशों दिशाओंमें फैलकर व्यापरहे हो, और बडे—बडे बुद्धिमानोंने यह सिद्ध करलिया है, कि तुम सर्वत्र अपनी विभूतियों द्वारा वर्त्तमान हो। अर्थात् आगे-पीछे दायें-बायें ऊपर नीचे जिधर देखो उधर ही तुम्हारी विभूतियोंके साथ तुम सुशोभित होरहे हो ऐसा नहीं, कि जैसे सूर्य्यकी किरणें केवल चार प्रहर पृथिवीपर व्यापकर फिर सायंकालको नष्ट होजाती हैं ऐसा तुम्हारा व्यापना नहीं है। तुम तो व्यापकर ' तिष्ठसि ' सर्वत्र स्थिर रहते हो, अचल हो, जहां हो तहां सदाके लिये हो और अनादिकालसे अनन्तकाल पर्य्यन्त ज्योंके त्यों व्यापते हो। इसलिये हे भगवन्! तुम अपने ऐश्वर्य्योंको अपने मुखारविन्दसे मुझ दीनके कल्याणनिमित्त वर्णन करो॥ १६

तथा हे भगवन्!

**मू०—कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।**
**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥**

पदच्छेदः— [ हे ] योगिन् ( निरतिशयैश्वर्य्यादिशक्तिशालिन् ) अहम ( अतिस्थूलबुद्धिविशिष्टार्जुनः ) सदा ( सर्वस्मिन्काले ) परिचिन्तयन ( ध्यायन् ) त्वाम् ( परमैश्वर्य्ययुक्तं महेश्वरम ) कथम ( केन प्रकारेण ) विद्याम् ( विजानीयाम् ) [हे] भगवन! केषु केषु, च, भावेषु ( चेतनाचेतनात्मकेषु वस्तुषु ) मया ( स्थूलबुद्धिनार्जुनेन ) चिन्त्यः ( ध्येयः ) असि ॥ १७ ॥

पदार्थः— ( योगिन् ! ) हे सर्वप्रकारके ऐश्वर्योंसे युक्त महाप्रभु ! ( अहम् ) मैं जो मन्दबुद्धि अर्जुन हूं सो ( त्वाम् ) तुमको ( सदा परि चिन्तयन् ) सदा ध्यान करताहुआ ( कथम् ) किस प्रकार ( विद्याम् ) जानूं ? सो कृपाकर कहो तथा ( भगवन् ) हे महेश्वर ! केषु केषु ) किन-किन ( भावेषु ) भावोंमें तुम (मया) मुझसे (चिन्त्यः) ध्यान कियेजाने योग्य ( असि ) हो सो भी कृपाकर मुझ दीन दासके प्रति कहो ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भिन्न२ भावोंसे भगवान् के ध्यान करनेकी रीति भगवान्हीसे सुननेकी अभिलाषा कर कहता है, कि **[ कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ]** हे योगिन् ! तुम जो नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न अपनी योगमायासे सम्पूर्ण विश्वके चराचरको मोहमें डालनेवाले तथा अपनी योगमायासे विराट्स्वरूप होकरे प्रत्यक्ष होनेवाले हो ! सो मैं तुमको किस प्रकारे और कैसे जानूं ? दया करे कहो ! क्योंकि तुम्हारे जाननेके निमित्त जो मैंने अनेक मार्ग वेदवेदान्तोंमें अवलोकन किये और नारदादि अनेक महर्षियोंद्वारा तुम्हारी विभूतियोंको श्रवण किया पर अभी तक हे योगेश्वर ! तुम्हारी विभूतियों द्वारा तुमको सुलभ रीतिसे जाननेका सहज उपाय मेरी समझमें कुछ नहीं आया । इसलिये अब मैं यही चाहता हूं, कि तुम्हारे ही मुखारविन्दसे तुम्हारी विभूतियोंको श्रवण कर उनके द्वारा तुमको सहजमें जानलूं । इसलिये हे भगवन् ! तुम मुझको शीघ्र यह उपदेश करो, कि " त्वां सदापरिचिन्तयन् " तुमको सदा निरन्तर चिन्तन करतेहुए अर्थात् अहर्निश

एकाग्रचित्त हो तैलधारावत् सदा तुम्हारी मूर्तिका ध्यान करतेहुए तथा तुम्हारी विभूतियोंकी स्मृति करतेहुए मैं तुमको किस प्रकार जानूं ?

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवानकी विभूतियां तो अनगिनत हैं । यदि कोई प्राणी चाहे, कि उनकी सब विभूतियोंका स्मरण करे तो सम्भव नहीं है । क्योंकि आकाशके तारों की गिनती किसी समय कोई महापुरुष करले तो करले और समुद्रके किनारेकी रेतियोंकी गणना करे तो करले पर ईश्वरकी विभूतियोंकी गणना नहीं होसकती। फिर जो प्राणी चाहे, कि भगवतकी सब विभूतियोंको जानकर उनही विभूतियों द्वारा भगवतको जानले तो ऐसा नहीं होसकता । क्योंकि अनगिनत विभूतियोंकी ओर चित्तको दौडा ले जानेसे चञ्चलता उत्पन्न होगी और जब चंचलता उत्पन्न हुयी तो एकाग्रता के नष्ट होजानेसे ध्यान नहीं जम सकता । जब एकाग्रतापूर्वक भगवतके स्वरूपमें ध्यान नहीं जमा तो भगवान् कैसे जाना जासकता है ! ।

इसी कारण अर्जुन स्वच्छ हृदयसे पूछता है, कि [ **केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया** ] हे भगवन् ! तुम मुझसे किन किन भावोंके द्वारा चिन्ता कियेजाने योग्य हो । इसलिये तुम मुझपर कृपाकर उनही विशेष भावोंका वर्णन करो ! ॥ १७ ॥

इस श्लोकमें अर्जुनने जो यह कहा, कि तुम उन्हीं विशेष भावों को कहो जिनके द्वारा मैं तुम्हारी चिन्तना करसकूं इतना कहनेपर उसके चित्तमें यह शंका उत्पन्न होआयी, कि ऐसा न हो, कि भगवान् युद्ध का समय उपस्थित जानकर अपने भावोंसे मुझ अल्पज्ञके लिये दो चार

ही भावोंको कहकर चुप होजावें । इसलिये भगवान्‌की विभूतियोंको फिर एकबार विस्तारपूर्वक जाननेके तात्पर्यसे कहता है—

मू०—विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ! ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।
॥१८॥

**पदच्छेदः—** जनार्दन ! ( अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वैर्जनैर्याच्यते इति जनार्दनः तं सम्बोधयन हे जनार्दन ! ) आत्मनः ( स्वस्य ) योगम् ( सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणम् ) विभूतिम् ( ऐश्वर्यम् ) च, भूयः ( पुनः ) विस्तरेण, कथय, हि (यस्मात् ) अमृतम् ( मोक्षसाधनस्वरूपममृतवत्पदेपदे स्वादुस्वादु वाक्यम्) शृण्वतः (आकर्णयतः)मे, तृप्तिः (परितोषः) न,अस्ति ॥१८॥

**पदार्थः—** ( **जनार्दन !** ) हे भक्तजनोंकी याचनाओंके पूर्ण करनेवाले जनार्दन ! तुम ( **आत्मनः** ) अपने ( **योगम्** ) सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तित्वादि लक्षणोंको तथा ( **विभूतिम्** ) ऐश्वर्योंको ( **च** ) भी ( **पुनः** ) एकबार फिर ( **विस्तरेण** ) विस्तारसे ( **कथय** ) कथन करो ( **हि** ) क्योंकि ( **अमृतम्** ) तुम्हारे मुखसे निकलेहुए मोक्षके साधनकरनेवाले अमृतरूप वाक्यको ( **शृण्वतः** ) सुनतेहुए ( **मे, तृप्तिः** ) मेरी तृप्ति ( **नास्ति** ) नहीं होती है ॥ १८ ॥

**भावार्थः—** भगवान्‌के मुखारविन्दसे अर्जुन फिर उनकी विभूतियोंको विस्तारपूर्वक जाननेके तात्पर्यसे कहता है, कि [ **विस्त-**

रेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्द्दन ! ] हे जनार्दन ! तुम अपने जिस योगबल अर्थात् अपनी सर्वज्ञताको तथा भिन्न सृष्टियोंके रचनेमें अपनी योगमायाकी कलाओंको स्वीकार करते हो और जिन अपनी विभूतियों और ऐश्वर्योंके द्वारा तुम सर्वत्र सब ठौरमें व्यापकरै स्थूल, सूक्ष्म, जड और चेतनको अपने-अपने ठौरपर स्थिर रखते हो तिनको [ भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ] एक बार फिर विस्तारपूर्वक मेरे प्रति कथन करो जिससे मैं अत्यन्त सुलभताके साथ स्वल्पसाधनद्वारा तुमको प्राप्त होजाऊं । क्योंकि तुम्हारे अमृतमय वचनोंको सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती है ।

यहां अर्जुनने जो भगवान्को ' जनार्दन ' कहकर पुकारा तिसके अनेक अभिप्राय हैं । क्योंकि जनार्दन शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जैसे ( समुद्रान्तर्वासिनो जननाम्नोऽसुरानर्दितवानिति *जनार्द्दनः ) समुद्रके भीतर रहनेवाले जन नाम करके असुरोंको जो नाश करे उसे कहिये जनार्द्दन । अथवा ( जनैर्लोकैरर्द्यते याच्यते पुरुषार्थानसौ +जनार्द्दनः ) सर्व जनोंसे उनके पुरुषार्थ की सिद्धि निमित्त जो याचाजावे ।

अभिप्राय यह है, कि जिस पुरुषसे ब्रह्मलोकसे पाताललोक तकके प्राणी अपने अपने पुरुषार्थसिद्धिकी याचना करें उसे कहिये जनार्द्दन

* ' अर्दहिंसायाम् नन्द्यादित्वाल्ल्युट् '

+ ' अर्दयातनायाम् गतौ याचने च कर्मणि ल्युट् ।

फिर ( जनं जन्म अर्दयति हन्ति भक्तस्य मुक्तिदत्वादिति +जनार्दनः) अपने भक्तोंको मुक्ति देकर संसारके आवागमनको जो नाश करदेवे उसे कहिये जनार्दन । किम्वा ( जनान् लोकान् अर्दति हररूपेण संहारकत्त्वादिति जनार्दनः ) हर रूप होकर संहार द्वारा जो लोकोंका नाश करे उसे कहिये जनार्दन। किम्वा ( जनान् लोकान् अर्दति गच्छति प्राप्नोति रक्षणार्थं पालकत्वादिति जनार्दनः ) जो सब लोकोंके पालनार्थ तथा रक्षा निमित्त सब लोकलोकान्तरोंमें शीघ्र जाकर प्राप्त हो उसे कहिये जनार्दन ।

सो यहां अर्जुन जनार्दन कहकर भगवान्को इन सब अर्थोंकी सूचना कराताहुए और उनको उनके गुणोंका स्मरण कराताहुए अपने मनकी दशा प्रकट कर दिखलाता है, कि हे भगवन्! जब तुम सब लोकोंके तथा सब प्राणियोंके पालन और संहार करनेवाले हो, सब प्राणियोंके पुरुषार्थफलको सिद्ध करनेवाले हो तथा सबोंको मोक्ष देनेवाले हो तो क्यों नहीं मुझपर भी दया करके मेरे मनकी विषयवासनाओं को नाश कर मेरे शुभगुणोंका पालन करतेहुए मेरे पुरुषार्थकी सिद्धि निमित्त अपने योग और विभूतियोंका कथन करोगे ? अर्थात् मेरे कल्याण निमित्त तुम अवश्य किसी प्रकारका विचार न करके अपने स्वरूप, गुण और ऐश्वर्योंका वर्णन करे मुझको सन्तुष्ट करोगे !

इसलिये हे भगवन् ! मुझ दीनपर दयाकर अपनी भक्तवत्सलता को स्मरण करतेहुए विस्तारपूर्वक अपने योग और अपनी विभूतियों

+ जननं जनः भावे घञ् ।

का फिर एकबार वर्णन करो। क्योंकि " तृप्तिर्हि शृणवतो नास्ति मेऽमृतम् " तुम्हारे अमृतमय वचनोंको श्रवण करते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है। जैसे अत्यन्त शीतल गंगाजलको जितनी बार पान करते चलेजाइये पिपासा बढती ही चलीजाती है अथवा जैसे ज्वरपीडितको जितना जल पिलाते जाइये पीता ही चलाजावेगा पर शान्ति नहीं होती। इसी प्रकार मैं जो संसृतिज्वरसे ग्रस्त होरहा हूं सो मुझ ज्वर-विदग्ध अर्जुनको शीतल जलके समान तुम्हारे वचनके पानसे सन्तोष नहीं होता पर तुम्हारा वचन अमृतके समान है तथा अमृत जो मोक्ष-पद तिसका देनेवाला है इसी कारण मैं उन वचनोंको बार-बार सुननेकी उत्कट अभिलाषा करता हूं।

अथवा यहां अमृत कहनेसे अर्जुनका तात्पर्य्य ब्रह्मसे है अर्थात् ब्रह्ममय जो वचन है उसे सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती। अमृत ब्रह्मको कहते हैं। प्रमाण– " इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्य-क्तमव्यक्तादमृतः परः। अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः॥ " ( महाभारत ) अर्थ स्पष्ट है।

यहां " अमृतान्न परं किंचित् " अर्थात् अमृत जो ब्रह्म उससे परे अन्य कुछ नहीं है। कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि ब्रह्मसे परे कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

इतना सुन श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द बोले—

श्री भगवानुवाच ।

मू०— हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— + हन्त (इत्यनुकम्पासम्बोधनम्) [हे] कुरुश्रेष्ठ ! [याः मम] दिव्याः (दिविभवाः । प्रसिद्धाः) आत्मविभूतयः (ममै-श्वर्य्यसमूहः) [ताः] प्राधान्यतः (प्राधान्येन) ते (तुभ्यम्) कथयिष्यामि (प्रवक्ष्यामि) हि (यतः) मे (मम) विस्तरस्य (विभूतीनां समूहस्य) अन्तः (समाप्तिः) नास्ति ॥ १९ ॥

पदार्थः— (हन्त) अहा! (कुरुश्रेष्ठ!) हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! (दिव्याः) जो मेरी दिव्य (आत्मविभूतयः) स्वभावसिद्ध विभूतियां हैं उनको (प्राधान्यतः) प्रधानरूपसे (ते) तेरेलिये (कथ-यिष्यामि) मैं कथन करूंगा (हि) क्योंकि (मे, विस्तरस्य) मेरी विभूतियोंके विस्तारका (अन्तः) अन्त अर्थात् समाप्ति कहीं भी (नास्ति) नहींहै । अभिप्राय यह है, कि मेरी विभूतियां इतनी अधिक हैं, कि कथन करते-करते युगयुगान्तर बीतजावें तो भी उनका नाश नहीं होसकता । मैं अपनी सब विभूतियोंको तो इस अल्प समयमें नहीं सकता पर मैं अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियोंको विस्तारपूर्वक कथन करूंगा ॥ १९ ॥

+ हन्त— अव्यय है जो हर्षके समय, अनुकम्पा करनेके समय तथा किसी वार्ताके स्वीकार करते समय पहले उच्चारण कियाजाता है जैसे भाषाके ग्रन्थोंमें अहा! शब्दका उच्चारण कियाजाता है ।

भावार्थः— अर्जुनने भगवानसे उनके योग और विभूतियोंको पूछा है उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [ *हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्म विभूतयः ] अहा! हे अर्जुन! मैं तेरे वचनको आनन्दपूर्वक स्वीकार करता हूं और हे अर्जुन! तूने जो मेरे योगबल और मेरी विभूतियोंको जाननेके प्रश्न किये हैं इनमें अपना योगबल तो मैं तुझे पहले बार सुना चुका हूं इसलिये अब मैं "दिव्या ह्यात्मविभूतयः" अपनी दिव्य विभूतियोंको ही कहूंगा। अर्थात् जो मेरी विभूतियां अलौकिक हैं तथा जो दिव्य हैं अर्थात् परमप्रकाशस्वरूप हैं और प्रसिद्ध हैं जिनको मैं कहूंगा।

सो भगवान कहते हैं, कि [ प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ] हे कुरुवंशियोंमें प्रधान अर्जुन! तू निश्चय करके जान! कि मेरी विभूतियोंका कहीं भी अन्त नहीं है अर्थात मेरी अनगिनत विभूतियां हैं। यदि शेष शारदा भी युगयुगान्तर पर्य्यन्त मेरी विभूतियोंका कहना आरंभ करें तो भी उनकी समाप्ति नहीं होसकती फिर इनको इस युद्धके समय कहना कैसे बन सकता है? इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! मैं अपनी सब विभूतियोंमेंसे केवल प्रधान विभूतियोंको कहूंगा। क्योंकि मेरी सब विभूतियोंके विस्तारका कहीं अन्त नहीं है। तू व्याकुल मत हो! धैर्य्य धारण किये हुए मेरी विभूतियोंको श्रवण कर! पर इतना तू अवश्य निश्चय करले, कि जैसे बीज हाथ आजानेसे सम्पूर्ण वृक्षका लाभ होता है अथवा किसी वाटिकाके हाथ लगजानेसे सर्वप्रकारके पुष्प और फलोंका सुख प्राप्त होजाता है। अर्थात् किसी चक्र-

वर्तीसे मित्रता होजानेसे उसके राज्यभरके सुखका भागी होजाता है। ऐसे तू निश्चय करले, कि इन प्रधान विभूतियोंको जाननेसे तू सब कुछ जानने लगजावेगा और ऐसे जानते-जानते जैसे २ तेरी बुद्धि मेरी विभूतियोंकी ढूंढमें बढती जावेगी वैसे-वैसे तुझे बोध होताजावेगा, कि मेरी विभूतियोंका कहीं भी अन्त नहीं है।

जैसे गरुड जब आकाशका अन्त लेनेके लिये ऊपरको उडता है तो जैसे-जैसे ऊपर चढता जाता है आकाशकी ऊँचाई उसको उतनीही जानपडती है जितनी पहले दीखपडती थी। इसी प्रकार यदि वह गरुड कल्पकल्पान्त पर्यन्त भी उडता चलाजावे तो भी आकाशकी समाप्ति कभी नहीं होगी उसीप्रकार मेरी विभूतियोंके विस्तारका कहीं भी अन्त नहीं मिलेगा।

देखो ! वेदोंने भी ढूँढते२ नेति नेति कहदिया प्रमाण— "ॐ नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो० अ० १ व०२ श्रु० ६) अर्थात यह जो भगवत्की विभूतियोंकी जाननेकी मति है वह तर्कद्वारा भी नहीं प्राप्त होसकती है। तात्पर्य्य यह है, कि प्रथम उस मतिकीही प्राप्ति दुर्लभ है जिससे परमात्माकी अशेष विभूतियोंके विस्तारका ज्ञान होसके कि जब विभूतियोंकी जाननेवाली मति ही अप्राप्य है तो विभूतियोंकी प्राप्ति कब और कैसे होसकती है ? ॥ १६ ॥

अब भगवान् अपनी विभूतियोंको कहनेके पहले अर्जुनके प्रति अपने यथार्थ स्वरूपका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

मू०— अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

पदच्छेदः— [ हे ] गुडाकेश ! ( जितनिद्रार्जुन ! ) सर्वभूताशयस्थितः ( सर्वेषां भूतानामन्तर्हृदिस्थितः ) आत्मा (प्रत्यगात्मा) अहम् ( वासुदेवः ) [ तथा ] भूतानाम्, आदिः ( जन्मकारणम् ) च ( तथा ) मध्यम् ( स्थितिकारणम् ) च, अन्तः ( लयस्थानम् ) च, अहम्, एव ॥ २० ॥

पदार्थः— ( गुडाकेश ! ) हे आलस्य तथा निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! ( सर्वभूताशयस्थितः ) सर्व भूतमात्रके हृदयके भीतर स्थिर रहनेवाला ( आत्मा ) प्रत्येक स्वरूपमें चैतन्य आत्मा ( अहम् ) मैं ही हूं तथा ( भूतानाम् ) सब भूतमात्रका ( आदिः, च ) जन्मका कारण भी ( मध्यं, च ) स्थित रहनेका कारण भी और ( अन्तः, च ) नाशका कारण भी ( अहम्, एव ) निश्चय करके मैं ही हूं ॥ २० ॥

भावार्थः— अब करुणानिधान सर्वगुणखान श्रीभगवान् अर्जुनपर दयादृष्टिकर उसके अन्तर्हृदयकी अभिलाषा जान अपनी विभूतियोंके कहनेसे पहले अपने यथार्थस्वरूपका बोध करातेहुए कहते हैं, कि [ **अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः** ] हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! सर्वभूतोंके अन्तर निवास करनेवाला प्रत्यगात्मा मैं ही हूं ।

यहां जो भगवान्ने अर्जुनको गुडाकेश कहकर सम्बोधन किया इसका मुख्य तात्पर्य यह है, कि 'गुडाका' कहते हैं आलस्य और निद्राको सो जो प्राणी इस आलस्य वा निद्राको अपने वश करले उसको 'गुडाकाका' ईश (स्वामी) अर्थात् गुडाकेश कहना चाहिये। सो भगवत्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन! तू आलस्यका जीतनेवाला है इसलिये जिस किसी प्रकारसे तू मेरे स्वरूपका साधन करेगा तेरा साधन पूर्ण होजावेगा। क्योंकि तुझमें किसी प्रकारका आलस्य वा निद्राका प्रवेश नहीं है। इसलिये तू अहर्निश किसी एक कार्य्यके साधनमें तत्पर रहकर उसे पूर्ण करसकता है। इसी कारण मैं तुझको अपना यथार्थ स्वरूप बतला देता हूं, कि इस विश्वमात्रमें ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्त जितने भूतमात्र हैं मैं सबोंका आत्मा हूं। "सर्वभूताशयस्थितः" मैं सर्वभूतोंके अन्तर निवास करनेवाला हूं। एक तृण मात्र भी ऐसा नहीं है, कि जिसमें मैं न होऊँ। मैं सब प्राणियोंका आत्मा हूं इसलिये यदि मैं उनमें न होऊं तो वे एक पलमात्रके लिये भी वर्त्तमान नहीं रहसकते। इतना ही नहीं, कि मैं उन भूतोंके भीतर ही हूं वरु भीतरसे तो यन्त्रके समान उनको चलारहा हूं और बाहरसे उनको आच्छादन किये हुए हूं। जैसे आकाशमें स्थित जो मेघमाला उसके भीतर और बाहर सर्वत्र आकाश ही आकाश देख पडता है इसी प्रकार मैं प्राणीमात्रके भीतर और बाहर वर्तमान हूं। जैसे किसी घटमें भीतर और वाहर सर्वत्र आकाश फैला हुआ रहता है ऐसे मैं सब भूतोंके अन्तर और बाहर वर्त्तमान होरहा हूं। फिर हे अर्जुन! देख [ अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ]

मैं ही सबका आदि हूं और उनके जन्मका कारण हूं तथा उनका मध्य भी मैं हूं अर्थात् मध्यमें जो वे भूतमात्र वर्त्तमान रहते हैं उनकी स्थितिका कारण मैं ही हूं क्योंकि मेरे बिना उनकी कदापि स्थिति नहीं रह सकती। फिर उनका अन्त भी मैं ही हूं अर्थात् ये सब भूतमात्र नाश होकर अन्ततोगत्वा मेरेहीमें लय होजाते हैं।

भगवान्‌का मुख्य अभिप्राय यह है, कि वे ही सब प्राणियोंके जन्म, पालन और संहारके कारण हैं। तहां ब्रह्मसूत्रका प्रमाण है, कि "जन्माद्यस्ययतः" अर्थात ब्रह्मकी जिज्ञासा करनेपर यही उत्तर है, कि वही ब्रह्म है जहांसे इस सृष्टिमात्रका जन्म, पालन और संहार होता है इस सूत्रको श्रुति भी पुष्ट करती है। श्रु०— "ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति" (तैत्ति० भृगुव० अ० ३ श्रुति १)

अर्थ— जहांसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं और जिससे ये सब उत्पन्न होकर पाले जाते हैं फिर जिसमें जाकर सब लय होजाते हैं हे सोम्य! उसीको ढूँढ वही ब्रह्म है।

इन प्रमाणोंसे भी भगवान्‌का यह कहना, कि मैं ही भूतोंका आदि मध्य और अन्त हूं सिद्ध होता है। इस श्लोकमें "एव" शब्दका प्रयोग करनेका तात्पर्य यही है, कि यह वार्ता निश्चय है इसमें तनक भी किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिये।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यदि वह परमात्मा इस सृष्टिके आदि, अन्त और मध्यमें न हो तो पञ्च महाभूतोंसे रची हुई यह सारी

सृष्टि क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहसकती। हां ! इतना तो अवश्य है, किं हम लोग इस दृश्यमयी सृष्टिको तो देख सकते हैं पर इन चर्मचक्षुओंसे उस परमात्माको नहीं देख सकते क्योंकि निरामय, निरवयव और निराभास है निष्प्रपंच, निष्कलंक और निरुपाधि है। निरुपम, निरवलम्ब और निरपेक्ष है, निर्जन, निरन्तर और निर्गुण है। निःसंग, निर्म्मल और निश्चल है। निष्काम, निर्लेप और निष्कर्म है। जहां तक रूप और नाम हैं वहांतक सब भ्रम है। नाम और रूपसे जो परे है उसका मर्म अनुभवसे जानना चाहिये क्योंकि वह सदा सर्वदा अटल है। पंचभूत और त्रिगुणसे मिलकर जो यह अष्टधा प्रकृति बनी है उसका नाम है " दृश्य " सो सब दृश्यको वेद और श्रुतियां नाशवान कहती हैं। केवल वही परमात्मा सब जगह सूक्ष्मरूपसे भराहुआ है। मनुष्यकी दृष्टिका कुछ ऐसा ही अभ्याम है, कि जो कुछ उसे देख पडता है उसीको तो वह समझता है और जो शेष गुह्य है उसको गोप्य कहकर उसकी उपेक्षा करता है परन्तु सच तो यह है, कि जो कुछ प्रकट है उसे असार समझना चाहिये और जो कुछ गुप्त है उसे सार जानना चाहिये। यह विचार गुरुकेही मुखसे अच्छा समझनेमें आता है। जो समझ न पडे उसे विवेकबलसे समझना चाहिये, जो देख न पडे उसे विवेककी चक्षुसे देखना चाहिये और जो जान न पडे उसे विवेकके बोधसे जानना चाहिये। जो असाध्य है उसीको साधना चाहिये जो कठिन है उसीका पूर्ण प्रकार अभ्यास करना चाहिये। चारों वेद चतुर्मुख ब्रह्मा और सहस्रमुख शेष जिसका वर्णन करते-करते थक गये हैं सो गुह्य केवल सन्तोंके मुख

द्वारा अध्यात्मनिरूपण श्रवण करनेसे प्राप्त होता है । क्योंकि वह तो देवदेव परम देव महेश्वर है । इसी कारण अर्जुनने सिर झुकाये, हाथ जोडे, भक्तचित्तचोर श्रीनन्दकिशोरसे उनकी विभूतियोंको पूछा है क्योंकि वह अन्य किससे पूछ सकता था । क्योंकि भिखारीसे भीख, दीक्षाहीनसे दीक्षा, अज्ञानीसे ज्ञान, रोगीसे दवा और निर्बलसे बल मांगोगे तो कैसे मिलेगा ? अर्थात् अनियमित पुरुषके पास अनियमित पुरुष जावे तो वह नियमित कैसे बन सकता है ? देहाभिमानी यदि देहाभिमानीके पास जावे तो वह विदेह कैसे होसकता है ? इसी प्रकार बिना उस महा प्रभुके उसे बतलाही कौन सकता था ॥ २० ॥

अब भगवान् अपनी विभूतियोंको प्रधानरूपसे कहना आरंभ करते हैं । सुनो !

**मू०—आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।**
**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥**

**पदच्छेदः—** आदित्यानाम् ( विवस्वानर्य्यमापूषासवितेत्यादि वेदोक्तद्वादशादित्यानां मध्ये ) विष्णुः ( हिरण्यमयो विष्णुः ) अहम् [ अस्मि ] ज्योतिषाम ( प्रकाशयितॄणाम् । अग्न्यादीनाम् ) अंशुमान् ( विश्वव्यापकरश्मिवान् अत्यन्तप्रतपनशीलो निदाघमध्याह्ने तीव्रातपवान् ) रविः ( सूर्यः ) मरुताम् ( सप्तसप्तकानां वायूनाम् ) मरीचिः ( मरुद्विशेषः ) [ तथा ] नक्षत्राणाम् ( ताराणाम् ) [ मध्ये ] शशी ( चद्रमाः ) अहम्, अस्मि ॥ २१ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि ( आदित्यानाम् ) विवस्वान् आदि जो बारह आदित्य हैं उन बारहोंमें प्रधान ( विष्णुः ) जो विष्णु नामका आदित्य सो ( अहम् ) मैं ही हूं तथा ( ज्योतिषाम् ) अग्नि इत्यादि प्रकाश करनेवाले देवताओंमें ( अंशुमान् ) सम्पूर्णविश्वमें व्यापक किरणोंसे युक्त ( रविः ) सूर्य्यदेव मैं ही हूं तथा ( मरुताम् ) उनचास वायुओंमें ( मरीचिः ) मरीचि नामका वायु मैं ही हूं फिर ( नक्षत्राणाम् ) तारागणोंमें ( शशी ) चन्द्रमा ( अहमस्मि ) मैं ही हूं ॥ २१ ॥

भावार्थः— श्री जगद्गुरु, दीनबन्धु भगवान् कृष्णचन्द्र उपासना और ध्यान करवानेके तात्पर्यसे अपनी उपास्यप्रधान विभूतियोंकी गणना करातेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [ आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ] बारह जो आदित्य हैं उनमें विष्णु नामका प्रधान आदित्य मैं ही हूं और प्रकाश करनेवालोंमें अंशुमान् रवि मैं ही हूं ।

वस्तुतः कहनेको अभिप्राय यह है, कि जो आदित्यकी उपासना और ध्यान किया चाहे तो विष्णुनाम आदित्यका करे । क्योंकि

टि०— वे बारह आदित्य कौन हैं ? सो कहते हैं— "मरीचात् कश्यपाज्जातास्तेऽदित्या दक्षकन्यया । तत्र शक्रश्च विष्णुश्च जज्ञाते पुनरेव हि ॥ अर्यमाचैव धाता च त्वष्टा पूषा च भारत । विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च ॥ अंशो भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृताः ॥" ये द्वादश आदित्य कहेजाते हैं । ( अर्थ स्पष्ट है )

( हरिवंश पर्व १ अ० ३ श्लो० ५९-६१ द्वादशादित्यकथा )

आदित्यके ध्यानसे शरीर नीरोग रहता है और बुद्धि तीक्ष्ण होती है फिर कहते हैं, कि " ज्योतिषां रविरंशुमान् " प्रकाश करनेवालोंमें मैं अंशुमान् रवि हूं। अर्थात अग्नि, विद्युत, चन्द्र, सूर्य्य इत्यादि जितने प्रकाशमान पदार्थ हैं उनमें 'अंशुमान' सम्पूर्ण विश्वमें अपनी किरणोंका फैलानेवाला तथा अपनी किरणोंसे तीनों लोकोंको तपानेवाला परमतेजस्वी रवि ( सूर्य्य ) मैं ही हूं । अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी मेरे प्रकाशस्वरूपकी उपासना किया चाहे तो वह सूर्य्यदेवकी उपासना और ध्यान किया करे। इसी सूर्य्यकी उपासना करनेवाले सौर्य्यमतावलम्बी कहेजाते हैं । जो स्मार्त्तधर्म्मकी उपासनाओंमें प्रथम उपासना है जिसके निमित्त सन्ध्यादि मुख्य कर्म बने हुए हैं और जो द्विजों केलिये परमधर्म है। इसी सूर्यदेवकी स्तुति "उद्वयं तमसः परिस्वः...." " उदुत्यं जातवेदसम् ...." "चित्रंदेवानामुदगादनीकम् ०", "तच्चक्षुर्देवहितम् ...." ये चारों वेदमंत्र सूर्योपस्थानमें पढेजाते हैं जो इस प्रकार संध्यादि द्वारा सूर्य्यदेवकी उपासना नहीं करता वह द्विजोंकी पंक्तिसे वहिष्कृत ( बाहर निकालाहुआ ) समझा जाता है और उसकी गणना शूद्रोंमें कीजाती है । इसीलिये परमात्माके परम प्रकाशस्वरूप सूर्य्यदेवकी उपासना अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि भगवान् अपने मुखारविन्दसे इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि ' अंशुमान् रवि ' मैं ही हूं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ] उनचासों जो मरुत ( वायु ) हैं उनमें मुख्य

जो मरीचि नामका वायुदेव सो मैं ही हूं और नक्षत्रोंमें चन्द्र मैं ही हूं। इसलिये मेरे विराट्स्वरूपमें यदि वायुकी उपासना करे तो + मरीचि नाम वायुकी करे।

वेदने भी भगवानके वायुरूपकी स्तुति की है। प्रमाण— " ॐ पूषण्वते मरुत्व ते विंश्वदेवाय वायवे " ( ऋग्वे० मण्ड० १ सू० १४२ मं० १२ )

अर्थ— पूषण (सूर्यके) समान मरुतके समान विश्वदेवस्वरूप वायुके लिये स्वाहा।

अब भगवान् कहते हैं, कि ' नक्षत्राणामहं शशी ' नक्षत्रोंमें शशी ( चन्द्र ) भी मैं ही हूं अर्थात् अश्वनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, मृगसिर, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति विशाखा, अनु-

+ अब वे उनचास वायु कौन-कौन हैं ? उनके नाम दियेजाते हैं—

" एक ज्योतिश्च द्विर्ज्योतिस्त्रिज्योतिर्ज्योतिरेव च। एकशक्रो द्विशक्रश्च त्रिशक्रश्च महाबलः ॥ इन्द्रश्च गयदृश्यश्च ततः प्रति सकृत्परः। मितश्च संमितश्चैव सुमितश्च महाबलः ॥ ऋतजित् सत्यजिच्चैव सुषेणः सेनजित्तथा। अन्तिमित्रोऽनमित्रश्च पुरुमित्रोऽपराजितः ॥ ऋतश्च ऋतवाहश्च धर्त्ता च धरुणो ध्रुवः। विधारणो नाम तथा देवदेवी-महाबलः ईदृक्षश्चाप्यदृक्षश्च एते दश मिताशिनः ॥ वृतिनः प्रसहृक्षश्च समेरश्च महायशाः। धाताद्दुर्गाधितिर्भीमस्त्वभियुक्तस्त्वपातसहः। द्युतिर्घ पुन्नाम्योऽथ वासः कामो जयो विराट् ॥ इत्येकोनाश्च पंचाशन्मरुतः पूर्वसंभवाः, " ( वह्नि पुराणे गणभेदनामाध्याये )

( अर्थ स्पष्ट है )

राधा, जेष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, श्रवण, धनिष्ठा, शत-भिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती ये २७ मुख्य नक्षत्र हैं और अभिजितके मिलादेनेसे २८ होते हैं इन सबोंका अधिपति चन्द्रमा ही है।

इसी कारण आनन्दकन्द कहते हैं, कि आकाशमें जो प्रकाश-मान ये नक्षत्रगण हैं उनका पति जो चन्द्र सो मैं ही हूं।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि बारह आदित्य तथा अग्नि, विद्युत इत्यादि जो प्रकाशमान् भूतगण, फिर उनचासों मरुद्गण, अठाईसों नक्षत्र इत्यादि सब मेरी ही विभूतियां हैं । इतनी ही नहीं वरु जितने अनगिनत तारागण आकाशमें सुशोभित होरहे हैं ये सब भी मेरी ही विभूतियां हैं और सब नमस्कार करने योग्य हैं पर इनमें भी आदित्योंका प्रधान विष्णु, ज्योतिःस्वरूपोंका प्रधान सूर्य, मरुतों का प्रधान मरीचि और नक्षत्रोंका प्रधान शशी मैं ही हूं । इसलिये उनकी उपासनाको मेरी ही उपासना समझनी चाहिये।

ऐसा करनेसे मैं ही प्रसन्न होता हूं और मैं ही उस उपासना करनेवालेकी मनःकामनाओंको पूर्ण करता हूं। क्योंकि अविधिपूर्वक वे मेरी ही उपासना करते हैं। सो भगवान पहले भी कह आये हैं—

" **येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम** " ( अ० ९ श्लो० २३ ) अर्थात हे कौन्तेय ! जो लोग श्रद्धा और भक्तियुक्त होकर किसी अन्य देवताकी पूजा करते हैं वे भी अविधि पूर्वक (Indirectly) मेरी ही पूजा करते हैं।

इसलिये इन मेरी विभूतियोंमें किसीकी भी पूजा करो वह मेरी ही पूजा समझी जाती है ॥ २१ ॥

अब भगवान् अपनी अन्य विभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

**मू०— वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।**
**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥**
**॥ २२ ॥**

**पदच्छेदः—** [ अहम् ] वेदानाम् ( मंत्रब्राह्मणसमुदायानामृगादीनां मध्ये ) सामवेदः ( गानमाधुर्य्येणातिरमणीयः वेदविशेषः ) देवानाम ( त्रयस्त्रिंशत्कोटिदिवौकसाम ) वासवः ( सर्वदेवाधिपति इन्द्रः ) [ अस्मि ] च ( तथा ) इन्द्रियाणाम ( चक्षुःश्रोत्रादि करणानाम् ) मनः ( संकल्पविकल्पात्मकः अन्तःकरणविशेषः ) अस्मि, भूतानाम् ( सर्वप्राणिसम्बन्धिनां परिणामानाम ) चेतना ( चिदभिव्यक्तिहेतुत्वात् धीवृत्तिः । तथा ज्ञानशक्तिः अहं अस्मि ) ॥ २२ ॥

**पदार्थः—** अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ( वेदानाम् ) ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चारों वेदोंमें ( सामवेदः ) सामवेद मैं ही हूं तथा ( देवानाम् ) तैंतिसकोटि देवताओंमें ( वासवः ) इन्द्रदेव सब देवताओंका अधिपति मैं ही हूं तथा ( इन्द्रियाणाम ) चक्षुः श्रोत्र इत्यादि जो दशों इन्द्रियां हैं उनमें ( मनः, च ) सबोंका

अधिपति मन भी मैं ही हूं फिर ( भूतानाम ) जितने प्राणीमात्र हैं सबोंमें चेतनेवाली जो बुद्धिवृत्ति सो भी ( अस्मि ) मैं ही हूं ॥ २२ ॥

अब क्षमासागर सर्वगुणागर नटनागर भगवान् कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अर्जुन! [**वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः**] वेदोंमें सामवेद मैं ही हूं और देवताओंमें इन्द्र मैं ही हूं। यहां वेद कहनेसे केवल चार ही वेदोंसे भगवान्का तात्पर्य्य नहीं है, वरु जितने कुछ भगवत्के श्वाससे निकले हुए शब्द हैं वे सब वेदकेही तुल्य हैं। वैदिकधर्म्मवालोंको चारों वेद तथा इतिहास पुराणादि सब ग्रन्थोंको मानना उचित है।

वे कौन-कौन ग्रन्थ हैं जो भगवान्के श्वाससे निकले हैं उन्हें श्रुति यों कहती है— " **ॐ स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्योपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि** " (बृहदा० अ० २ ब्रा० ४ श्रु० १०)

अर्थ— याज्ञवल्क्य कहते हैं अरे मैत्रेयी! जैसे भीगी लकडियोंमें आग जला देनेसे धूम तथा चिनगारियां इत्यादि निकलती हैं इसी प्रकार इस "महद् भूत" अर्थात् इस अनवच्छिन्न बहुत बडे परमार्थतत्त्व अर्थात् परमात्मासे वक्ष्यमाण वचन उत्पन्न हुए हैं वे कौन-कौन हैं? सो कहते हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इतिहास

अर्थात् उर्वशी और पुरूरवाके संवादसे जो ब्राह्मणभाग है, पुराण ( जिन ग्रन्थोंके द्वारा यह सिद्ध होता है, कि "असद्वा इदमग्र आसीत् " ) विद्या अर्थात् देवजनविद्या, श्लोकाः अर्थात् ब्राह्मण-भागसे उत्पन्न जो नाना प्रकारके मंत्र अर्वाग्बिल इत्यादि, " सूत्राणि " वेदोंमें वस्तुसंग्राहक जो वाक्य हैं जैसे " आत्मेत्येवोपासीत " अर्थात् वस्तुओंके संग्रह करनेके निमित्त जो भिन्न-भिन्न विवरण करनेवाले वाक्य हैं जैसे " प्राणा वै सत्यम् "ये प्राण सत्य हैं, फिर "व्याख्यानानि" मंत्रोंकी व्याख्या करदेनेवाले वचन इत्यादि सब उस महाप्रभुके श्वाससे उत्पन्न हुए इसलिये यद्यपि ये सब उपासनीय और पूजनीय हैं तथापि इनमें सबोंसे श्रेष्ठ और उत्तम रमणीय गान द्वारा ईश्वरको प्रसन्न करनेवाला जो सामवेद है वह साक्षात् भगवत्स्वरूप सब वेदादिकोंमें सदा पूजनीय है।

श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यदि मुझे मेरे वचनोंके द्वारा उपासना किया चाहो तो सामवेदकी पूजा और स्तुति करते हुए मेरी आराधना करो।

फिर इस सामवेदकोही प्राणरूप माना है। जैसै इस शरीरमें आंख, नाक, कान इत्यादि अंगोंमें प्राणही श्रेष्ठ है इसी प्रकार सामवेद सब वेदोंमें प्राणरूप है। प्रमाण— " त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ( वृहदा० अ० १ ब्राह्म० ५ श्रु० ५ )

अर्थ— तीनों वेदोंमें ऋग्वेद बचन है, यजुर्वेद मन है और सामवेद प्राणके सामान है इसलिये इस श्रुतिसे भी सामवेदकी श्रेष्ठता

सिद्ध है । ( इसके विषय आगे श्लो० ३५ में भी संक्षिप्तरीतिसे वर्णन कियागया है । )

अब भगवान् कहते हैं, कि " देवानामस्मि वासवः " देवताओंमें इन्द्र मैं हूं, अर्थात् दिविलोक निवासी जो तैंतिसकोटि देवता है उन सबोंका अधिपति जो इन्द्रदेव सो मैं ही हूं ।

देखो ! वेदोंने भी ठौर-ठौरपर इन्द्रनाम करके भगवान्की स्तुति की है जैसे " इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते····" ( ऋग्वे० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८ ) इन्द्र जो परमात्मा सो अपनी शक्तियों द्वारा बहुत प्रकारके रूपोंको धारण करता है ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [ **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना** ] शरीरमें जितनी इन्द्रियां हैं उनमें मन मैं ही हूं और भूतोंमें चेतना भी मैं ही हूं । अर्थात् सब इन्द्रियोंका अधिपति जो मन है सो मेराही स्वरूप है । जैसे मधुमक्षिकाओं का राजा जो मधुराज है वह जिधर जाता है सब मधुमक्षिकाएं उसी ओर उसके पीछे-पीछे चली जाती हैं इसी प्रकार जिधर-जिधर मन जाता है सब इन्द्रियां उसी ओर दौडती हैं अथवा इन इन्द्रियोंको जब किसी ओर जाना होता है तो अपने राजा मनको आगे करलेती हैं ।

**शंका**— भगवानने जो ऐसा कहा है, कि इन्द्रियोंमें मन मैं ही हूँ ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि मनको तो चंचल कह आये और पहले भगवान स्वयं अपने मुखारविन्दसे भी कह आये हैं, कि " इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः " ( अ०२ श्लो ६० )

अर्थात् महा बलिष्ट इन्द्रियां विवेकी पुरुषोंके मनको भी बलात्कार खैंच लेती हैं तो इससे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियां मनसेभी बलवती हैं। फिर यहां भगवान्का कहना, कि इन्द्रियोंमें मन मैं ही हूं नहीं बनता। क्योंकि मनको जब इन्द्रियां अपनी ओर बलात्कार खैंचलेती हैं तब मनकी श्रेष्ठता इन्द्रियोंपर नहीं रही और यहां भगवान्का तात्पर्य श्रेष्ठ और प्रधान विभूतियोंके दिखलानेका है फिर मनकी प्रधानता तो नहीं बनती है? क्योंकि इसे इन्द्रियोंके अधीन देखते हैं।

समाधान— इसमें तो तनकभी सन्देह नहीं है, कि यह मन इन्द्रियोंके खैंचनेसे इन्द्रियोंकी ओरही चलाजाता है पर यह मन इन्द्रियोंके अधीन नहीं है वरु इन्द्रियां मनके अधीन हैं। सो केवल इतना कहदेनेसे, कि इन्द्रियां मनको बलात्कार अपनी ओर खैंच लेती हैं, मनको इन्द्रियोंके अधीन और इन्द्रियोंसे निर्बल नहीं समझना चाहिये वरु अ०२ के श्लोक६० का तात्पर्य्य यही है, कि मन इन्द्रियोंका राजा है, इन्द्रियोंका प्रधान है और इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। जहां यह मन नहीं आवे वहां इन्द्रियां जाकर कुछ नहीं करसकतीं। जैसे कोई युद्ध करनेवाली सेना जब युद्ध करनेको चलती है तो अवश्य अपने प्रधान सेनापतिको साथ लेकर चलती है। यदि सेना अपने सेनापतिको साथ न लेवे तो युद्धमें विजय न पावे। सारी सेना मारी जावे और छिन्न-भिन्न होजावे। इसी कारण यदि सेनापति किसी युद्धके समय अपनी शय्यापरे सुखपूर्वक शयन किये रहे तो सेना उसे शयन नहीं करने देगी बलात्कार उसे प्रार्थना और सहस्रों मिनती करके अपने साथ लेहीलेवेगी। इंद्रियोंका मनको अपनी ओर बलात्कार

खैंचना उनके अपने कल्याणके निमित्त है। क्योंकि यदि मन इन्द्रियोंके साथ न जावे तो इन्द्रियोंका कुछभी बल नहीं रहेगा। मन न जावे तो इनको लौटना पडेगा, इनसे कुछभी कार्य्य सिद्ध नहीं होसकता।

देखो! इन्द्रकी प्रेरणासे अप्सराओंने नारदकी समाधि तोड डाली। उनको समाधिसे जगाकर सबकी सब गोदमें जाबैठीं। मुखचुम्बन, आलिंगन, हँसन, बोलन, तिरछोंही दृष्टिसे अवलोकन तथा नाना प्रकारके गान और बाजोंसे उनके कर्णकुहरोंको तथा अपनी सुन्दर छवि, कटाक्ष, हाव, भाव इत्यादिसे उनके नेत्रोंको अपनी ओर खींचना चाहा पर नारदने अपने मनको अपने हाथमें रखा उन इन्द्रियोंकी ओर नहीं जाने दिया। फिर तो मनको उन इन्द्रियोंके साथ नहीं जानेके कारण नारदकी कुछ भी हानि नहीं हुई। इन्द्रियां कुछ नहीं करसकी क्योंकि मन स्थिर रहा और नारद कामकी प्रबल चपेटसे बचगये। इससे सिद्ध होता है, कि मन इन्द्रियोंका प्रधान तो है पर इन्द्रियोंके वशीभूत नहीं है। उनकी प्रार्थनासे उनकी ओर जाता है। फिर वही महर्षि नारदने जब शीलनिधि राजाकी कन्याकी छवि नेत्रोंसे देखी और उनका मनभी नेत्रोंके साथ जब उस कन्याकी ओर गया तब वे कामके वशीभूत हुए।

फिर श्रुतिका वचन है, कि "यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति" (छा० प्रपा० ७ खं० १८ श्रु० १)

अर्थ— सनत्कुमार कहते हैं, कि हे नारद ! जबही यह पुरुष मनन करता है तभी यह विज्ञानको प्राप्त करता है नहीं मनन करनेसे विज्ञानको नहीं पाता है मनन करनेहीसे जानता है इसलिये मननको ही जानने योग्य है।

इस प्रमाणसे सिद्ध होता है, कि मनकी प्रधानता यहां तक है और मन ऐसा तत्व है अर्थात् अन्तःकरणमें एक करण है जिसके द्वारा जो कुछ जानने योग्य है वह जाना जाता है।

यह श्रुति भी मनकी प्रधानताको ही सिद्ध करती है इसलिये श्रीश्यामसुन्दर आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि इन्द्रियोंमें प्रधान मन मुझहीको जान ! और इसीकी उपासना कर ! अर्थात जिस विषयको जहां गुरुद्वारा अथवा किसी वेद पुराण द्वारा सुने उसे पूर्णप्रकार मनन कर मुझे जानले। शंका मत करो !

अब भगवान कहते हैं, कि " भूतानामस्मि चेतना " भूतोंमें चेतना ( जीवनकला ) मैं ही हूं। अर्थात् आकाशादि पंचभूतोंसे उत्पन्न अण्डज, पिंडज उष्मज और स्थावर सबोंमें धीवृत्ति अर्थात् चेतनेवाली शक्ति मैं ही हूं।

शंका— इन चारों प्रकारके भूतोंकी सृष्टिमें तीनकी चेतना तो प्रकटरूपसे देखी जाती है पर स्थावरोंमें अर्थात् बनस्पति इत्यादिमें तो चेतना नहीं देखी जाती।

समाधान— इन बनस्पति इत्यादि स्थावरोंमें भी चेतना है पर इनकी चेतना अन्तर्मुख है बहिर्मुख नहीं है। शेष तीनोंकी चेतना बहिर्मुख है केवल इनही स्थावरोंकी अन्तर्मुख है पर किसी विशेष संस्कारको

पाकर यह अन्तर्मुखवाली चेतना भी वहिर्मुख होसकती है। जैसे पानीके पनालोंमें जो अन्न गिरजाते हैं अथवा गृहस्थ अपने घरोंमें जो नालियां बनाते हैं उन नालियोंमें कभी २ रोटी दाल इत्यादिके टुकडे पडकर सडजानेसे उसमें कीडे उत्पन्न होजाते हैं अर्थात् इन नाजोंमें जो चेतना शक्ति अन्तर्मुख रहती है वह वहिर्मुख होजाती है। इसी प्रकार अन्य उद्भिज्जोंमें भी जानना चाहिये। और यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि यदि उनमें चेतना शक्ति न हो तो वह दिन-दिन जल इत्यादिके संस्कारको पाकर जो वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथा फलते फूलते हैं यह शक्ति इनमें न हो ज्योंके त्यों पडे रहें। इसलिये इनमें भी चेतना अवश्य है। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि इन चारों प्रकारके भूतोंमें चेतना मैं ही हूं ॥ २२ ॥

लो! और सुनों—

मू०— रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
॥ २३ ॥

पदच्छेदः— रुद्राणाम् ( अजैकपादादिरुद्रसंज्ञानामेकादशानाम् ) शंकरः ( शं करोतीति शंकरः। रुद्रविशेषः। शिवः। ) च, अस्मि, यक्षरक्षसाम ( यक्षाणां राक्षसानाम ) वित्तेशः ( धनाध्यक्षः। कुबेरः। धनयक्षोत्तरदिशां पतिश्च ) [ अस्मि ] वसूनाम् ( ध्रुवाध्वरादिनामष्टानां वसुसंज्ञकदेवानाम् ) पावकः ( अग्निः )

च, अस्मि [ तथा ] अहम ( वासुदेवः ) शिखरिणाम् ( शिखरवतां पर्वतानाम् ) मेरुः ( उत्तरध्रुवस्थलक्षयोजनविस्तारान्वितपर्वतविशेषः ) [ अस्मि ] ॥ २३ ॥

पदार्थः— ( रुद्राणाम ) अज, एकपाद इत्यादि जो ग्यारह रुद्र हैं उनमें ( शंकरः ) शंकर अर्थात सबोंका कल्याण करनेवाला शिव नामका रुद्र ( च, अस्मि ) भी मैं ही हूं और ( यक्षरक्षसाम् ) यक्षगण तथा राक्षसगणोंमें ( वित्तेशः ) धनका अध्यक्ष कुवेर नामका देव भी मैं ही हूं फिर ( वसूनाम् ) ध्रवाध्वरादि आठों वसुओंमें ( पावकः ) अग्निनामका वसु ( च, अस्मि ) भी मैं ही हूं और ( शिखरिणाम ) बडी ऊंची-ऊंची चोटीवाले पर्वतोंमें ( मेरुः ) सुमेरु नामका पर्वत ( च, अस्मि ) भी मैं ही हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः— अब श्यामसुन्दर मुरलीधारी जगत्‌हितकारी अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे धनुर्धर ! [ रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ] रुद्रोंमें शंकर मैं ही हूं और यक्षराक्षसोंमें कुवेर भी मैं ही हूं। अर्थात् १. अज, २. एकपाद्, ३. अहिर्बुध्नः, ४. पिनाकी, ५. अपराजित, ६. त्र्यम्बक, ७. वृषा, ८. कपिः, ९. शंभुः, १०. हरण, और ११. ईश्वरः इन एकादश रुद्रोंमें शंकर अर्थात शंभु नामका रुद्र मैं ही हूं और यक्षगण तथा राक्षसगणोंमें वित्तेश जो कुवेर सो मैं ही हूं। कुवेरकी गणना केवल यक्षोंमें है राक्षसोंमें नहीं कुवेर=( कु ) कहिये भ्रष्ट और टेढेबेढे कुत्सित वस्तुको और ( वे ) कहिये शरीरको फिर जिसका शरीर कुत्सित हो उसे कहिये कुवेर। सो

इसके तीन चरण और आठ दांत हैं इसलिये इसको कुबेर कहते हैं, और यह धन, यक्षगण तथा उत्तरदिशाका अधिपति है केवल शरीरके कुत्सित होनेसे इसकी गणना राक्षसोंमें भी करली गयी है। यह "विश्रवो मुनेरिडविडभार्य्यायां जातः" विश्रवा मुनिके इड-विड नाम भार्य्यासे उत्पन्न है फिर यह कुबेर रावणका वैमात्र-भ्राता है।

भगवान्‌ने जो अपनेको यक्षोंमें कुबेर कहा इसका मुख्य अभि-प्राय यह है, कि कुबेर धनका ईश है अर्थात् सम्पूर्ण विश्वमें जितनी सम्पत्ति है सबका अधिपति है इसलिये भगवान्‌ने अपनेको कुबेर कहा है। जिस किसी प्राणीको धन सम्पत्तिकी इच्छा होवे वह भगवत्‌के कुबेररूपकी स्तुति करे।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [ **वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्** ] वसुओंमें × अग्नि मैं ही हूं और पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत भी मैं ही हूं। अर्थात धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल अनल ( पावक ) प्रत्यूष और प्रभा इन आठ वसुओंमें-पावक नामका वसु मैं ही हूं इसलिये वसुओंमें मेरे पावक ( अग्नि ) स्वरू-पकी उपासना करनी चाहिये।

फिर भगवान् कहते हैं, कि जितने गगनचुम्बी ऊंची चोटीवाले पर्वत हैं उनमें सुमेरु मैं ही हूं। यों तो लोकलोकान्तरोंमें अनगिनत

× धरोध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवाऽनिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोष्टौ क्रमात् स्मृताः। ( इति भारतः )

पर्वत हैं जिनका वर्णन विस्तारके भयसे यहां नहीं कियागया तथापि बीस श्रेष्ठ पर्वतोंके नाम यहां दियेजाते हैं—

१. *हिमवान, २. हेमकूट, ३. निषध, ४. नीलपर्वत, ५. श्वेत, ६. भृंगवान, ७. मेरु, ८. माल्यवान्, ९. गन्धमादन, १०. महेन्द्र, ११. मलय, १२. सह्य, १३. शुक्तिवान, १४. ऋक्षवान, १५. विन्ध्य, १६. पारिपात्र, १७. कैलाश, १८. मन्दर, १९. लोकलोक और २०. उत्तरमानस ये श्रेष्ठ पर्वत हैं।

इसलिये मेरे विराट्स्वरूपमें पर्वतों करके यदि मुझे स्मरण किया चाहे तो सुमेरु पर्वतकी स्तुति और प्रार्थना करे ॥ २३ ॥

अब भगवान् कहते हैं—

मू०— पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ ॥ २४

पदच्छेदः—[ हे ] पार्थ! ( पृथापुत्रार्जुन! ) पुरोधसाम् ( राजपुरोहितानाम् ) मुख्यम ( प्रधानम् ) बृहस्पतिम ( देवराज पुरोहितम ) च, माम्, विद्धि ( जानीहि ) अहम्, सेनानीनाम

* हिमवान् हेमकूटश्च निषधो नीलपर्वतः। श्वेतश्च भृंगवान् मेरुर्माल्यवान गन्धमादनः ॥ महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिवानृक्षवानपि। विन्ध्यश्च परिपात्रश्च कैलाशो मन्दरस्तथा। लोकलोको महांस्तेषु तथैवोत्तरमानसः। एते विंशति विख्याताः पर्वतास्तस्थुषां वराः ॥
( सिद्धान्तशिरोमणिः )

( सेनापतीनाम् ) स्कन्दः ( कार्तिकेयः ) [ तथा ] सरसाम् ( स्थिरजलाशयानाम् ) सागरः ( अब्धिः । उदधिः । उर्मिमालिः। समुद्रः ) अस्मि ॥ २४ ॥

पदार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि ( पार्थ! ) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! ( पुरोधसाम् ) राजपुरोहितोंमें ( मुख्यम् ) सबसे श्रेष्ठ और शिरोमणि पुरोधा जो ( बृहस्पतिम् ) देवराज इन्द्रका पुरोधा बृहस्पति है ( च ) सो भी तू ( माम् विद्धि ) मुझहीको जान फिर ( सेनानीनाम ) सेनापतियोंमें मुख्य (स्कन्दः) शिवका पुत्र जो कार्तिकेय सो ( अहम् ) मैं ही हूं तथा ( सरसाम् ) स्थिर जलाशयोंमें ( सागरः ) समुद्र ( अस्मि ) मैं ही हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ— अब श्रीआनन्दकन्द कहते हैं, कि [ पुरोधसाञ्च मुख्यं माम् विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! जितने राजपुरोधा सृष्टिकी आदिसे आजतक इस विश्वमें भिन्न २ लोकाधिपतियोंके यज्ञादि सम्पादन निमित्त उत्पन्न कियेगये उनमें सबोंसे श्रेष्ठ देवराजका पुरोधा जो बृहस्पति है सो तू मुझहीको जान! बृहस्पति शब्दका अर्थ है, कि " बृहतां वाचां पतिः " वचनोंमें जो बृहत् अर्थात् गूढ अर्थके सूचक वचन हैं उनका पति अर्थात् जो उनको अपने वशमें रखनेवाला हो। सो बृहस्पतिके समान पुरोधा और वाचस्पति अन्य कोई नहीं है। ऋग्वेदमें भी लिखा है— " बृहस्पतिर्यः सुभृतं बिभर्त्ति ". यहां सायणाचार्य्यने यों अर्थ किया है, कि ( बृहतां मंत्राणां पालयितारं देवं उक्तलक्षणम् पुरोहि-

तम् वा ) अर्थात् बडे-बडे मंत्रोंके अर्थोंको पालन करनेवाले जो हो वही पुरोहित कहाजाता है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि पुरोधाओंमें बृहस्पति मैं ही हूं ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [ **सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः** ] सेनापतियोंमें मैं कार्तिकेय हूं और स्थिरजलाशयोंमें सागर मैं ही हूं । आजतक जितने सेनापति बडे-बडे युद्धमें हुए हैं उनमें शिवजीके परमप्रियपुत्र कार्त्तिकेयके समान सेनाको संभालनेवाला अन्य कोई नहीं हुआ इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि सेनापतियोंमें स्कन्द मैं ही हूं ।

शंका— जलाशयोंमें गंगा ऐसी पवित्र नदीको छोड श्रीनारायणने अपनेको सागर क्यों कहा ? क्योंकि सागरका तो जल खारा होता है कोई पीता तक नहीं और गंगाजल अमृतके समान मधुर तथा सर्वप्रकार सुस्वादु और गुणद है फिर गंगाको छोड सागर क्यों कहा ?

समाधान— सागरकी उत्पत्ति सबसे पहले है प्रमाण—

"ॐ ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽजायत ततो रात्र्यऽजायत ततः समुद्रोऽर्णवः" इस वेदमंत्रसे सिद्ध है, कि पहले महाप्रलयकी रात्रिके पश्चात् इस ऋत सत्य नाम ब्रह्मसे समुद्र उत्पन्न हुआ दूसरी बात यह है, कि समुद्रसे बढकर जलराशि अन्य कहीं भी नहीं है । केवल पवित्रता वा महत्त्वको ही लेकर कहना भगवान्‌का तात्पर्य नहीं है वरु सर्वप्रकारसे श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य है सो समुद्र सर्वप्रकार श्रेष्ठ है । क्योंकि एक तो सारी पृथ्वी समुद्रपर ठहरीहुई है, दूसरे समुद्रकी गम्भीरता इतनी है, कि कहीं थाह नहीं मिलसकता ।

तीसरे समुद्रका विस्तारभी बहुत बडा है । चौथे समुद्रसे ही मेघ जलको लेकर पृथ्वीपर डालदेता है तो सुन्दर वृष्टि होती है जिसके द्वारा भिन्न २ अन्न उत्पन्न होते हैं जिससे सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलके जीवोंकी रक्षा होती है । इसमें सन्देह नहीं, कि गंगा, यमुना, सरस्वती इत्यादि सब नदियां भगवानकी ही विभूतियां हैं पर जलके प्रमाण और उपकारकी अपेक्षा समुद्रसे अधिक श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा जलाशय नहीं है। क्योंकि ये नदियां भी तो समुद्रहीमें जामिलती हैं इसलिये भगवान्‌ने अपनेको जलाशयोंमें सागर कहा । फिर प्रलयकालके समय समुद्र ही सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलको अपने पेटमें धारण कर लेगा इसलिये इसकी श्रेष्ठता सिद्ध है। फिर समुद्र रत्नोंका भण्डार भी है । मोती इत्यादि नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्न भी इसीसे निकलते हैं। शंका मत करो ! ॥ २४॥

अब भगवान् कहते हैं—

**मू०—महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।**
**यज्ञानां जपयज्ञोस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥**

**पदच्छेदः—** अहम्, महर्षीणाम् ( ब्रह्ममानसाज्जाता ये भृग्वादि सप्तमहर्षयस्तेषाम ) भृगुः ( महर्षिविशेषः ) [ तथा ] गिराम् (वाचाम पदलक्षणानाम् ) एकमक्षरम ( ओंकारः ) अस्मि, यज्ञानाम ( श्रौतस्मार्त्तानामश्वमेधाग्निष्टोमादि विविधयज्ञानाम ) जपयज्ञः ( मंत्रोच्चारणरूपयज्ञः ) [ तथा ] स्थावराणाम ( स्थितिमताम ) हिमालयः ( भारतवर्षोत्तरसीमास्थितहिमवान्नामपर्वतविशेषो नगराजः ) अस्मि ॥ २५ ॥

पदार्थः— श्री गोकुलविहारी जगत हितकारी कहते हैं, कि एवम्प्रकार ( अहम महर्षीणाम् ) भृगु, वशिष्ठ, अंगिरा इत्यादि महर्षियोंमें ( भृगुः ) भृगु नामका महर्षि मैं ही हूं। तथा ( गिराम ) सब वाणियोंमें ( एकमक्षरम् ) एकाक्षर जो ओंकार सो ( अस्मि ) मैं ही हूं फिर ( यज्ञानाम ) अश्वमेध, अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञोंमें ( जपयज्ञः) जपयज्ञ मैं ही हूं तथा ( स्थावराणाम ) एक स्थानपर स्थिर रहनेवालोंमें ( हिमालयः ) भारतवर्षकी उत्तर सीमामें स्थिर हिमाद्रि नामका पर्वत ( अस्मि ) मैं ही हूं ॥ २५ ॥

भावार्थः —अब सर्वान्तर्यामी जगत्स्वामी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द कहते हैं, कि [ महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ] महर्षियोंमें भृगु मैं ही हूं और वाणियोंमें एकाक्षर ॐकार मैं ही हूं। अर्थात ब्रह्मदेवके मनसे उत्पन्न जो भृगु, अंगिरा, वशिष्ठ इत्यादि सातों महर्षि हैं उनमें भृगु मैं ही हूं क्योंकि भृगुका तेज और पराक्रम इन सातोंमें श्रेष्ठ है। इसलिये भृगु मुझहीको जान। यहां तक, कि जब-जब मैं अवतार लेता हूं तब-तब भृगुहीके चरण का चिन्ह मेरे हृदयमें रहता है। फिर आदि सृष्टिसे अद्यावधि जितनी वाणियां उत्पन्न हुई हैं उनमें एकाक्षर जो ॐकार सो मैं ही हूँ। क्योंकि यह ॐकार ही सृष्टिका कारण है। जब मुझे सृष्टि करनेकी इच्छा होती है तो सबसे प्रथम मैं इस ॐकारेका ही उच्चारण करता हूं फिर इस एकाक्षर ॐकारमें मैं अपनी ऐसी पूर्णशक्ति भरदेता हूं जिससे रचना, पालन और संहार होते रहते हैं अर्थात अनगिनत सृष्टियां उपजती और विनशती रहती हैं पर यह एकाक्षर ॐकार तैलधारावत

निरवच्छिन्न एक रस बिना किसी प्रकारकी त्रुटिके सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें भासमान रहता है। यदि किसी सुनसान स्थानमें जा एकाग्रचित्त होकर दोनों कानोंको एक ओर लगाकर सुनिये तो यह एकाक्षर ॐकार अवश्यही तैलधारावत् सुना जावेगा। इसी कारण इस नादसे सारी सृष्टि उत्पन्न होरही है और इसीके द्वारा पालन होकर फिर इसीमें लय होजाती है—

प्रमाण श्रुतिः "ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव"॥ (माण्डूक्य० श्रु० १)

इस श्रुतिका अर्थ तथा इस ॐकार एकाक्षर ब्रह्मकी व्याख्या इस गीताके अ० ८ श्लोक १३ में पूर्ण प्रकार कर आये हैं देख लेना।

उस महाप्रभुका स्मरण करनेकेलिये यह ॐकारही सब मन्त्रोंमें श्रेष्ठ है। योगसूत्रमें लिखा है, कि "ॐ तस्य वाचकः प्रणवः" उस परब्रह्मका वाचक अर्थात् उसका स्मरण करनेके लिये मुख्य नाम यह ॐकार ही है।

भगवानके स्मरण करनेके लिये यद्यपि हंसः, सोहं, ऐं, क्लां, क्लीं, क्लैं, क्लौं, ह्रां, ह्रीं, ह्रैं, ह्रौं, श्रां, श्रीं, श्रैं, श्रौं, तत सत्इत्यादि अनेक प्रणव हैं तथा भिन्न-भिन्न गायत्री इत्यादि अनेक वाक्य हैं फिर "नमो भगवते वासुदेवाय" "नमः शिवाय" इत्यादि अनेक मंत्र हैं पर इन सबोंमें श्रेष्ठ यह ओंकार ही है इसी कारण भगवान कहते हैं, कि सब गिराओंमें एकाक्षर ओंकार मैं ही हूं।

पहले जो कहा, कि सारी सृष्टि इस ओंकारसे ही रची गई है उसे श्रुतिसे दिखलाते हैं। यह प्रणव एकाक्षर ब्रह्म है परे इस मंत्रमें चार मात्रा हैं अ, उ, म अर्थात् ँ (अर्धमात्रा) प्रमाण— "ॐ प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिस्तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ॐकारः साऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्त्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता चतुर्थः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः" ( नृसिंहोत्तरता॰ खं॰ ३ श्रुती १ )

अर्थ— इस एकाक्षर ॐकारके चार माता अथवा पाद हैं। सो जो इस प्रणवकी पहली मात्रा है वह अकार है जिससे पृथिवी उत्पन्न हुई और ऋचाओंसे भराहुआ ऋग्वेद उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा और आठों वसु उत्पन्न हुए। गायत्री उत्पन्न हुई और गार्हपत्याग्निदेव उत्पन्न हुए। सो यह ॐकारका प्रथम पाद है सब पादोंमें स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी ये चार प्रकारके शरीर गठे-हुए हैं।

द्वितीयमात्रा 'उकार' है जिससे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ और यजुर्वेदके मंत्रोंसे भराहुआ यजुर्वेद उत्पन्न हुआ तिससे विष्णु और एकादश रुद्र उत्पन्न हुए फिर त्रिष्टुप् छन्द उत्पन्न हुआ तथा * दक्षिणाग्निदेव उत्पन्न हुआ सो इस ॐकार एकाक्षरका दूसरा पाद है जो सब स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप शरीरसे गठा हुआ है।

तीसरीमात्रा मकार है उससे दिविलोक उत्पन्न हुआ, सामके मंत्रोंसे युक्त सामदेव उत्पन्न हुआ, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, जगती छन्द और आहवनीयाग्निदेव उत्पन्न हुए । यही तीसरा पाद है और सब पादोंमें स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी करके गठा हुआ है।

जो इसके अन्तमें है वह अर्धमात्राहै सो ही + सोमलोक है और ॐकार है । सो ही मंत्रोंसे भराहुआ अथर्ववेद है सो ही संवर्त्तकाग्नि है । उनचासों मरुत है सो ही विराट्स्वरूप है, सो ही एक ऋषिनामका अथर्वणिका अग्नि है और अर्धमात्रा विन्दुरूप करके परमप्रकाशमान तुरीयस्वरूप है ।

इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि ॐकारही संपूर्ण विश्वका मूल है फिर भगवान् इसको अ० ८ श्लो० १३ में एकाक्षर ब्रह्म कहआये हैं।

---

* वह अग्नि जो गृहका स्वामी यज्ञादि सम्पादन करनेके निमित्त अपने गृहमें रख छोडता है।

दत्तासु दक्षिणास्वादौ तृप्तिर्भूत्वा यतोऽपरान् । नयसे दक्षिणाभागं दक्षिणाग्निस्ततोऽभवत् ' ( वह्निपुराण )

इस अग्निको यज्ञशालामें दक्षिणकी ओर स्थापित करते हैं इसलिये इसको दक्षिणाग्नि कहते हैं ।

+ उभयया विद्यया सहितस्य परमेश्वरस्य लोकः ।

अतएव सब वाणियोंमें यह ॐकार श्रेष्ठ सिद्ध हुआ । इसी कारण श्यामसुन्दर कहते हैं, कि हे अर्जुन! सब वाणियोंमें अर्थात् वेदादिकों में सबका मूल एकाक्षर ॐकार मैं ही हूं ।

अब कहते हैं, कि [ यज्ञानां ÷जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ] सर्वप्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं ही हूं और स्थावरोंमें नगराज ( हिमालय ) मैं ही हूं । अर्थात् सर्वप्रकारके

---

÷ त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत । वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः ॥ यदुच्चनीचस्वरितैः शब्दैः स्पष्टपदाक्षरैः। मंत्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपस्मृतः। शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ॥ अपरैर्न श्रुतं किंचित् स उपांशुर्जपः स्मृतः । धिया यदक्षर श्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् । शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः । ( नृसिंहपुराणे विश्वामित्रः )

× मनुः— विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥

अर्थ— जपके तीन भेद हैं- वाचिक, उपांशु और मानस। जो नीच उच्च मात्राओंके संग पदों और अक्षरोंको इस प्रकार उच्चारण कियाजावे, कि शब्द दूसरेके कानतक सुन पडे उसे वाचिक कहते हैं ।

जो हौले-हौले होठोंको हिलाते हुए धीरे धीरे ऐसा उच्चारण कियाजावे, कि दूसरा सुन न सके उसे उपांशु कहते हैं ।

जिसमें अक्षरसे अक्षर और पदसे पदको ध्यान करते हुए केवल अर्थकी चिन्ता कीजावे और होठ अथवा जिह्वा कुछ भी न हिले उसे मानसजप कहते हैं ।

मनु कहते हैं, कि विधियज्ञसे जपयज्ञ श्रेष्ठ है जिसमें वाचिकका दशगुण, उपांशुका सौगुण और मानसका सहस्रगुण अधिक फल है

अश्वमेध, अग्निष्टोम इत्यादि नाना प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं ही हूं। क्योंकि अन्य सब यज्ञोंमें पशुवध इत्यादि होनेके कारण हिंसा इत्यादिका भय है तथा विना पुष्कलद्रव्यके उनका साधन नहीं होसकता। फिर अन्य यज्ञोंके सम्पादनको अनेक आचार्य्य इत्यादि विद्वानोंकी आवश्यकता है तथा अन्तमें उन यज्ञोंका फल भी स्थिर नहीं है पर यह जपयज्ञ सर्व प्रकारकी हिंसाओंसे रहित राव रंक सबोंके सम्पादन कियेजाने योग्य है जिसमें एक कौडीका भी व्यय नहीं है और जिसमें किसी समयका बन्धन अथवा किसी अन्य पुरुषकी सहायताकी आवश्यकता भी नहीं है और इसका फल अमोघ है। इस यज्ञके द्वारा प्राणी बडी सुलभतासे उस परब्रह्म जगदीश्वरको प्राप्त करसकता है इसलिये भगवानने कहा, कि यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं ही हूं।

अब भगवान् कहते हैं, कि स्थावरोंमें अर्थात् एक स्थानपर सदा स्थित रहनेवालोंमें अचलप्रतिष्ठ जो हिमसे ढकाहुआ हिमाचल पर्वत है सो मैं ही हूं।

शंका— पहले पर्वतोंमें अपनेको सुमेरु कहआये हैं फिर अब हिमालयकी श्रेष्ठता क्यों कथन करते हैं ?

समाधान— शृंगोंकी उंचाईकी अपेक्षा सुमेरुको श्रेष्ठ बताया गया और समीपता तथा प्रत्यक्षप्रमाणकी अपेक्षा हिमालयको अपना रूप बतलाया है। क्योंकि उन स्थानोंमें जिनको हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं हिमालय ही है। सुमेरुको हमलोग नहीं देखते। इसलिये " उपस्थितम्परित्यज्यानुपस्थितं याच्यते इति वाधितः

न्याय:" उपस्थितको छोडके अनुपस्थितको मानना बाधितन्याय है। इसलिये भगवान्ने अपने नेत्रोंके समीप उपस्थित स्थावरोंमें नगराज हिमालयको ही अपना रूप बताया है। शंका मत करो! ॥ २५ ॥

लो और सुनो—

मू०— अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

पदच्छेदः— सर्ववृक्षाणाम् ( सर्वेषां महीरुहाणाम् ) अश्वत्थः ( पिप्पलः ) देवर्षीणाम् (देवा एव सन्त ऋषित्वं प्राप्ता मंत्र-दर्शित्वात् ते देवर्षयः तेषां मध्ये) नारदः ( देवर्षिविशेषः ) गन्धर्वाणाम् ( गानधर्मकाणां देवगायकानाम् ) चित्ररथः ( गन्धर्वविशेषः ) [ तथा ] सिद्धानाम् ( जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानाम्। जीवन्मुक्तानाम् ) कपिलः ( कर्दमप्रजापतेरौरसाद्देवहूतिगर्भजातो मुनिविशेषः ) मुनिः ( मौनव्रती। मौनी ) [ अहमस्मि ] ॥ २६ ॥

पदार्थः— ( सर्ववृक्षाणाम् ) वट, पीपल, खीरी इत्यादि सब वृक्षोंमें ( अश्वत्थः ) पीपलका वृक्ष तथा ( देवर्षीणाम् ) देवगणोंमें जो ऋषित्वको प्राप्त हुए हैं उनमें ( नारदः ) नारद ऋषि और ( गन्धर्वाणाम् ) देवलोकमें गान करनेवाले जो गंधर्वजातिके देव हैं उनमें ( चित्ररथः ) चित्ररथनामका गंधर्व तथा ( सिद्धानाम् ) धर्म, ज्ञान, वैराग्यादिको प्राप्त कर जो जीवन्मुक्त होचुके हैं तथा जो

योगादिक्रियाको सिद्ध किये हुए हैं उनमें ( कपिलः ) कपिलदेव नामका ( मुनिः ) मौनव्रतधारी मैं ही हूं ॥ २६ ॥

भावार्थः– अब भगवान् कहते हैं, कि [ **अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः** ] जितने वृक्ष हैं सबोंमें पीपलका वृक्ष मैं ही हूं और देवर्षियोंमें नारद मैं ही हूं। क्योंकि छौ प्रकारके जो वृक्ष हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ पीपलकाही वृक्ष है। वे छवों प्रकारके वृक्ष कौन-कौन हैं ? सो कहते हैं—

" कुरण्टाद्या अग्रबीजा मूलजास्तूत्पलादयः ।
पर्व्वयोनय इक्ष्वाद्या स्कन्धजाः शल्लकीमुखाः ॥
शाल्यादयो बीजरुहाः संमूर्च्छजास्तृणादयः ।
स्युर्वनस्पति कायस्य षडेते मूलजातयः ॥" ( इति हेमचन्द्रः )

१. अग्रबीजा– जिसे कुरण्ट कहते हैं जिन बनस्पतियोंकी डालियोंमें बीज होता है।

२. मूलजा— उत्पलादि जैसे कमल कोहन, कुमुदिनी, चिचोही, केसर, रतालू आदि ।

३. पर्वयोनि– दण्डवाले वृक्ष जैसे नरकट, ऊख, वेत इत्यादि।

४. स्कन्धजा— जैसे पीपल, बरगद, खीरी, सीसम इत्यादि ।

५. बीजरुहा— जैसे शाल्य, साखू इत्यादि ।

६. संमूर्च्छजा– नाना प्रकारकी दूर्वा इत्यादि तृण तथा कुश--कास इत्यादि ।

सो भगवान् कहते हैं, कि इन सब वृक्षोंमें हे अर्जुन! अश्वत्थ (पीपल) मैं ही हूं अर्थात नारिकेल, रसाल ( आम ) बिल्व (वेल) पनस ( कटहल ) जम्बू ( जामुन ) दाडिम ( अनार ) कदली ( केला ) आम्रातक, खर्जूर ( खजूर ) कर्कटी ( कीकर ) अशोक, शिरीष ( सिरस ) कदम्ब इत्यादि सब वृक्षोंमें अश्वत्थ ( पीपल ) उच्च होता है तथा विष्णुरूप कथन कियागया है। सनातनधर्मावलम्बियोंमें सदा पूज्य है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि अश्वत्थ मैं ही हूं। भगवानका तात्पर्य फल फूलकी अपेक्षासे अश्वत्थ को श्रेष्ठ कहनेका नहीं है यदि ऐसा होता तो सबसे श्रेष्ठ आम्र (आम) नारिकेल (नारियल) वा दाडिम (अनार) जम्बरी ( नीबू ) बदरी ( बेर ) जामुन, कटहल, नासपाती, सेव, मौलसरी इत्यादि वृक्षोंमें किसीका नाम लेते पर ऐसा न कहके अश्वत्थको ही श्रेष्ठता दी। कारण यह है, कि भिन्न-भिन्न पुराणोंमें इस वृक्षका पूर्ण महत्व दियाहुआ है। यथा—

"अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः। रुद्ररूपो वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक्॥ दर्शनस्पर्शनाद्देव ते वै पापहराः स्मृताः। दुःखापद्व्याधिदुष्टान्तं विनाशकरणे ध्रुवम्॥ ( अर्थ स्पष्ट है)

( पद्मपु० उत्तरखं० अ० १६० )

इन श्लोकोंसे अश्वत्थ बरगद और पलासके वृक्षोंका विष्णु रुद्र और ब्रह्म रूप होना सिद्ध होता है।

इनमें अश्वत्थके वृक्षकी वन्दनाका मंत्र यह है—

"ॐ चक्षुषानन्दमुजस्पन्दं तथा दुःस्वप्नदर्शनम्।
शत्रूणां च समुत्थानमश्वत्थ शमयाशु मे॥

अश्वत्थरूपो भगवान् प्रीयतां मे जनार्दन ।
त्वां दृष्ट्वा नश्यते पापं दृष्ट्वा लक्ष्मीः प्रवर्तते ॥
प्रदक्षिणो भवेदायुः सदाश्वत्थ नमोस्तु ते ”
( इति स्मृतिसारे हलायुधधृतवचनम् ) अर्थ स्पष्ट है ।

इसी मंत्रसे अश्वत्थ वृक्षके समीप जाकर उसे विष्णुरूप समझ-कर वन्दना करे और प्रदक्षिणा करे । “ **अश्वत्थं वन्दयेन्नित्यं पूर्वाह्णे प्रहरद्वये । अत ऊर्द्ध न वन्देत अश्वत्थं तु कदाचन** ” अर्थात् दोपहर दिनके भीतर पूर्वाह्णमें अश्वत्थकी पूजा वन्दना करना चाहिये तिसके पश्चात् फिर नहीं करना चाहिये ।

इन वचनोंसे अश्वत्थका जनार्दनरूप होना सिद्ध होता है ।

**शंका**— बहुतेरे अन्य मतावलम्बी यह शंका करेंगे, कि जब परमात्मा सर्वत्र सब वृक्षोंमें व्यापक है तो इनको छोड केवल एक ऐसे वृक्षको जिसमें न कोई स्वादिष्ट फल है और न पुष्प है वन्दना क्यों की ?

**समाधान**— सनातनधर्म्मावलम्बी तो केवल महत्त्वको देखकर वन्दनादि करते हैं अर्थात् भगवतकी विभूतियोंमेंसे जहां उस महा-प्रभुकी अधिक शक्तियोंका प्रवेश देखते हैं तहां ही मस्तक झुकादेते हैं । यथार्थमें उस वस्तुतस्तु गाछ, वृक्ष, कंकर, पत्थर, मिट्टी, पानी, घास, पातको सीस नहीं नवाते हैं वे तो केवल उन वस्तुतस्तुओंको जिनमें परमात्माकी अद्भुत शक्ति है सीस नवाते हैं । अश्वत्थके डाल पातको अथवा छोटे-छोटे फलोंको वा पत्तियोंको सीस नहीं

नवाते हैं वे तो देखते हैं, कि अश्वत्थसे अतिरिक्त वनस्पतियोंमें ऐसा कोई वृक्ष नहीं है जिसका बीज तो एक वारगी एक विन्दुसे भी छोटा हो और उसमेंसे इतना ऊंचा वृक्ष और उसके विशाल डाल पात लाखों करोडों पत्तियां सहित निकल आवें। अन्य किसी वृक्षका वीज इतना छोटा नहीं होता जिसमें परमात्माकी अद्भुत शक्तिने इतने बडे विशाल वृक्षको रख छोडा हो। सब वृक्षोंसे अधिक उँचाई इसी वृक्षमें देखीजाती है इसलिये परमात्माकी वनस्पतिरूप विभूतियोंमें यह वृक्ष श्रेष्ठ विभूतिसे उत्पन्न है। सामान्यसे विशेष सदा बलवान् होता है इसलिये सामान्य वृक्षोंसे इस विशेष अश्वत्थ वृक्षमें अपनी अद्भुत शक्तिकी व्यापकता दिखलादी है अतएव इसकी स्तुति कीगयी है। शंका मत करो!

फिर भगवान् कहते हैं, कि "देवर्षीणां च नारदः" देवर्षियोंमें नारद मैं ही हूं। अर्थात् देवताओंमें जिन्होंने ऋषित्वको प्राप्त कर-लिया है उसे देवर्षि कहते हैं सो सब देवर्षियोंमें नारद भगवत्के स्वरूप ही हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः] गन्धर्वोंमें चित्ररथ नामका गन्धर्व मैं ही हूं और सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं ही हूं। यह चित्ररथ सब गन्धर्वोंका राजा है और गानविद्या तथा युद्धादिमें परम प्रवीण है। सारा गन्धर्वलोक इसके अधीन रहता है इसलिये गोवर्द्धनधारी मदनमुरारी कहते हैं, कि चित्ररथ गन्धर्वको मेरा ही स्वरूप जानना। अभिप्राय यह है, कि

जिस प्राणीको गानविद्याकी अधिक श्रद्धा हो वह भगवान्‌के चित्ररथ स्वरूपकी स्तुति करे।

फिर कहते हैं, कि सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं ही हूं। कपिलदेव मुनि साक्षात् परमात्माके अवतार हैं कर्दम ऋषिकी पत्नी देवहूतीजीके गर्भसे उत्पन्न हुए और बिना किसी परिश्रमके जन्मसे ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य इत्यादिमें परम प्रवीण और सिद्ध हुए। आप सांख्यशास्त्रके कर्त्ता हैं, अपनी माता देवहूतीजीको सांख्यशास्त्रका उपदेश किया। सिद्धोंमें इनसे अधिक महत्त्ववाला कोई नहीं हुआ। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं ही हूं ॥ २६ ॥

फिर कहते हैं—

**मू०— उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।**
**ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ।**
**॥ २७ ॥**

**पदच्छेदः—** **अश्वानाम्** ( तुरंगानाम् । घोटकानाम् ) **अमृतोद्भवम्** ( अमृतमथनावसर उद्भवो यस्य तम् अथवा अमृतार्थ क्षिराब्धिमथनादुद्भूतम् ) **उच्चैःश्रवसम्** ( उच्चैःश्रवानामाश्वस्तम्, ) [ तथा ] **गजेन्द्राणाम्** ( कुंजराणाम ) [ अमृतोद्भवम् ] **ऐरावतम्** ( शुक्लवर्णं चतुर्दन्तं समुद्रमथनोत्थितं दिग्गजविशेषम् ) **माम्, विद्धि** ( जानीहि ) [ तथा ] **नराणाम्** ( मनुष्याणाम् ) **नराधिपम्** ( नरेशम् ) च [ माम् विद्धि ] ॥ २७ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि ( अश्वानाम् ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभरके अश्वोंमें ( अमृतोद्भवम् ) क्षीरसागरसे उत्पन्न ( उच्चैःश्रवसम् ) उच्चैःश्रवा नामका अश्व हे अर्जुन ! ( माम्, विद्धि ) मुझ हीको जान ! तथा उसी क्षीरसागरसे उत्पन्न ( ऐरावतम् ) ऐरावत नामका हस्ती जो श्वेतवर्ण और चारदांतवाला है उसे तू [ माम् विद्धि ] मुझहीको जान ! फिर ( नराणाम् ) मनुष्योंमें ( नराधिपम्, च ) नरेश भी तू मुझहीको जान ॥ २७ ॥

भावार्थः--- अब भगवान श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे धनुर्धर ! विशालबाहो अर्जुन ! [ उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ] अमृत जो क्षीरसागर तिससे उत्पन्न जो उच्चैःश्रवानामका तुरंग सो तू मुझहीको जान ! अमृतका अर्थ मेदिनीने नीर भी किया है और राजनिघंटुने क्षीर किया है इसलिये यहां अमृतोद्भव कहनेसे भगवान्का तात्पर्य यह है, कि नीर जो जलराशि तथा क्षीरजो दुग्धराशि अर्थात् क्षीररूप जो नीरराशि क्षीरसागर तिससे उत्पन्न जो उच्चैःश्रवा नामका तुरंग है सो तू मुझहीको जान ।

---

टिप्पणी— श्रीशंकराचार्य्य तथा अन्य कई भाष्यकारोंने अमृतोद्भवम् का अर्थ यों किया है, कि अमृतके निमित्त जो क्षीरसागर मथन कियागया तिससे ये उच्चैःश्रवा और ऐरावत उत्पन्न हुए हैं । अमृतोद्भवम् अमृतनिमित्तमथनोद्भवम् ( शंकरः )

अमृतार्थम् क्षीराब्धिमथनादुद्भवम् । ( श्रीधरः )

अमृतम् जलमिति मेदिनी ।

क्षीरम् इति राजनिघण्टुः ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्** ] श्वेतवर्ण चार विशाल दन्तयुक्त ऐरावत हस्ती मुझहीको जान! अर्थात् क्षीरसागरसे उत्पन्न जो ऐरावत नामका हस्ती है, जो सब गजोंका राजा गजेन्द्र कहाजाता है सो तू मुझहीको जान! और मनुष्योंमें नरेश भी मुझहीको जान!

**शंका–** भगवान्की तो श्रेष्ठ विभूतियां देवता, गन्धर्व इत्यादि उच्च रचनाओंमें बहुत हैं जिनकी गणना नहीं होसकती फिर उन श्रेष्ठ विभूतियोंको छोड घोडे हाथी जो साधारण पशुओंमें गिने जाते हैं तथा जो सूर्य और देवराज इन्द्रकी सवारीमें हैं तिनकी गणना अपनी श्रेष्ठ विभूतियोंमें क्यों की? सूर्य और इन्द्रका वाहन होना क्यों स्वीकार किया? यदि वाहन ही होना स्वीकार था और पशु पक्षियोंमें अपनी विभूतियोंके दिखलानेकी इच्छा थी तो ब्रह्मा के वाहन 'हंस' की गणना श्रेष्ठ विभूतियोंमें क्यों नहीं रखी? क्योंकि ब्रह्मा इन्द्रसे महत्वमें सहस्रों गुण अधिक है।

**समाधान–** यहां भगवानने पक्षियोंकी गणना नहीं की है पक्षियोंको तो आगे कहेंगे, कि 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' यहां केवल चतुष्पदोंमें हस्ती और तुरंगसे श्रेष्ठ अन्य कोई चतुष्पद नहीं है। यह प्रसिद्ध है। तिसमें भी ऐरावत और उच्चैःश्रवा ये तो अलौकिक चतुष्पद हैं जिनकी उत्पत्ति रजबीजसे नहीं है वरु भगवतकी अलौकिक शक्तिसे है। इसी कारण इनकी गति भी अन्य हस्ती और तुरंगोंसे कहीं अधिक है अर्थात उच्चैःश्रवा एक क्षणमें सहस्रों योजन

की सुधि लेता है और इसीप्रकार ऐरावत हस्तीको भी जानना । इसी कारण भगवान्‌ने चतुष्पदोंकी अपेक्षा अपनी श्रेष्ठ विभूतियोंमें इन दोनोंकी गणना की । शंका मत करो !

शंका— इस वर्त्तमान कालमें तो इस भूमण्डलपर सहस्रों नरेश विराजमान हैं जिनमें बहुतेरे कामी, क्रोधी, लोभी, स्वार्थी और दिन-रात विषयभोगमें मग्न हैं और जो प्रजाको घोर क्लेशमें छोडकर नोच खसोटकर अपने विषयकी पूर्त्ति करते हैं और अन्यायके वितान फैलानेमें बडे प्रवीण हैं अर्थात् छल, कपट, प्रपंच, राग, द्वेष, मद, मोह तथा मत्सररूप विशाल जाल फैलाने वाले हैं और केवल शिश्नो-दर परायण रहकर अपने देश कोषकी ओर कुछभी नहीं देखते । जिनकी प्रजा छाती पीट-पीट कर अहर्निश हाय मारमारकर रोती रहती है क्या ऐसे नरेश भी भगवान्‌के रूप ही कहेजावेंगे ?

समाधान— नहीं ! नहीं!! कदापि नहीं !!! ऐसोंको तो नरेश कहना ही उचित नहीं है । क्योंकि जिसमें क्षारत्व न हो उसे नमक कहना नहीं बनता और जिसमें मधुरत्व न हो उसे मधुर कहना नहीं बनता । इसी प्रकार जिसमें नरेशत्व न हो उसे नरेश कहना नहीं बनता । नरे-शत्व क्या है ? इन्द्रियजित होना अर्थात् " विषयेष्वप्रशक्तिश्च " विष योंमें आसक्त नहीं होना, न्यायपूर्ण होना विद्वान् होना, दयाशील होना, प्रजावत्सल होना अर्थात् प्रजाओंको दुःख न देकर सुखमें रखना धर्मज्ञ होना, कृतज्ञ होना, मधुरभाषी होना, भगवद्भक्त होना, पराक्रमी होना इत्यादि नरेशत्व है । इसलिये इन गुणोंसे जो विशिष्ट है उसे यथार्थ नरेश कहना चाहिये । जैसे दशरथ, जनक, अश्वपति, जयबलि, पृथु

इत्यादि । सो भगवान् कहते हैं, कि ऐसे ही नरेशोंको मेरा रूप जान ! शंका मत करो ॥ २७ ॥

लो और सुनो !

**मू०— आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।**
**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥**

**पदच्छेदः**— **आयुधानाम्** ( अस्त्राणाम् ) [ मध्ये ] **वज्रम्** ( दधीच्यस्थिसंभवमस्त्रम । कुलिशम् ) **धेनूनाम्** ( दोग्ध्रीणाम् ) **कामधुक्** ( क्षीरसागरोद्भवा वशिष्ठस्य कामधेनुः ) **अहमस्मि** [ तथा अहम् ] **प्रजनः** ( अपत्य जनयिता ) **कन्दर्पः** ( कामः ) **अस्मि**, **सर्पाणाम्** ( सविषाणामुरगाणाम् ) [ मध्ये ] **वासुकिः** ( सर्पराजः ) **अस्मि** ॥ २८ ॥

**पदार्थः**— भगवान् कहते हैं, कि ( **आयुधानाम्** ) सर्वप्रकारके अस्त्रोंमें ( **वज्रम्** ) इन्द्रका जो वज्र कुलिश नामवा अस्त्र है सो मैं ही हूं और ( **धेनूनाम्** ) जितने प्रकारकी गैया हैं उनमें ( **कामधुक्** ) कामधेनु मैं ही हूं और ( **प्रजनः** ) प्रजा अर्थात् बच्चोंका उत्पन्न करनेवाला ( **कन्दर्पः** ) कामदेव मैं ही हूं फिर ( **सर्पाणाम्** ) सर्पोंमें जो ( **वासुकिः** ) सर्पोंका राजा वासुकि सो ( **अस्मि** ) मैं ही हूं ॥२८॥

**भावार्थः**— अब भगवान् कहते हैं, कि [ **आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्** ] अस्त्र शस्त्रोंमें वज्र मैं ही हूं और गायोंमें कामधेनु मैं ही हूं अर्थात् खड्ग, त्रिशूल, धनुष,

बाण, तोमर, भिशिण्डी, अर्धचन्द्र, नाराच, शक्ति, यष्ठी ( लाठी ) परशु ( फरसा ) चक्र, शूल, परिघ इत्यादि जितने शस्त्र हैं सबोंमें वज्र नामका अस्त्र अर्थात् महाराज *दधीचि मुनिकी हड्डीसे जो साढेतीन धनुष बने उनमें ऐन्द्र नामका धनुष जो इन्द्रके हाथमें रहता है जिससे इन्द्रने वृत्रासुरको नाश किया था सो मैं ही हूं।

दधीचिकी हड्डीसे केवल वज्र ही नहीं बना वरु इन्द्रने असि, शूल, चक्र, परिघ, गदा आदि सब शस्त्रोंको विश्वकर्माके द्वारा बनवाया था। ( वह्निपुराण दानवस्थाननिर्णयनाम अध्यायमें देखो )

फिर भगवान् कहते हैं, कि " धेनूनामस्मि कामधुक् " गउओंमें कामधेनु गैया मैं ही हूं। इस कामधेनुकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है। यह कामधेनु सुरभी गैयाकी नप्ता ( नतिनी ) है सुरभि की पुत्री रोहिणी और रोहिणीकी पुत्री कामधेनु है जो वशिष्ठके पास सदा रहती है जिससे उक्त महर्षि जो कुछ चाहते थे प्राप्त-करलेते थे। यह गैया अलौकिक गैया है इसीके गर्भसे शिवके वाहन नन्दीकी उत्पत्ति है। ( कल्किपु० अ० ६१ में देखो )

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः** ] प्रजा उत्पन्न करनेवाले प्राणियोंके शरीरमें कामदेव मैं ही हूं और सर्पोंमें वासुकी मैं ही हूं। यहां जगत्हितकारी मदनमुरारीने प्रजनन शब्दका प्रयोग

---

* " दधीचिः— अथर्वमुनेरौरसात् कर्दमकन्यायां शान्तिनाम्न्यां जातः । " अथर्वमुनिसे कर्दम ऋषिकी कन्या शान्तिनामाके गर्भसे दधीचि मुनिकी उत्पत्ति है।

करके यह दिखला दिया, कि केवल सन्तान उत्पन्न करनेके निमित्त जो निज धर्मपत्नीके संग कामका संयोग है सो काम मैं ही हूं। इससे इतर जो विषयी और कामी पुरुष कामको काममें लाते हैं वह काम अनर्थका कारण है उससे अत्यन्त हानि होती है । इसी कारण सो "काम" भगवान्की निज विभूतियोंमें गणना करने योग्य नहीं है ।

अब सर्वसाधारण सन्तानाभिलाषियोंके कल्याणार्थ यहां यह वर्णन किया जाता है, कि यह जो सन्तानार्थ काम भगवत्स्वरूप है वह पुरुष और स्त्रियोंके अंगोंमें कब ? किस समय और कहां निवास करता है ? और कौनसा उद्योग करनेसे वह काम नीतिपूर्वक सन्तानप्रद होता है ?

प्रमाण—" पादे गुल्फे तथोरौ च भगे नाभौ कुचे हृदि ।
कक्षे कंठे च ओष्ठे च गण्डे नेत्रे श्रुतावपि ॥
ललाटे शीर्षकेशेषु कामस्थानं तिथिक्रमात् ।
दक्षे पुंसां स्त्रियां वामे शुक्ले कृष्णे विपर्ययः ॥
* पादांगुष्ठे प्रतिपदि द्वितीयायां च गुल्फके ।
उरुदेशे तृतीयायां चतुर्थ्यां भगदेशतः ॥
नाभिस्थाने च पञ्चम्यां षष्ठ्यान्तु कुचमण्डले ।
सप्तम्यां हृदये चैव अष्टम्यां कक्षदेशतः ॥

* तिथिक्रमसे अंगोंमें कामका निवास दिखलाया जाता है—

प्रतिपदाको अंगूठेमें, द्वितीयाको एंडीमें, तृतीयाको जंघेमें, चतुर्थीको योनिदेशमें, पंचमीको नाभिस्थानमें, षष्ठीको स्तनमण्डलमें, सप्तमीको हृदयप्रदेशमें, अष्टमीको कक्ष (बगल) में नवमीको कंठदेशमें, दशमीको ओष्ठमें, एकादशीको कपोलमें, द्वादशीको नयनमें, त्रयोदशीको कानमें, चतुर्दशीको ललाटमें और पौर्णमासीको शिखास्थानमें कामका निवास रहता है।

नवम्यां कंठदेशे च दशम्यां चोष्ठदेशतः ।
एकादश्यां गराडदेशे द्वादश्यां नयने तथा ॥
श्रवणे च त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां ललाटके ।
पौर्णमास्यां शिखायाञ्च ज्ञातव्यं च इति क्रमात ॥"

अर्थ— पाद, गुल्फ ( ऐंडी ) जंघा, भग, नाभि, कुच (स्तन) हृदय, कक्षा ( बगल ) कराठ, ओष्ठ ( होंठ ) गराड ( कपोल ) नेत्र, कान, ललाट और शीर्षकेश ( सिरके बाल ) इन स्थानोंमें तिथियोंके क्रमसे कामका निवास रहता है सो पुरुषके दाहिने और स्त्रीके बायें अंगमें रहता है पर कृष्णपक्षमें पुरुषके तो दायें रहता है शुक्ल पक्षमें स्त्रीके बायें अंगमें पलटजाता है । जैसे कृष्णपक्षकी प्रतिपदामें कामदेव पुरुषके दाहिने पांवके अंगूठेमें रहता है तो वही कामदेव शुक्लपक्षमें स्त्रीके दायें और पुरुषके बायें होजाता है ।

यदि पुरुष और स्त्री दोनोंकी इच्छा सन्तान उत्पन्न करनेकी होवे तो जिस तिथिमें जिस अंगमें कामदेव निवास करता होवे उसे मुखसे परस्पर चुम्बन करना चाहिये अथवा संघर्षण करना चाहिये । ऐसा करनेसे कामदेव दम्पतिके शरीरमें प्रकट होता है । फिर गर्भाधानके मंत्रसे परस्पर काम-क्रीडा आरंभ करके शान्तिपूर्वक सुन्दर सन्तानका ध्यान करना चाहिये। ऐसा करनेसे सुन्दर, सुशील, धर्मात्मा, वीर और परम-तेजस्वी सन्ततिकी उत्पत्ति होती है ।

इसी प्रकारका प्रजननार्थ जो कामदेव है वही भगवत्की श्रेष्ठ विभूति है जिसके विषय श्यामसुन्दर कहते हैं, कि प्रजननके अर्थ जो काम सो मैं ही हूं ।

शंका— जब भगवान्ने ऐसा कहा, कि सन्तान उत्पन्न करनेवाला काम मैं ही हूं तो यदि अपनी धर्म्मपत्नीको छोड अन्य स्त्रीमें भी सन्तानका होना संभव होजावे तब तो उस परस्त्रीप्रसंगमें जो कामक्रीडा कीगयी वह उचित होगी और वह काम भी भगवत्का स्वरूप ही होगा और ऐसाही होना चाहिये।

समाधान— परस्त्रीमें जो कामक्रीडा है उस कामको भगवत्का स्वरूप नहीं कहसकते। क्योंकि परस्त्रीमें कामी कामसे विह्वलहोकर धर्म्मकी मर्य्यादा छोड केवल कामभोगके निमित्त जाता है प्रजननके अर्थ नहीं जाता है। अपनी स्त्रीमें भी केवल कामसुखके निमित्त जो काम है वह निन्दनीय है तब परस्त्रीमें केवल कामसुख निमित्त कामदेव क्यों नहीं निन्दित होगा? अवश्य होगा। अब रहा बच्चा उत्पन्न होजाना सो घुनाक्षरन्यायसे प्रकृतिकी प्रबलताके कारण होजाता है पर वह बच्चा भी वर्णसंकर कहाजाता है उसके उत्पन्न होनेसे पितरोंको नरकमें गिरना होता है सो भगवान्ने पहले अ० १ श्लो० ४१ में कहा है, कि 'संकरो नरकायैव....' वर्णसंकर नरककाही कारण है। क्योंकि पिण्डोदक क्रियाके लुप्त होजानेसे पितरोंके नरकका कारण होता है। इसलिये ऐसा 'प्रजनन' जिससे वर्णसंकर उत्पन्न हो निन्दित प्रजनन कहाजाता है और भगवानके कहनेका अभिप्राय धर्मयुक्त प्रजननसे है इसलिये निन्दित प्रजनन वाले कामको भगवान्का रूप नहीं कहसकते।

यदि व्यापकताकी अपेक्षासे कहो तब तो भगवान् विष और अमृत दोनोंमें अपनी लोकमहेश्वरता करके व्यापक है पर व्यवहारकी दृष्टिसे विष निन्दित है और अमृत प्रशंसनीय है।

विषका ग्रहण करना निषेध (पाप) है और अमृतका ग्रहण करना विधि ( पुण्य ) है जहां अविधि क्रिया होती है वहांसे भगवान् निन्दित प्रजनन होनेके कारण निःसंग होजाता है। क्योंकि कामकी प्रबलताके कारण प्राणीकी बुद्धि अपने ठिकाने नहीं रहती वह तो मदान्ध होकर नीच ऊंच सबोंका विचार छोडदेता है यहांतक, कि अपने शरीर तककी सुधि नहीं रहती। फिर जिसको अपने शरीर तकका अनुभव नहीं है, कि मैं क्या हूं ? मेरा कर्तव्य क्या है ? मैं जो इस घोर दुष्कर्ममें ग्रस्त होकर नरकका द्वार खटखटाने जारहा हूं सो क्या उस सर्वान्तर-यामीसे छुप सकता है इस प्रकार निन्दित और अनुचित कर्म करनेवा-लोंके लिये भगवान् कहते हैं, कि मैं सब कुछ जानताहुआ भी इनसे निःसंग होजाता हूं। इसलिये उस समयके कामको भगवान्का स्वरूप नहीं कहसकते। शंका मतकरो !

अब श्री नन्दनन्दन कहते हैं, कि " सर्पाणामस्मि वासुकिः " सर्पोंमें वासुकि जो नागोंका राजा है सो मैं ही हूं। यह वासुकी और तक्षक दोनों सुरसाके पुत्र हैं। ये दोनों सर्पोंके अधिपति हैं पर वासुकी विषधारणकी अपेक्षा तक्षकसे भी श्रेष्ठ है, अधिक विषैला है और तक्षकसे इसमें तामस भी अधिक है इसलिये यह सर्पोंमें श्रेष्ठ है जिस किसीको नागने डसा हो उसे इस मंत्रसे झाड फूंक करदेनेसे विष उतर जाता है पर झाडनेवाला कोई महात्मा, ब्रह्मचारी वा हरिभक्त होना चाहिये।

" आस्तीकस्य मुनेर्माता भगिनी वासुकेस्तथा।
जरत्कारमुनेः पत्नि नागमातर्नमोस्तु ते ॥"

तथा नाग पंचमीके दिन इसी मंत्रसे नागोंको दुग्ध और धानकी खील ( लावा ) देना चाहिये ॥ २८ ॥

लो और सुनो—

मू०— अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— नागानाम् ( सर्पजातिविशेषाणाम् । पन्नगानाम् ) अनन्तः ( शेषाख्यो नागाधिपतिः ) च, अहम्, अस्मि [ तथा ] यादसाम ( जलदेवतानाम् । जलचराणाम् ) वरुणः ( कश्यपस्य अदितिनाम्न्यां पत्न्यां जातः । जलदेवताविशेषः ) [ अस्मि ] च ( तथा ) पितॄणाम्, अर्यमा ( पितृविशेषः ) अस्मि, संयमताम् ( पुण्यपापफलदानेन सम्यङ्नियमनं कुर्वताम् ) यमः ( धर्म्मराजः ) अहम्, अस्मि ॥ २९ ॥

पदार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ( नागानाम् ) नागविशेष जो एक प्रकारकी सर्पजाति है उस जातिके सर्पोंमें ( अनन्तः, च ) शेषनाग भी ( अस्मि ) मैं ही हूं और ( यादसाम् ) जलचरोंमें अथवा जलचरोंके देवताओंमें ( वरुणः ) वरुणदेवता ( च ) तथा ( पितॄणाम ) पितरोंमें ( अर्य्यमा ) अर्य्यमा नामका पितृविशेष ( अस्मि ) मैं ही हूं तथा ( संयमताम् ) नियमपूर्वक पुण्य पापके फल देनेवालोंमें ( यमः ) धर्म्मराज ( अहम्, अस्मि ) मैं ही हूं ॥ २९ ॥

भावार्थः— अब भगवान् यादवकुलउजागर नटनागर श्रीकृष्णानन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [ **अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्** ] नागोंमें अनन्त जो शेषनाग सो मैं ही हूं और जलचरोंके देवताओंमें वरुण मैं ही हूं ।

प्रश्न— भगवान् पहले कह आये हैं, कि '**सर्पाणामस्मि वासुकिः**' सर्पोंमें वासुकी मैं ही हूं और अब कहते हैं, कि नागोंमें शेषनाग मैं ही हूं इससे शंका होती है, कि एकही सर्पको दो स्थानोंमें दो वार दो विभूतियों करके क्यों कहा ?

उत्तर—नाग और वासुकी दोजातिके सर्प हैं दोनों कश्यपसे ही उत्पन्नहैं इनमें नागकी गणना तो देवयोनिमें है और वासुकीकी गणना साधारण सर्पोंमें है और यह साधारण सर्पोंका अधिपति है । इसी कारण जब विषधरोंमें भगवान् अपनी विभूतिकी गणना करते हैं तो वासुकीका नाम लेते हैं क्योंकि इससे बढकर विषधर दूसरा कोई सर्प नहीं है । इस जातिका सर्प जिसे डसता है उसे मृत्युके मुखमें अवश्य जाना पडता है इसलिये विषकी अपेक्षा वासुकी कहकर भगवान्ने अपनी विभूतिकी श्रेष्ठता कही और नागकी गणना देवयोनियोंमें इसलिये है, कि उसका सम्पूर्ण आकार मानुषी शरीरका समान है केवल पुच्छमात्र सर्पाकार हैं इस जातिके सर्पोंमें जो सबोंका अधिपति शेषनाग है जिसे भगवान् अपना स्वरूप कहकर पुकारते हैं और जिसने अपने मस्तकपर ससागरा पृथ्वीका बोझ धारण कररखा है इसीकारण भगवानने अनन्तको सृष्टिधारणकी महिमाकी अपेक्षा गणना कराई । क्योंकि सृष्टिके धारणमें

दशों दिग्पाल वाराह और कच्छप भी हैं पर इनमें श्रेष्ठ अनन्त भगवान ही हैं।

मुख्य तात्पर्य भगवान्के कहनेका यह है, कि विषकी अपेक्षा लेकर मैं वासुकी हूं और महिमाकी अपेक्षा लेकर मैं शेषनाग ( अनन्त ) हूं।

इसी नाग जातिके सर्पोंमें एक काली है जिसके मस्तकपर भगवान्ने नृत्य किया था इसलिये उसके वंशको मारनेमें घोर पाप है सो लिखते हैं—

" तद्वंशजातान् सर्पांश्च हन्ति यो मानवाधमः।
ब्रह्महत्यासमं पापं भविता तस्य निश्चितम्॥
मत्पादपद्मचिह्ने यः करोति दण्डताडनम्।
द्विगुणं ब्रह्महत्याया भविता तस्य किल्विषम्॥
लक्ष्मीर्यास्यति तद्गेहात् शापं दत्वासुदारुणम्।
वंशायुर्यशसां हानिर्भवति तस्य निश्चितम्॥ "

( ब्रह्मवैव० श्रीकृष्णजन्म खं० अ० १९ ) अर्थ स्पष्ट है।

अब कहते हैं, कि " वरुणो यादसामहम् " यादस जो मत्स्य, कच्छप इत्यादि नाना प्रकारके जलचर हैं अथवा इन जलचरोंके जो अधिष्ठातृदेव हैं उन सबोंमें वरुण मैं ही हूं।

इसी वरुणदेवताकी पूजा और स्तुति करनेसे तथा मन्त्रोंके द्वारा इसकी आराधना इत्यादि करनेसे वृष्टि अवश्य होती है।

जब अवर्षण हो तो मनुष्योंको चाहिये, कि आगे लिखी विधिसे वरुण देवका जप इत्यादि करें।

" पुष्करावर्त्तकैर्मेघैः प्लावयन्तं वसुन्धराम् ।
विद्युद्गर्जितसन्नद्धं तोयात्मानं नमाम्यहम ॥
यस्य केशेषु जीमूतो नद्यः सर्वांगसन्धिषु ।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ "

इसको पढकर वरुणदेवका ध्यान करताहुआ वरुणदेवकी मानसिक पूजा करे फिर मूलमंत्रको जपे। तिसका विनियोग यह है—

" प्रजापतिर्ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दो वरुणो देवता एतावद्राष्ट्रमभिव्याप्य सुवृष्ट्यर्थं जपे विनियोगः । "

अथ वरुणमंत्रः— " ॐ वृष्टिरिहान्मव्यन्तरयो मरुताम्पृशतीं गच्छ वशापग्निर्हत्वा दिवं गच्छत ते नो वृष्टिमावह ।

इस मंत्रको एक हजार बार जपनेसे वृष्टि अवश्य होवे।

तथा नीचे लिखेहुए मंत्रको यदि नाभिमात्र जलमें प्रवेश करके जपे तो अनावृष्टि दूर होकर महावृष्टि अवश्य होवे।

कुर्च लक्ष्मी तथा माया तेन ' हुँ ' श्रीं ' ह्रीम् '

आठ हजार अथवा ३२ हजार जपे चाहे ६ हजार प्रतिदिन जपे। तीन दिनतक बराबर जपे तो चौथे दिन अवश्य वृष्टि होवे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब भगवान स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहते हैं, कि जलदेवताओंमें वरुण मैं ही हूं तो वरुणकी

आराधना करनेसे वृष्टि होनेमें क्या सन्देह है ? इसलिये निस्सन्देह जलकी इच्छावाले भगवान्के वरुणस्वरूपकी उपासना करें ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्** ] पितरोंमें अर्यमा नामका पितर मैं ही हूं और संयमन करनेवालोंमें यम मैं ही हूं । इस अर्यमाकी गणना द्वादश आदित्योंमें भी है पर जब आदित्योंमें गणना कीजाती है तब विष्णु नामके आदित्यकी श्रेष्ठता समझी जाती है । इसी कारण भगवान् पहले कहआये हैं, कि " आदित्यानामहं विष्णुः " पर जब पितरोंमें इनकी गणना होती है तब ये सब पितरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं ।

अब भगवान् इस श्लोकको समाप्त करते हुए कहते हैं, कि " **यमः संयमतामहम्** " संयमन करनेवालोंमें **यम** मैं ही हूं अर्थात् प्राणियोंके पुण्य पापके फल देनेमें **यम** जो धर्मराज सो मैं ही हूं । इस वचनसे सिद्ध होता है, कि प्राणियोंको सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग इत्यादि देनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं पर वे तो " यम " धर्म्मराजका स्वरूप धारण कर ऐसा करते हैं ।

फिर यम ( धर्मराजकी ) श्रेष्ठता १४ यमोंमें है जिनके नाम ये हैं ।

" **यमाय धर्म्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च ।**
**वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च ॥**
**औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने ।**
**वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः ॥** "

( अर्थ स्पष्ट है

मुख्य अभिप्राय यह है, कि पुण्य-पापका फल देते समय भगवान्‌को यम नामसे पुकारना चाहिये। तहां श्रुति भी कहती है, कि "ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च यमस्तस्मै वै नमो नमः"

( अथर्वशिर उ० श्रुति २ )

अर्थात् वह रुद्र भगवान् जो यमका स्वरूप है उसे बारंबार नमस्कार है ॥ २९ ॥

अब भगवान् कहते हैं—

मू०— प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३०

पदच्छेदः— दैत्यानाम् ( दितिवंश्यानाम ) प्रह्लादः ( प्रकर्षेणाह्लादयत्यानन्दयति परमसात्त्विकत्त्वेन सर्वानसौ हिरण्यकशिपोरात्मजः ) च, अस्मि, कलयताम् ( वशीकुर्वताम् गणयताम् वा ) कालः, अहम् [ अस्मि ] [ तथा ] मृगाणाम् ( पशूनाम्। वनचराणाम ) मृगेन्द्रः ( सिंहः ) च, अहम [ अस्मि ] पक्षिणाम, वैनतेयः ( गरुडः ) च [ अहमस्मि ] ॥ ३० ॥

पदार्थः— ( दैत्यानाम ) कश्यप और अदितिसे उत्पन्न जितने दैत्यमात्र हैं उनमें ( प्रह्लादः, च ) हिरण्यकश्यपका पुत्र प्रह्लाद भी ( अस्मि ) मैं ही हूं तथा ( कलयताम ) वशकरनेवालोंमें वा गणना कियेजानेवालोंमें ( कालः ) काल ( अहम् ) मैं ही हूं और ( मृगणाम ) इस संसारमें जितने पशुमात्र हैं विशेष कर जितने वनचारी हैं उनमें ( मृगेन्द्रः, च ) सिंह भी ( अहम् ) मैं

ही हूं और ( पक्षिणाम ) पक्षियोंमें ( वैनतेयः च ) गरुड भी मैं ही हूं ॥ ३० ॥

**भावार्थः—** अब भगवान् कहते हैं, कि [ **प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयातमहम्** ] दैत्योंमें प्रह्लाद भी मैं ही हूं और वश रखनेवाला कालभी मैं ही हूं । भगवान्के २४ अवतारोंमें प्रह्लादकी गणना है । यद्यपि प्रह्लाद दैत्यके पुत्र हुए पर परमभक्तोंमें इनकी गणना है । ये भक्तशिरोमणि कहे जाते हैं । इनका वृत्तान्त सर्वशास्त्र और लोकोंमें प्रसिद्ध है ।

यह प्रह्लाद पूर्वजन्ममें शिवशर्म्मा नाम ब्राह्मणके पुत्र सोमशर्म्मा नाम करके प्रसिद्ध थे। बडे धर्म्मात्मा, जिताहारी और योगी थे। पर शरीर-त्यागके समय अनायास किसी ओरसे बहुतेरे दैत्य और दानवोंका आगमन हुआ। इनके आस-पासके रहनेवाले ऋषि महर्षियोंने कोलाहल मचाया, कि वह देखो ! दैत्य आये !! दानव आये !!! इस कोलाहलको सुनकर इनको भय प्राप्त हुआ और उनही दैत्योंके ध्यानमें जो शरीरको परित्याग किया इस कारण इनको दैत्यकुलमें उत्पन्न होना पडा । पहले एकबार हिरण्यकश्यपकी पत्नी कमलाके गर्भसे ये प्रह्लाद नाम करके उत्पन्न हुए। पर देवासुरसंग्राममें साक्षात् विष्णुभगवान्के चक्रसे मारेगये । तब इनकी माता कमलाने बहुत शोक किया । इस अन्तरमें **नारदने** आकर कहा, कि महाभागे ! तू किसी प्रकारका शोक मत कर यह ÷ प्रह्लाद फिर तेरे गर्भसे

÷ जम्भासुरकी कन्या कयाधू ( कमला ) के गर्भसे चार लडके उत्पन्न हुए १. संह्लाद, २. अनुह्लाद, ३. प्रह्लाद ४. ह्लाद इन चारोंमें प्रह्लाद भगवान्का परमभक्त हुआ।

उत्पन्न होगा। मेरी इस वार्त्ताको तू गुप्तरूपसे हृदयमें धारण कर एवम् प्रकार नारदके वचनानुसार फिर कमलाके गर्भसे उसी प्रह्लादने जन्म लिया और पुनः उसका नाम प्रह्लाद ही हुआ। इस जन्ममें यह प्रह्लाद परमभगवद्भक्त हुए जिनको पिताने बहुत कष्ट दिया अन्तमें भगवान्‌ने नृसिंह अवतार धारणकर हिरण्यकश्यपको नखोंसे विदार इनका प्राण बचाया। ( पद्मपु० भूमिखं० अ० ५ )

दैत्योंमें यह प्रह्लाद भगवद्भक्त होनेके कारण भक्तशिरोमणि मानेगये भगवतके अवतारही कहेजाते हैं। इस कारण भगवान् यहां इस श्लोकमें कहते हैं, कि दैत्योंमें प्रह्लाद मैं ही हूं।

अब कहते हैं, कि " कालः कलयतामस्मि " वशकरनेवालोंमें अथवा गणना कियेजानेवालोंमें काल मैं ही हूं। अभिप्राय यह है, कि प्राणीमात्र कालके वश हैं कालसे किसीका वल कुछभी नहीं चलता। जब सीसपर काल आपहुंचता है तो अर्व खर्व द्रव्य व्यय करनेसे भी एक क्षणमात्र काल अवसर नहीं देसकता। सब राजा, रंक, योगी, तपी, जपी, संन्यासी कोई भी इस कालकी चपेटेसे नहीं वच सकता है। इसके बश होकर शरीर छोड ही देना पडता है। यह ब्रह्मादिसे लेकर कीट पर्य्यन्त सबको अपने वशमें रखता है। यह स्वयं तो आदि अन्तसे रहित है। इसका न कहीं आरंभ है और न इसकी कहीं समाप्ति है। यह तो अजर, अमर, अविनाशी है। क्योंकि कालका काल कहीं नहीं है इसी कारण यह काल साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। अतएव श्यामसुन्दर कहते हैं, कि वशकरनेवालोंमें

काल मैं ही हूं । फिर यों भी अर्थ करसक्ते हैं, कि यह जो पल, क्षण, मुहूर्त्त, घडी, दिवस, निशा, पक्ष, मास, सम्वत्सर इत्यादि बीत रहे हैं सो सब उसी आनन्दकन्दके स्वरूप हैं, उसीके अन्तर्गत हैं और ब्रह्मस्वरूप ही हैं । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि संख्या-वालोंमें भी काल मैं ही हूं अर्थात् समयकी जो संख्या कीजाती है सो मैं ही हूं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्** ] जितने पशुमात्र हैं उनमें मृगेन्द्र जो सिंह सो मैं ही हूं और पक्षियोंमें गरुड मैं ही हूं । यह मृगेन्द्र सब पशुओंका अधिपति है । विशेषकर जितने पशु वनमें विचरने वाले हैं उनका तो राजा ही है । सब इसके भयसे डरते हैं । इसके सम्मुख कोई पशु खडा नहीं रह सक्ता । जैसे नरोंमें नरेश भगवानका स्वरूप है ऐसे पशुओंमें यह सिंह पशुपति है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि पशुओंमें सिंह मैं ही हूं ।

पहले जो अश्वोंमें " उच्चैःश्रवा " और हस्तियोंमें ऐरावत कह आये हैं सो पशुओंके वेगकी अपेक्षा कहा है और अब बल और तेजकी अपेक्षासे अपनेको मृगेन्द्र कहा है । यहां किसी प्रकारकी शंका नहीं करनी चाहिये ।

अब कहते हैं, कि " **वैनतेयश्च पक्षिणाम्** " आकाशगामी पक्षियोंमें गरुड मैं ही हूं । क्योंकि यह गरुड सब पक्षियोंका राजा है, मेरा भक्त है, इसलिये मेरा ही स्वरूप है । यह कश्यपकी स्त्री

बिनताका पुत्र है और परम भागवत है। इसी कारण मेरा ही स्वरूप है।

जिस प्राणीको बडे वेगसे कोसों मार्ग चलनेकी इच्छा हो वह गरुडकी उपासना करसकता है ॥ ३० ॥

अब अपनी अन्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं, कि—

मू०—पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः— पवताम् ( पावयितॄणाम् वेगवताम्वा ) पवनः ( वायुः ) अस्मि, शस्त्रभृताम ( शस्त्रधारयितॄणाम् । युद्धकुशलानाम ) रामः ( दाशरथिः ) अहम् [ अस्मि ] च ( तथा ) झषाणाम् (+ पादिमत्स्यादीनाम् ) मकरः, ( नक्रः । ग्राहः । जलजन्तुविशेषः ) अस्मि [ तथा ] स्रोतसाम् ( नदीनाम ) जाह्नवी ( गंगा ) [ अहम ] अस्मि ॥ ३१ ॥

पदार्थः— ( पवताम् ) पवित्र करनेवालोंमें अथवा वेगपूर्वक एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेवालोंमें ( पवनः ) वायु ( अस्मि ) मैं हूं और ( शस्त्रभृताम ) शस्त्रधारियोंमें सर्वप्रकार कुशल ( रामः ) दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ( अहम ) मैं ही हूं ( झषाणाम् ) जलच-

+ कुंभीकूर्म्ममकराश्च गोधामकर " शंकरः । " धारिकः शिशुमारश्चेत्यादयः पादिनः स्मृताः । ( भावप्रकाशमें देखो )

रोंमें ( मकरः ) मगर ( च ) भी (अस्मि ) मैं ही हूं तथा ( स्रोतसाम ) नदियोंमें ( जाह्नवी ) गंगा ( अस्मि ) मैं ही हूं ॥ ३१ ॥

**भावार्थः**--- भक्तचित्तचोर नन्दकिशोर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [ **पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्** ] तीव्रगामी वायु मैं ही हूं और अस्त्रशस्त्र धारण करनेवालोंमें युद्धकला-कुशल श्रीरामचन्द्र मैं ही हूं । मीट्टी जल इत्यादि भी अशुद्ध वस्तुओंको पवित्र करनेवाले हैं पर सबोंमें अधिक पवित्र करनेवाला वायुदेव है । मिट्टी और जल केवल उनहीं वस्तुओंको पवित्र करने वाले हैं जो केवल पृथिवीसे लगे हैं । जैसे मनुष्य अथवा किसी प्राणीका शरीर नाना प्रकारके पात्र, वस्त्र, घर, द्वार इत्यादि । पर वायु देव इनसे इतर जो अशुद्ध परमाणु आकाशमें बहुत उंचाईपर पहुंच गया हो जहां मिट्टी वा जलको पहुंचानेकी सामर्थ नहीं है उसे भी पवित्र करदेता है । देखो! किसी प्रकार अशुद्ध और दुर्गन्धित वस्तुओंसे मिला हुआ धूम जो पृथ्वीसे ऊपर कुछ उंचाई तक आकाशमें पहुंचता है तो वहां उसके अशुद्ध परमाणु एकदम निकल जाते हैं वायु-देव उन परमाणुओंको उस धूमसे निकाल कर अलग पटक देता है । धूम शुद्ध और निर्म्मल होजाता है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि पवित्र करनेवालोंमें वायुदेव भी मैं ही हूं ।

दूसरा अर्थ यह है, कि '**पवताम्**' बडे वेगसे बहनेवालोंमें पवन मैं ही हूं सो सत्य है । क्योंकि पवनसे अधिक वल और वेग किसी अन्य वस्तुमें नहीं । इसके वलको देखना चाहिये, कि कभी-कभी जब पूर्णरूपसे इसका कोप होता है तो बडे-बडे दृढ वृक्षोंको जड़से

उखाड कर दूर फेंकदेता है। यहांतक इस पवनमें बल है, कि कभी-कभी पृथ्वीको हिलादेता है। जब कभी इसके वेगसे पृथ्वी क्षण-मात्रकेलिये भी हिलजाती है तब भूकम्प होपडता है। ऐसे भूकम्पोंको वायव्य भूकम्प कहते हैं। छौ प्रकारके भूकम्पोंमें वायव्य भूकम्प भी है जो वायुके कोपसे होता है इससे सिद्ध होता है, कि वायुसे अधिक बलवान् और वेगवान् अन्य कोई तत्त्व नहीं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि बलवान् और वेगवान् पदार्थोंमें पवन भी मैं ही हूं।

यह वायु वा पवन गणनामें ४९ हैं इनके नाम इस अध्यायके श्लो० २१ में वर्णन कियेगये हैं देखलेना।

फिर इन उनचासों पवनोंके सात अधिपति हैं " आवहः प्रवहश्चैव सम्वहो विवहस्तथा उद्वहो विवहो वायुः सप्त वाताः प्रकीर्त्तिताः। ( अर्थ स्पष्ट है )

अब भगवान कहते हैं, कि " रामः शस्त्रभृतामहम् " शस्त्र धारण करनेवालोंमें राम मैं ही हूं।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि मैंने ही स्वयम् श्रीदशरथनन्दनका साक्षात् अवतार लेकर महाबली अजित रावणको मारकर देवता ऋषियोंको दुःखसे छुडादिया। अर्थात् कृष्ण-रूपमें लीलापुरुषोत्तम और रामरूपमें मर्य्यादापुरुषोत्तमका अवतार धारण किया है। मेरे अन्य जितने अवतार हैं उनमें जिन-जिन अवतारोंमें मैंने शस्त्र धारण कररखा है जैसे इन्द्रका स्वरूप होकर वज्र, शिवस्वरूप होकर त्रिशूल, यमस्वरूप होकर पाश, विष्णु-स्वरूप होकर चक्र और गदा एवम् प्रकार अन्य जितने मेरे शस्त्रधारी

स्वरूप हैं उन सबोंमें श्रेष्ठ रामरूप धनुष बाण धारणकर युद्धकलामें परम प्रवीण मैं ही हूं। तात्पर्य्य यह है, कि अन्य शस्त्रधारी अवतारोंमें शस्त्रविद्यामें परम प्रवीण कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि अकेला जिसने धनुष बाणसे खरदूषण नाम राक्षसोंके १४०० कटकोंको संहार किया।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी** ] मत्स्योंमें मकर मैं ही हूं और नदियोंमें श्रीगंगाजी मैं ही हूं। अर्थात् मकरोंमें कुंभीर, कूर्म्म, नकर, गोधा, मकर, शंक, धणिडक और शिशुमार ये आठ प्रकारके पादी-मत्स्य ( पांववाले ) कहेजाते हैं इन सबोंमें मकर ( मगर ) मैं ही हूँ।

**प्रश्न**— तिमिंगल सब मत्स्योंमें विशेषतः प्रसिद्ध है सो भगवान्ने मत्स्योंमें अपनेको तिमिंगल क्यों नहीं कहा?

**उत्तर**— तिमिंगल पादी-मत्स्योंमें नहीं है। भगवान् पादी मत्स्योंकी गणनामें अपनेको **मकर** अर्थात् ग्राह कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि "**स्रोतसामस्मि जाह्नवी**" नदियोंमें श्रीगंगाजी मैं ही हूं। अभिप्राय यह है, कि जलकी गहराई पवित्रता, स्वच्छता, गुण, प्रवाहपूर्णता इत्यादि जिस अपेक्षासे देखो गंगासे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। इसके जलमें शीतलत्व, स्वादुत्व, स्वच्छत्व, अत्यन्त रुच्यत्व, पथ्यत्व, दीपत्व, प्रज्ञाधारित्वादि अनेकानेक विशेष गुण हैं। अन्य नदियोंके जलको यदि एक मास भी किसी पात्रमें मुख बन्द करके रखदोगे तो सड जावेगा। पिल्लू, कीडे, मच्छर, कीट उनमें पडजावेंगे पीनेमें स्वादरहित और विकारयुक्त होजावेगा पर गंगाजलको वर्षों किसी पात्रमें बन्द कर राखे वह ज्योंका त्यों गुणद

स्वादिष्ट तथा निर्मल बना रहेगा। किसी प्रकारके कीटादिका सम्बन्ध उसमें नहीं है।

दूसरी बात यह है, कि श्रीगंगाके तटमें इतने ऋषि महर्षियोंने तपस्या की है, कि उनके शुद्ध श्वासके परमाणुओंसे गंगाके दोनों किनारे शुद्ध और निर्म्मल होरहे हैं। आज भी जो कोई पुरुष गंगा तटमें जाकर जप, तप, योगादिका साधन करे तो उसकी क्रिया शीघ्र निर्विघ्न पूर्ण होजावेगी। स्वभाव कैसा भी तामसी हो सात्विक होजावेगा। कैसाभी कामी हो कामजित होजावेगा। दानधर्म्मनामक ग्रन्थमें लिखा है--

" अन्धाः क्लीवा जडा व्यंगाः पतिता रोगिणोऽन्त्यजाः।
गंगां संसेव्य पुरुषा देवैर्गच्छन्ति तुल्यताम्॥"

अर्थ— अंधा, हिजडा, मूर्ख, लँगडा, लूला, कूबडा, काणा इत्यादि पतित, रोगी तथा श्वपच, चर्मकार इत्यादि यदि गंगाका सेवन करें तो देवताके तुल्य दिव्य शरीरको पावें।

गंगाके स्मरणका फल— " गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् ध्यायन् जाग्रन् भुञ्जन् श्वशन् वदन्। यः स्मरेत् सततं गगां स च मुच्येत् बन्धनात् " (भविष्यपुराणमें देखो अर्थ स्पष्ट है)

फिरे दर्शनफल भविष्ये —

"दृष्ट्वा तु हरते पापं स्पृष्ट्वा तु त्रिदिवं नयेत्।
प्रसंगेनापि वा गंगा मोक्षदात्ववगाहिता॥
यत् फलं जायते पुंसां दर्शनात् परमात्मनः।
तद्भवेदेव गंगाया दर्शने भक्तिभावतः॥ (अर्थ स्पष्ट है)
यैः पुण्यवाहिनी गंगा सकृद्भक्त्यावगाहिता।

तेषां कुलानां लक्षन्तु भवात्तारयते शिवा ॥
अनेकजन्मसंभूतं पापं पुंसां प्रणश्यति ।
स्नानमात्रेण गंगाया सद्यः पुण्यस्य भाजनम् ॥
ये गच्छन्ति स्वतो गंगां परांश्च प्रेरयन्ति ये ।
इह ते सर्वयोगानामन्ते ज्ञानस्य भाजनम् ॥"

अर्थ— जिन प्राणियोंने एक बार भी भक्तिपूर्वक पुण्यवाहिनी गंगामें अवगाहन किया है उनके कुलके लाखों पुरुषोंको गंगा तार देती है। मनुष्योंके अनेक जन्मोंके पाप नाश होजाते हैं स्नानमात्रहीसे प्राणी पुण्यका पात्र होजाता है।

जो प्राणी गंगास्नानके निमित्त आप भी जाते हैं और दूसरोंको भी जानेके लिये प्रेरणा करते हैं वे इस लोकमें सर्वप्रकारके भोगोंको प्राप्तकर अन्तमें ज्ञानके पात्र होजाते हैं।

अग्निपुराणमें गंगाजीकी पूजाका फल यों लिखा है—

" गंगायां पूजिता यान्तु पूजिताः सर्वदेवताः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् अमरापगाम् ॥ "

( अर्थ स्पष्ट है )

फिर श्री गंगाजीके तटमें यज्ञादि करनेसे कोटिगुण अधिक फल होता है—

" यज्ञो दानं तथा जाप्यं श्राद्धं च सुरपूजनम् ।
गंगायां यत् कृतं सर्वं कोटिकोटि गुणंभवेत् ॥ "

( अर्थ स्पष्ट है )

कूर्म्मपुराणमें गंगातट देहावसान होनेका महत्त्व—

" गंगायां ज्ञानतो मृत्वा मुक्तिमाप्नोति मानवः ।
अज्ञानात् ब्रह्मलोकं च याति नास्त्यत्र संशयः ॥ "

अर्थ— गंगातटमें जो ज्ञानसे मरता है वह मुक्त होजाता है पर अज्ञानी भी गंगातटमें मरनेसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ।

इसी गंगाकी उत्पत्ति पुराणोंमें दो प्रकारसे प्रसिद्ध है—

प्रथम तो यह है, कि कपिलदेवके शापसे राजा सगरके साठ हजार पुत्र भस्म होगये थे उनके उद्धारके निमित्त श्रीमहाराज भगीरथ शिवकी जटासे गंगाको मांगकर लाये ।

दूसरी कथा यों है, कि जब राजा बलिको छल द्वारा उसके दान धर्म्मकी परिक्षा लेनेकेलिये भगवान्‌ने त्रिविक्रम अवतार लेकर पृथिवी और आकाश नापनेके लिये अपना चरण आकाश तक फैलाया तो आपका चरण ब्रह्माके कमंडलमें जालगा उसकी ठोकरसे कमंडलके फूट जानेपर जो कमंडलमें गंगा रहती थी वह पृथिवीमें आयी और कैलाश पर्वत पर शिवजीकी जटामें आसमायी अर्थात् सम्पूर्ण भूलोकको डूबतेहुए देख शिवजीने गंगाको समेट लिया । उसमेंसे एक बूंद भगीरथको दिया जिसे भारतवर्षमें वहा लाये और राजा सगरके साठ हजार पुत्रोंको तथा सम्पूर्ण पृथिवी-मंडलको पवित्र करदिया ।

जो हो भगवान् कहते हैं, कि उक्त सर्वप्रकारके गुणोंसे विशिष्ट होनेके कारण नदियोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ जो गंगा सो मैं ही हूं ।

बहुतेरे मनुष्य जो आधुनिक सम्प्रदायोंके अनुगामी हैं इन गंगा, यमुना इत्यादि तीर्थोंको नहीं मानते हैं और यह कहते हैं, कि वेदोंमें इनकी स्तुति नहीं है इसलिये वेदोंसे भी इनकी स्तुति दिखलायी जाती है ।

" ॐ इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रिस्तोमं स चता परुष्णया। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणु ह्यासुषोमया ॥"

( ऋग्वेद मं० १० सू० ७५ मं० ५ )

इस मंत्रमें सात प्रधान नदियोंकी स्तुति उनके तीनों अवयवोंकी स्तुतिके साथ करतेहुए कहते हैं कि हे गंगे! हे यमुने! हे सरस्वति! हे शुतुद्रि! हे परुष्णि! हे असिक्न्या! हे मरुद्वृधे! तुम सातों नदियां अपने अपने अवयव वितस्ता, आर्जिकी, सुषोमा और नदियोंके साथ मेरी स्तुतिको सम्यक् प्रकारसे सुनो ! । ॥ ३१ ॥

अब भगवान् अपनी दिव्य और सूक्ष्म विभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं—

**मू०—सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन ! ।**
**अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥**

**पदच्छेदः—** [ हे ] अर्जुन ! सर्गाणाम् ( सृष्टीनाम् ) आदिः ( उत्पत्तिः ) मध्यम ( स्थितिः ) च, अन्तः ( लयः ) च, अहम्, एव ( तथा ) विद्यानाम् ( चतुर्दशसंख्यानाम् विद्यानाम् ) अध्यात्मविद्या ( मोक्षहेतुरात्मतत्त्वविद्या ) प्रवदताम् ( वादिनाम ) वादः ( यथार्थबोधेच्छोर्वाक्यम् ) अहम्, [ अस्मि ] ॥ ३२ ॥

पदार्थः- ( अर्जुन ! ) हे अर्जुन ! ( सर्गाणाम ) जितनी सृष्टियां होती हैं उन सबोंकी ( आदिः ) उत्पत्ति फिर ( मध्यम्, च) स्थिति तथा ( अन्तः, च ) प्रलय ( अहम, एव ) निश्चय करके मैं ही हूं अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें, मध्यमें और अन्तमें मैं ही हूं तथा ( विद्यानाम् ) चौदह विद्याओंमें जो ( अध्यात्मविद्या ) मोक्षप्राप्ति-निमित्त आत्मतत्त्वका बोध करानेवाली विद्या है सो मैं ही हूं फिर (प्रवदताम्) परस्पर वाद विवाद करनेवालोंमें जो ( वादः ) यथार्थ सिद्धान्त सहित वाक्य सो ( अहम ) मैं ही ( अस्मि ) हूं अर्थात् जल्प, वितण्डा और वाद इन तीनोंमें वाद मैं ही हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपनी सूक्ष्मविभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [ सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन ! ] हे अर्जुन ! अनादिकालसे जो मैं सृष्टियोंको अपनी प्रकृति द्वारा रचता, पालता और संहार करता चला आता हूं इन सबोंका आरम्भ, मध्य और अन्त मैं ही हूं । अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होनेसे पहले फिर वर्त्तमान रहते, मध्यकालमें तथा नाश होजानेके समय भी मैं ही ज्यों का त्यों वर्त्तमान रहता हूं अर्थात् आदिमें तो ब्रह्मारूपसे मैं इनकी उत्पत्ति करता हूं और मध्यमें विष्णुरूपसे मैं इनका पालन करता हुआ अन्तमें शिवरूपसे इनका संहार करजाता हूं । क्योंकि इन सृष्टियोंका आरम्भ, मध्य और अन्तरूप मैं ही हूं ।

इतना कहकर भगवानने अपनी अलौकिक विभूतियोंको प्रकट कर दिखलाया और अर्जुनको निश्चय करा दिया, कि सृष्टिकी रचना,

पालन और संहार मैं अपनी प्रधान अलौकिक-शक्तिसे करता रहता हूं और सर्गाणाम् बहुवचन कहकर यह भी सूचित करादिया, कि यह मेरी सृष्टि जो वर्त्तमानमें रची हुई दीख पडती है कि जिसपर मेरी अन्य सब विभूतियां वर्त्तमान हैं यह एकही वार पहले पहल नहीं रचीगयी है वरु ऐसी २ अनगिनत सृष्टियां वारंवार उपजती और बिनशती रहती हैं। इसी कारण वेदमें भी ऐसाही लिखा है, कि '**धाता यथा पूर्वमकल्पयत्**' अर्थात् धाताने इस सृष्टिको जिस प्रकार पहले कल्पमें थी उसी प्रकार फिर रच दिया। तात्पर्य्य यह है, कि जब किसी नवीन सृष्टिके विषय कहना पडेगा तो ऐसा ही कहना होगा, कि जैसे पहले थी वैसीही फिर रचीगयी। इससे इन सृष्टियोंका अनेक होना सिद्ध है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [**अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्**] विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं हीहूं और शास्त्रार्थ करनेवालोंमें वाद मैं ही हूं अर्थात मुख्य जो चौदह विद्याएं हैं उनमें मोक्ष प्राप्त करानेवाली जो आत्मविद्या है सो मैं ही हूं। क्योंकि अन्य जितनी विद्याएं हैं सब इस लोकका साधन करानेवाली हैं पर केवल यही एक अध्यात्मविद्या है जो परलोककी सुधारनेवाली है। अन्य जितनी विद्याएं हैं सब शरीरमात्रके उद्धारनिमित्त हैं। केवल यह अध्यात्मविद्याही इस जीवको संसारबन्धनसे मुक्त करदेनेवाली है। क्योंकि इसको छोड अन्य किसीभी विद्यासे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों तापोंका नाश नहीं होसकता जिसे श्रुतियोंके प्रमाण द्वारा दिखलाते हैं।

सनत्कुमारने पूछा है, कि हे नारद ! तुमने कौन कौनसी विद्याएं पढी हैं ? उस समय नारदने चौदहों विद्याओंकी गणना कराई ( इन चौदहों विद्याओंका व्याख्यान अ० ४ श्लोक ३ में कर आये हैं देखलो ) अर्थात जिस समय इन विद्याओंकी गणना करातेहुए नारदने यों कहा है, कि " ॐ सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतꣳ ह्येव मे भगवदृश्येभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्" ( छां० उ० प्रपा० ७ खं० १ श्रु० ३ )

---

टिप्पणी— आध्यात्मिकम्— "आत्मानमधिकृत्यभवम् । तद्द्विविधं शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां निमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषादवि-शेषादर्शनिबन्धनम् " । ( सांख्यतत्त्वकौमुदी ) आत्मा करके जो होनेवाला दुःखविशेष है उसे आध्यात्मिक-ताप कहते हैं । सो दो प्रकारका है शारीरिक और मानसिक : वात, पित्त और कफ द्वारा रोगोंसे जो क्लेश उत्पन्न हो उसे शारीरिक ताप कहते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा इत्यादि करके जो दुःख उत्पन्न हो उसे मानसिक-ताप कहते हैं ।

आधिभौतिकम्— " मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् " मनुष्य ( चोर, डाकू ) सर्प व्याघ्रादि पशु अथवा काक, स्येन इत्यादि पक्षियोंके द्वारा जो क्लेश उत्पन्न हो उसे आधिभौतिकताप कहते हैं ।

आधिदैविकम्— 'यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम् ! यक्ष, राक्षस तथा ग्रहोंके द्वारा जो क्लेश उत्पन्न हो उसे आधिदैविकताप कहते हैं ।

अर्थ— नारद सनत्कुमारसे कहते हैं, कि हे भगवन्! मैं केवल मंत्रवेत्ता हूं अर्थात् वेदोंमें जो मंत्र हैं उनको ही जानता हूं आत्मवेत्ता नहीं हूं सो हे भगवन्! मैंने आपसरीखे आत्मवेत्ताओंसे सुना है, कि आत्माका जाननेवाला शोकसे तरजाता है सो हे भगवन्! इतनी विद्याओंको जानतेहुए भी मैं शोकमें मग्नहोरहा हूं सो तिस मुझको हे भगवन्! आप शोकसे पार करो! इतना सुनकर सनत्कुमारने कहा, कि हे नारद! जो कुछ तुमने अबतक अध्ययन किया है सो नाममात्र ही है।

इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि अध्यात्मविद्याको छोड अन्य कोई विद्या संसारसागरसे पार उतारनेवाली नहीं है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि सब विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि हरिकथा, भगवद्भजन, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग, निवृत्तिमार्ग, प्रेमकी स्थिति, उदास दशा, योगकी स्थिति, ध्यानकी स्थिति, विदेहदशा, आसन, मंत्र, लक्ष, मुद्रा, ध्वनि इत्यादिकी प्राप्ति इसी अध्यात्मविद्या द्वारा होती है और इसी अध्यात्मनिरूपण द्वारा प्राणी यशस्वी, कीर्त्तिमान्, बलवान्, लक्ष्मीवान्, कुलवान्, दयावान्, विद्वान् इत्यादि कहाजाता है। ऐसी ही विशिष्ट गुणावलियोंसे युक्त पुरुष भगवत्की प्राप्ति करता है।

अब भगवान् कहते हैं, कि "वादः प्रवदतामहम्" परस्पर शास्त्रार्थ करने वालोंमें वाद मैं ही हूं। अर्थात् जिस समय किसी विषयके निरूपण करनेके निमित्त दो पुरुष वाद करनेको बैठ जाते हैं तो

उनमें परस्पर बार्ता होते-होते तीन प्रकारके वाक्योंका प्रसंग चल पडता है— जल्प, वितराडा और वाद। सो इन तीनोंमें वाद श्रेष्ठ और उत्तम है। क्योंकि दोनों वादियोंमें जो एक अपने पक्षको निरूपण करता है और दूसरेको छलकर जाति और निग्रहस्थानसे दूषित करता है वह +जल्प कहलाता है। और जो दोनोंमें एक अपना पक्ष निरूपण करता है और दूसरा उसके पक्षको छल जाति, और निग्रह करके दूषित करता है और अपने पक्षको भी सिद्ध नहीं करसकता वह ×वितराडा कहलाता है। ये दोनों प्रकारकी बातें निरर्थक हैं। पर ❀वाद वह है जो गुरु-शिष्य अथवा अन्य कोई दो पुरुष वीतराग होकर शास्त्रानुसार सिद्धान्तवाक्योंका निरूपण करें।

इसी विषयपर गौतम कहते हैं, कि " **प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः** " ( गौतमन्यायसूत्रम् )

अर्थ— जल्प और वितराडासे रहित प्रमाण और तर्क द्वारा जो ऐसा सिद्ध वा असिद्ध कियाजावे, कि सिद्धान्तवचनोंके विरुद्ध न

---

**+ जल्पः**— यत्र द्वाभ्यामपि प्रमाणतर्कतश्च स्वपक्षः स्थाप्यते परपक्षं छलजातिनिग्रहस्थानैर्दूष्यते स जल्पः।

**× वितराडा**—यत्रत्वेकः स्वपक्षं स्थापयति अन्यस्तु छलजातिनिग्रहस्थानैस्तत्पक्षं दूषयति न तु स्वपक्षं स्थापयति सा वितराडानाम कथा।

**❀ वादः**— वीतरागयोः शिष्याचार्य्ययोरन्योन्यैर्वा तत्त्वनिरूपणफलः तथा परस्परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति।

होताहुआ प्रतिज्ञा, हेतु इत्यादि × पांचों अवयवोंसे युक्त वादी और प्रतिवादी दोनोंमेंसे किसी एकके पक्षको निश्चय करदे उसे वाद कहते हैं।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि शास्त्रार्थ करनेवालोंमें वाद मैं ही हूं ॥ ३२ ॥

लो और सुनो—

**मू०— अक्षराणामकारोस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥३३॥**

**पदच्छेदः**— अक्षराणाम् ( वर्णानाम् ) अकारः ( स्वराणां प्रधानस्वरः ) सामासिकस्य ( अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्व समाससमुदायस्य ) द्वन्द्वः ( उभयपदार्थप्रधानत्वसूचकः समासः ) च [ अस्मि ] अक्षयः ( अक्षीणः । क्षयवर्जितः ) कालः ( कालस्यापि कालः ईश्वरः । क्षणादिर्वा ) अहम्, एव [ तथा ] विश्वतोमुखः ( सर्वतोमुखः ) धाता ( कर्मफलप्रदः । ईश्वरः ) अहम् [ अस्मि ] ॥ ३३ ॥

**पदार्थः**— ( अक्षराणाम् ) वर्णमालाके सब अक्षरोंमें ( अकारः ) 'अ' अक्षर तथा ( सामासिकस्य ) अव्ययीभाव,

---

× वादके अन्तर्गत जो पांचों अवयव हैं वे ये हैं—

१. प्रतिज्ञा ( Proposition ) २. हेतु ( Logicalcreason ) ३. उदाहरण ( Insfances ) ४. उपनय ( The applicationwith special case ) ५. निगमन ( Conclusion ) ( देखो गौतमन्याय )

तत्पुरुषादि समासोंमें ( द्वन्द्वः च ) द्वन्द्व समास भी ( अस्मि ) मैं ही हूं फिर ( अक्षयः ) तीनों कालमें नहीं नाश होनेवाला जो ( कालः ) कालस्वरूप अर्थात् कालका भी काल ( अहम्, एव ) सो निश्चय करके मैं ही हूं फिर ( विश्वतोमुखः ) सब ओरसे सृष्टि-मात्रके प्राणियोंका ( धाता ) कर्मफल देनेवाला ईश्वर ( अहम् ) मैं ही हूं ॥ ३३ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपनी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म विभूतियों को जो केवल विद्वानों करके ग्राह्य हैं अर्थात् जिन तत्त्वोंको केवल साक्षर ही ग्रहण करसकते हैं और समझ सकते हैं उन तत्त्वोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ] अक्षरोंमें 'अ' अक्षर मैं ही हूं । अर्थात् शरीरधारियोंमें जैसे प्राण है ऐसे वर्णमालाके जितने अक्षर हैं सबोंका प्राण यह 'अ' अक्षर है । यदि अक्षरोंसे 'अ' निकाल दियाजावे तो किसी अक्षरका अकेला उच्चारण नहीं होसकता । व्याकरण शास्त्र में पाणिनि कहता है, कि " हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः " अर्थात् ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ इत्यादि अक्षरोंमें अकार मिला हुआ है । 'अकार' निकाल लेनेसे, य, व, र, इत्यादि स्वररहित अक्षरोंका मुखसे उच्चारण नहीं होसकता जबतक, कि इनके आगे वा पीछे कोई स्वर न लगाया जावे । उन स्वरोंका राजा अकार है । क्योंकि मुख खुलतेही पहले यही स्वर उच्चारण होता है । इसीको अधोमुख करनेसे 'इ' तथा इसे रोकनेके समय जब 'होंठ' समीप आते हैं तब 'उ' का उच्चारण होता है । अभिप्राय यह है, कि मुख खुलतेही सबसे

पहले यह एकमात्रिक अकार सम्मुख आता है पश्चात् 'इ' फिर 'उ' का उच्चारण होता है। मुख्य स्वर येही तीन हैं शेष इन्हींके दीर्घ, प्लुत, गुण और वृद्धि हैं यह व्याकरण जाननेवाले भली भांति जानते हैं। इसी कारण श्रुति भी कहती है, कि "अकारो वै सर्ववाक्" अर्थात् यह अकार ही सर्ववाक्योंका मूल कारण है।

फिर यह अकार सर्वदेवस्वरूप और सर्वशक्तिमय है। तहां शिव भगवान् पार्वतीसे कहते हैं, कि "शृणु तत्त्वमकारस्य अति गोप्यं वरानने। शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पंचकोणमयं सदा॥ पंचदेवमयं वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम्। निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमान्॥ बिन्दुतत्त्वमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणीम्"।

(कामधेनुतंत्रग्रन्थमें देखो)

अर्थ— शिव भगवान् कहते हैं, कि हे वरानने! अकारका तत्त्व सुनो! देखनेमें तो यह शरदृतुके पूर्णचन्द्रके समान प्रकाशमान है और इसमें पांच कोण हैं। मानों पांचों देवता इस अक्षरमें निवास करते हैं और तीनों गुणोंसे यह युक्त है। निर्गुणस्वरूप है और रज, सत्व और तम इन तीनों गुणोंसे मिश्रित भी है और स्वयं तो कैवल्य परमपदकी मूर्त्ति ही है। यदि इसके ऊपर विन्दु (अँ) रखदियाजावे तो स्वयं प्रकृतिका रूप ही बनजाता है। यह तो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि सम्पूर्ण सृष्टिमें प्रथम जितने जीवमात्र हैं सब माताके गर्भसे निकलते ही 'अँ अँ अँ अँ' उच्चारण करतेहुए रोते हैं, चीखते हैं, चिल्लाते हैं अर्थात् यह सब जीवोंकी प्रकृति है। इसी कारण शंकर भगवान इस (अँ) को प्रकृतिका स्वरूप मानते हैं।

दूसरी बात यह है, कि " अकारो नयते विश्वम् " इस माण्डूक्योपनिषद्की श्रुतिके प्रमाणसे यह अकार ही ॐकार प्रणवकी प्रथम मात्रा है जिसके उच्चारण होते ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होती है इसी कारण इसको प्रकृतिस्वरूप कहनेमें सन्देह नहीं है। अकार प्रणवकी प्रथम मात्रा है इसके विषय पूर्णप्रकार अ० ८ श्लोक १२ में कहआये हैं।

फिर इन प्रमाणोंसे सिद्ध है, कि अकार सब अक्षरोंका अधिपति है अर्थात् कारण है। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि वर्णों में अकार मैं ही हूं।

अब कहते हैं, कि " द्वन्द्वः सामासिकस्य च " सब समासोंमें द्वन्द्वसमास मैं ही हूं अर्थात् व्याकरण-शास्त्रसे यह सिद्ध कियाहुआ है, कि " समसनं पदयोः पदानां वा एकपदीकरणं समासः " ( संक्षिप्तसारव्याकरणम् ) अर्थात् दो पदोंको अथवा दोसे अधिक पदोंको एकसाथ मिलाकर एकपद करदेनेका नाम समास है। उस समासके ६ भेद हैं—

१. द्वन्द्व— जिसमें दोनों पद प्रधान हों। जैसे ' रामकृष्णौ ' कहनेसे बलराम और कृष्ण दोनोंकी प्रधानता समझीजाती है।

२. अव्ययीभाव— जिसमें केवल पूर्वपद प्रधान होवे। जैसे निर्मक्षिकम्, उपकुम्भम्, अधिस्त्रि, उपकृष्णम्, दुर्यवनम्, सचक्रम् इत्यादि इनमें पूर्वपद जो अव्यय वही प्रधान है।

३. तत्पुरुष— वह है जिसमें उत्तरपद अर्थात पिछला पद प्रधान होवे । जैसे 'राजपुरुषः' ।

४. बहुव्रीहि— वह है जिसमें समस्यमान पदोंसे इतर पद प्रधान होवे जैसे 'चित्रगुः' ।

इसी प्रकार ५. कर्मधारय और ६. द्विगुसमासको भी जानना अर्थात इनमें भी एक ही पदकी प्रधानता देखीजाती है । दोनों पदोंकी प्रधानता तो केवल द्वन्द्व समास ही में है इस कारण भगवान कहते हैं, कि समासोंमें मैं द्वन्द्व समास हूं ।

फिर दूसरा अर्थ इसका यों भी है, कि दो प्राणी चाहे वे दोनों विद्वान होंव, गुरु शिष्य हों, मन्त्रार्थ इत्यादि कथन करनेके निमित्त एक स्थानपर बैठजावें उसे भी समास कहते हैं और उन दोनोंने एकसाथ सत्संग करके जितने विषयोंका परस्पर निर्णय किया है उसे × सामासिक कहते हैं । तिन अर्थोंमें जो विशेष रहस्य निकलता है उसे द्वन्द्व कहते हैं । 'द्वन्द्वो रहस्यः' इस सूत्रका अर्थ यही है, कि द्वन्द्व रहस्यको कहते हैं इसलिये सामासिकोंमें मैं द्वन्द्व हूं अर्थात् परस्पर एकसंग बैठ अर्थनिर्णयकरनेवालोंमें रहस्य मैं हीहूं ।

× सामासिकम्— एकत्रासनं समासो विदुषां वा गुरुशिष्याणां वा मंत्रार्थकथनार्थं वा एकत्रावस्थानं तत्र विदितं अर्थजातं सामासिकम् । चातुरर्थिकष्ठक् "ठस्येकः" इतीगादेशः 'यस्येति च' इत्यलोपः द्वन्द्वो रहस्यः इति सूत्रे द्वन्द्वशब्दस्य रहस्यवाचित्वं शाब्दिकप्रसिद्धम् ।

अब आनन्दकन्द कहते हैं, कि [ अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ] अक्षयकाल और विश्वतोमुख धाता मैं ही हूं अर्थात् भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालोंमें कभी नहीं क्षय होनेवाला तथा सबको अपनेमें ग्रसनेवाला जो काल तिसका भी काल मैं ही हूं। तहां प्रमाण श्रु०— "ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालस्तस्मै वै नमोनमः" (नृसिंहपूर्वता० उ० ४ श्रु० २२)

अर्थ— वही रुद्र भगवान् जो कालस्वरूप है उसे बारम्बार नमस्कार है।

"कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः।
कालो हि भगवान्देवः स साक्षात्परमेश्वरः॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
काले देवा विनश्यन्ति, काले चासुरपन्नगाः।
नरेन्द्राः सर्वजीवश्च काले सर्वं विनश्यति॥"

अर्थ स्पष्ट है ( हारीत अ० ४ प्रथमस्थानमें देखो )

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे धनुर्धर! अक्षयकाल मैं ही हूं जो सबको उपजाकरे पालन करतेहुए संहार करजाता हूं।

फिर भगवान् कहते हैं, कि 'धाताऽहं विश्वतोमुखः' मैं ही सब ओर सर्वप्रकार सारी सृष्टिमात्रके जीवोंका उनके कर्मफलके अनुसार उनको धारण करनेवाला धाता हूं अर्थात् सब जीवमात्र मेरेही द्वारा

अपने कर्मफलोंको प्राप्तकर उनके अनुसार स्थिर रहते हैं । इस-लिये राजा, महाराजा अथवा कोई अन्य देव वा देवी जो जीवोंके कर्मफलोंके देनेवाले समझे जाते हैं उन सबोंमें श्रेष्ठ फल दाता मैं ही हूं ॥ ३३ ॥

अब भगवान् और भी अधिकसे अधिक सूक्ष्म विभूतियोंका वर्णन करते हैं—

मू०— मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

पदच्छेदः— अहम् ( वासुदेवः ) सर्वहरः ( प्रलयसंहार-कारी अथवा प्रलयकाले सर्वहरणात् सर्वहरः ) मृत्युः, च ( तथा ) भविष्यताम् ( भावि कल्याणानाम् । उत्कर्षप्राप्तियोग्यानाम् ) उद्भवः ( अभ्युदयः ) च [ अस्मि ] [ तथा ] नारीणाम् ( स्त्रीणाम ) कीर्तिः ( मृतस्य सुख्यातिः ) श्रीः ( लक्ष्मीः ) वाक् ( वाचा ) स्मृतिः ( अनुभवसंस्कारजन्यज्ञानम । उत्कण्ठापूर्वक स्मरणम् ) मेधा ( धारणाशक्तियुक्ता बुद्धिः ) धृतिः ( धैर्यम् ) क्षमा ( शांतिः ) च [ अहमस्मि ] ॥ ३४ ॥

पदार्थः— भगवान् कहते हैं, कि हे रणधीरे अर्जुन ! देख ! ( अहम् ) मैं जो वासुदेव सो ( सर्वहरः ) सब प्राणीमात्रको नाश करनेवाला ( मृत्युः, च ) कृतान्त भी मैं ही हुं फिर (भविष्यताम्)

आगे सर्वप्रकारके कल्याण वा उन्नतिकी प्राप्ति पानेवाले ( उद्भवः च ) प्राणियोंका अभ्युदय अर्थात् उच्च अवस्थाकी प्राप्ति भी मैं ही हूं। इसी प्रकार ( नारीणाम् ) स्त्रियोंमें ( कीर्त्तिः ) संसारमें मृत्यु के पश्चात् सुन्दर ख्याति ( श्रीः ) लक्ष्मी ( वाक् ) बोलनेकी वाणी ( स्मृतिः ) अनुभवसे उत्पन्न जो बोध फिर ( मेधा ) धारणाशक्ति वाली बुद्धि ( धृतिः ) आपत्तिके समय धैर्य अथवा सदाके लिये एक वस्तुमें दृढता ( क्षमा, च ) दोषोंका बदला नहीं लेनेवाली शांति भी मैं ही हूं ॥ ३४ ॥

**भावार्थः**— अब भगवान् अपनी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतर विभूतियोंका कथन करतेहुए कहते हैं, कि हे गुडाकेश ! देखो [ **मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्** ] सर्वनाश करनेवाला कृतान्त ( God of death ) भी मैं ही हूं और आगे होनेवालोंमें अभ्युदय मैं ही हूं। मृत्युको सर्वहर इसलिये कहा, कि अन्य चोर अथवा राजा इत्यादि जो प्राणियोंका हरण करते हैं वे केवल उसके धन, गृह इत्यादिका हरण करते हैं और मृत्यु तो एकवारगी सब वस्तुओंसे छुडादेती है इसलिये इस मृत्युको सर्वहर कहा। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि सम्पूर्ण विश्वमात्रकी रचना अर्थात् ब्रह्मासे लेकर कीट पर्य्यन्तको प्रलयकालमें हरलेने वाली जो मृत्यु सो मैं ही हूं। तहां नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्की श्रुति कहती है, कि " **ईश्वरग्रासस्तुरीयस्तुरीयः** " अभिप्राय यह है, कि साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर ही स्वयं प्रलयकालके समय चौदहों भुवन का संहार करजाता है तहां ब्रह्मादि देव जो जीवोंकी रचना, पालन और

संहार करनेवाले ईश्वरस्वरूप कहे जाते हैं उनकोभी ग्रसजाता है इसलिये श्रुतिने (ईश्वर तुरीयका भी तुरीय) है कहा अर्थात तुरीयकोभी ग्रस जानेवाला जो महातुरीय है सो वही महेश्वर है । इसी कारण सर्वहर कहाजाता है अतएव भगवान कहते हैं, कि ' सर्वहर ' मृत्युभी मैं ही हूं । प्रमाण श्रु०— ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमोनमः ॥ ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्चान्तकस्तस्मै वै नमोनमः (नृसिंहपू० ता० उप० ४ श्रु० २४२६)

( अर्थ स्पष्ट है )

अर्थात वह नृसिंह भगवान मृत्युकोभी मृत्यु है और सबोंका अन्तकभी है ।

अब कहते हैं, कि " उद्भवश्च भविष्यताम् " आगे होनेवालोंमें अभ्युदय मैं ही हूं । अर्थात प्राणियोंके प्रारब्धानुसार जो इस संसारमें आगे होनेवाली नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न दशाएं उपस्थित होजाती हैं और प्रायः ऐसा देखा जाता है, कि मनुष्य कभी ज्योतिष जाननेवाले, कभी केरल जाननेवाले, कभी सामुद्रिक जाननेवाले, कभी जादू जाननेवाले और कभी तांत्रिकोंके समीप जाकर अपनी कुण्डली, कपाल रेखा, हस्तरेखा, तिल, मस्से इत्यादि दिखलाकर अपनी आगे आनेवाली दशाओंको अर्थात् उन्नति और अवनतियोंको पूछा करते हैं इनहीं वार्त्ताओंको भविष्यत् कहते हैं । सो भगवान् कहते हैं, कि भविष्यत्में जो प्राणियोंका अभ्युदय होना अर्थात् सर्वप्रकार उसकी सम्पत्ति इत्यादि वृद्धि होकर बल, बुद्धि, पराक्रम इत्यादिकी उन्नति है सो मैं ही हूं ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [ **कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा** ] नारियोंमें कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति मेधा, धृति और क्षमा ये सातों विभूतियां मैं ही हूं अर्थात् ये सातों जो नारीस्वरूप हैं ये अन्य सब नारियोंमें श्रेष्ठ हैं। यद्यपि इनसे इतर अन्य भी बहुतसी मेरी विभूतियां नारीस्वरूप हैं पर सबोंमें ये ही सातों श्रेष्ठ हैं क्योंकि मनुष्योंका कल्याण केवल इनही सातोंसे अधिक होता है।

१. **कीर्तिः**— जो प्रथम विभूति है। मनुष्यको सदा सर्वकालमें स्तुतियोग्य बनाती है— "**यशः कीर्त्तिः प्रविभ्रष्टो जीवन्नपि नजीवति**" अर्थात् जिसका यश और जिसकी कीर्ति भ्रष्ट है वह प्राणी जीताहुआ भी मृतकके समान है। केवल यश और कीर्त्ति मनुष्योंको जीवनकालमें तथा परलोक होजानेके पश्चात् भी संसारमें प्रतिष्ठा देनेवाली है। किसी-किसीकी सम्मति यह है, कि "**जीवितः ख्यातिर्यशो मृतस्य ख्यातिः कीर्तिः**" जीवतेहुएकी जो सुन्दर ख्याति है उसका नाम यश है और मृतक होजानेके पीछे जो सुन्दर ख्याति है उसे कीर्ति कहते हैं। यश और कीर्त्तिमें इतना ही भेद बतलाते हैं।

२. **श्रीः**— लक्ष्मीको कहते हैं सो भगवान् कहते हैं, कि श्री मैं ही हूं सो सत्य है। क्योंकि भगवान् जब पूर्णरूपसे जिसके घरमें निवास करते हैं ऐसे भक्तके गृहमें लक्ष्मी तो स्वयं निवास करेहीगी। क्योंकि भगवान् लक्ष्मीपति कहलाते हैं। सो लक्ष्मी क्षीरसागरमें सदा निरन्तर भगवत्के चरणारविन्दोंकी सेवामें तत्पर रहती है। उनके चरणोंको क्षणमात्र भी त्याग नहीं करती है इसलिये जहां-जहां स्वयं

विष्णुभगवान् जावेंगे तहां-तहां लक्ष्मी अवश्य पहुंचेगी। इसलिये जो प्राणी भगवत्की भक्तिमें तत्पर रहता है अथवा पूर्वजन्ममें भगवच्चरणोंकी सेवा करचुका है उसके घरमें लक्ष्मी अवश्य पहुंच जाती है और जहां यह हरिप्रिया, लोकमाता, महामाया स्वयं कृपा करती है तहांकी शोभा कौन कहसकता है ? अन्य जितनी प्रकारकी विद्याएं हैं सब वहांही पहुंच जाती हैं। जहां यह हरिवल्लभा, शब्दमूला, वेदमाता विराजमान होती है तहां के घोडे हाथी, महल, अटारी, भूषण, बसनको, कौन कहे ? देवलोकसे चिन्तामणि तकके पहुंचजानेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं समझीजाती।

अब यह श्री (लक्ष्मी) कैसे पुरुषोंके घरमें जाती है ? सो लक्ष्मीचरित्र ग्रन्थमें लक्ष्मीसे स्वयं भगवान केशवने पूछा है—

श्रीभूत उवाच।

" मेरुपृष्ठे सुखासीनो लक्ष्मीं पृच्छति केशवः।
केनोपायेन देवि त्वं नृणां भवसि निश्चला। "

अर्थ— केशव लक्ष्मीसे मेरुपृष्ठपर बैठेहुए पूछते हैं, कि हे देवि ! तू किस उपायसे मनुष्यके घरमें स्थिर होकर निवास करती है।

श्रीरुवाच।

" शुक्लाः पारावता यत्र गृहिणी यत्र चोज्ज्वला।
अकलहा वसती यत्र तत्र कृष्ण वसाम्यहम् ॥
धान्यं सुवर्णसदृशं तण्डुला रजतोपमाः।
अन्नं चैवातुषं यत्र तत्र कृष्ण वसाम्यहम ॥

यः संविभागी प्रियवाक्यभाषी वृद्धोपसेवी प्रियदर्शनश्च ।
अल्पप्रलापी न च दीर्घसूत्री तस्मिन्सदाहं पुरुषे वसामि ॥
यो धर्मशीलो विजितेन्द्रियश्च विद्याविनीतो न परोपतापी ।
अगर्वितो यश्च जनानुरागी तस्मिन्सदाहं पुरुषे वसामि ।
चिरं स्नाति द्रुतं भुंक्ते पुष्पं प्राप्य न जिघ्रति ।
यो न पश्येत स्त्रियं नग्नां नियतं स च मे प्रियः ॥
त्यागः सत्यं च शौचं च यत्र एते महागुणाः ।
यः प्राप्नोति गुणानेतान् श्रद्धावान् स च मे प्रियः ॥
वसामि पद्मोत्पलशंखमध्ये वसामि चन्द्रे च महेश्वरे च ।
नारायणे चैव वसुन्धरायां वसामि नित्योत्सवमन्दिरेषु ॥
यथोपदिष्टा गुरुभक्तियुक्ता पत्युर्वचो नाक्रमते च नित्यम् ।
नित्यं च भुङ्क्ते पतिभुक्तशेषं तस्याः शरीरे नियतं वसामि ॥"
तुष्टा च धीरा प्रियवादिनी च सौभाग्ययुक्ता च सुशोभना च ।
लावण्ययुक्ता प्रियदर्शना च पतिव्रता या च वसामि तासु ।
श्यामा मृगाक्षी कृशमध्यभागा सुभ्रूःसुकेशी सुगतिः सुशीला
गम्भीरनाभिः समदन्तपंक्तिस्तस्याः शरीरे नियतं वसामि ।"

अर्थ— लक्ष्मी श्रीकृष्णचन्द्रसे कहती है, कि जहां श्वेत पारावत ( कबूतर ) रहते हैं, जहांकी गृहिणी ( स्त्री ) स्वच्छ निर्म्मल पवित्र रहती है और कलह नहीं करती है हे कृष्ण ! मैं वहांही वसती हूं ।

जहां सोनेके समान चमकते हुए गोधूम ( गेहूं ) अरहर इत्यादि अन्न तथा चांदीके समान दमकते हुए चावल और जितने

प्रकारके अन्न हैं सब बिना छिलके और भूसी इत्यादिके शुद्ध रूपसे रहते हैं हे कृष्ण! मैं वहांही निवास करती हूं। अभिप्राय यह है, कि जहां अन्न उत्तम रीतिसे स्वच्छ कर रखे जाते हैं तहां लक्ष्मी निवास करती है। जो पुरुष सविभागी है अर्थात् किसी वस्तुका विभाग भागवालोंमें उचित रीतिसे करदेता है अन्याय नहीं करता पक्षपात करके एकको अधिक एकको न्यून भाग नहीं देता फिर सदा सबसे प्रिय वचन बोलता है, वृद्धोंकी सेवा करता है और प्रिय दर्शन अर्थात सौम्यमूर्त्ति (सुन्दरस्वरूपवाला) है दीर्घसूत्री नहीं है अर्थात् आलस्य वश प्रत्येक कार्य्यके करनेमें अधिक विलम्ब नहीं करता है उस पुरुषके घरमें मैं सदा निवास करती हूं। जो धर्म्मशील है, इन्द्रियजित् है, विद्याविनयसे सम्पन्न है, परायेको दुःख देनेवाला नहीं है, घमंडी नहीं है और सब लोगोंसे सदा प्रेम रखता है उसी पुरुषके घरमें मैं सदा निवास करती हूं।

जो देरसे विधिपूर्वक पूर्णशौचके साथ स्नान करता है, शीघ्र भोजन करलेता है और पुष्प मिलनेपर झट नाकमें लगाकर सूंघता नहीं तथा जो स्त्रीको नंगी नहीं देखता वह पुरुष भी सदा मुझको प्रिय है।

जिस पुरुषमें विषयोंका त्याग, सत्य तथा शौच (पवित्रता) इत्यादि शुभगुण निवास करते हैं अर्थात जो श्रद्धावान् इन गुणोंको प्राप्त करता है वह सदा मुझको प्रिय है।

मैं सदा कमलपत्रमें, शंखमें, चन्द्रमें, महेश्वरमें, नारायणमें, पृथ्वीमें और उत्सवयुक्त मन्दिरोंमें निवास करती हूं। जैसा कि उपदेश

कियागया उसी प्रकार जो स्त्री गुरुभक्तिमें सदा तत्पर है और पतिके वचनका उल्लंघन नहीं करती है पतिके भोजन करलेने के पश्चात् उसका जूठन पाती है उस स्त्रीके शरीरमें मैं सदा निवास करती हूं।

तुष्टा जो सदा संतोषको प्राप्त रहती है, धीरा है, प्रिय वचन बोलनेवाली है, सौभाग्यवाली है, शोभायुक्त है, सुन्दरी है, प्रियदर्शन है, और पतिव्रता है उसके शरीरमें मैं सदा निवास करती हूं।

जो श्यामा है अर्थात् सर्वांगसुन्दरी है, पतली कटिवाली, सुन्दर भौंहेंवाली, सुन्दर केशवाली है, शुभ्र हंसके समान चलनेवाली है, सुशीला है, गंभीर नाभिवाली है तथा जिसके दांतोंकी पंक्ति सम है ऐसी स्त्रीके शरीरमें मैं सदा निवास करती हूं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस घरमें उपर्य्युक्त शुभगुणोंसे सम्पन्न पुरुष और स्त्री निवास करते हैं तहां हरिवल्लभा लक्ष्मी चारों चरणोंसे सदा निवास करती है।

इन गुणोंसे प्रतिकूल अशुभ गुण सम्पन्न पुरुष और स्त्री जहां रहते हैं तहांसे आयी हुई लक्ष्मीभी भागजाती है। विशेषकर जो पुरुष अधिक कामी है सदा परस्त्रीगामी है तहां तो लक्ष्मीका निवास तीन कालमें भी नहीं होसकता।

यह लक्ष्मी जहांसे रूठजाती है तहां चाहे वह पुरुष चौदहों विद्यानिधान क्यों न हो फिर उसे कोई भी नहीं पूछता उसकी सारी विद्या धूलमें मिली हुई समझो

जो प्राणी शुभगुणसम्पन्न हो, ब्रह्मचर्य्यसे रहता हो, सुन्दर शील स्वभाव वाला, सज्जन, और हरिभक्त हो वह यदि प्रारब्धानुसार लक्ष्मीसे हीन हो और लक्ष्मीपात्र हुआ चाहे तो नीचे लिखे मंत्रका पुरश्चरणकरे और दशमांश हवन करे फिर पूजाविधानसे लक्ष्मीकी पूजा करे।

पुरश्चरणका मंत्र यह है— ॐ ऐं महालक्ष्म्यै नमः" इस मंत्रको सातलक्ष गायत्रीमंत्रमें संपुट करके जपे। दश हजार पूरे होजानेपर एक आहुती नीचे लिखे मंत्रसे देवे तो संभव है, कि उसे लक्ष्मी अवश्य प्राप्त हो—

"ॐ कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा॥ आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥ यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविशानि स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथाऽपः प्रवतायन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्रमा भाहि प्रमा पद्यस्व। वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहैके च।"

३. वाक्— अब श्रीआनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनसे कहते हैं, कि 'वाक्' भी मैं ही हूं अर्थात् व्याख्यानदाताओंमें जो वाक्योंकी

स्फूर्त्ति होती है तथा कवियोंमें जो वचनरचनाकी विशेष शक्ति देखी जाती है सो मैं ही हूं ।

श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि नारियोंमें जैसे श्री ( लक्ष्मी ) मैं ही हूं इसी प्रकार वाक् ( सरस्वती ) भी मैं ही हूं फिर जहां लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक साथ निवास करती हों तहांकी शोभाको कौन वर्णन करसकता है । ?

जैसे लक्ष्मीके हाथमें संपूर्ण विश्वमात्रके विषय-सुखकी पूर्ण-शक्ति है इसी प्रकार सरस्वतीके हस्तगत संपूर्ण विश्वमात्रकी विद्याओं की प्राप्तिकी शक्ति है ।

अब अपने पाठकोंके कल्याण निमित्त मैं इस स्थानमें विश्वजय नामका सरस्वतीकवच वर्णन करता हूं जिसके सिद्ध करलेनेसे मनुष्य चौदहों विद्यानिधान होसकता है तथा जिस विद्याका अभ्यास करे उसकी पूर्ण सिद्धि और उस विद्यामें शीघ्र उत्तीर्ण होसकता है । पूर्वके बडे-बडे ऋषि महर्षिगण इसी कवचको सिद्ध करके विद्वान् होगये ।

" पठनाद्धारणाद्वाग्मी कवीन्द्रो वाल्मिकी मुनिः ।
स्वायंभुवो मनुश्चैव यद्धृत्वा सर्वपूजितः ॥
कणादो गौतमः कणवः पाणिनिः शाकटायनः ।
ग्रन्थं चकार यद्धृत्वा दक्षः कात्यायनः स्वयम् ॥
धृत्वा वेदविभागं च पुराणान्यखिलानि च ।
चकार लीलामात्रेण कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥ "

( ब्रह्मवै० प्रकृ० खं० अ० ४ श्लो ६६-६८ )

अर्थ— इस कवचके पढने और धारण करनेसें वाल्मीकि कवि-श्रेष्ठ होगये, स्वायंभुव मनु जगत्पूज्य होगये, कणाद, गौतम, पाणिनि, शाकटायन, कात्यायन, कृष्णद्वैपायन ( व्यास ) इत्यादि महर्षियोंने शास्त्रोंकी रचना करदी।

अब कवच लिखते हैं—

ॐ श्रीं ह्रीं सरस्वत्यै स्वाहा शिरो मे पातु सर्वतः।
ॐ श्रीं वाग्देवतायै स्वाहा भालं मे सर्वदाऽवतु।
ॐ सरस्वत्यै स्वाहेति श्रोत्रं पातु निरन्तरम्।
ॐ श्रीं ह्रीं भारत्यै स्वाहा नेत्रयुग्मं सदाऽवतु।
ॐ ह्रीं वाग्वादिन्यै स्वाहा नासां मे सर्वतोऽवतु।
ॐ ह्रीं विद्याधिष्ठातृदेव्यै स्वाहा श्रोत्रं सदाऽवतु।
ॐ श्रीं ह्रीं ब्राह्म्यै स्वाहेति दन्तपंक्तीः सदाऽवतु।
ॐ ऐमित्येकाक्षरो मंत्रो मम कण्ठं सदाऽवतु।
ॐ श्रीं ह्रीं पातु मे ग्रीवां स्कन्धं मे श्रीं सदाऽवतु।
ॐ श्रीं विद्याधिष्ठातृ देव्यै स्वाहा वक्षः सदाऽवतु।
ॐ ह्रीं विद्यास्वरूपायै स्वाहा मे पातुनाभिकाम्।
ॐ ह्रीं ह्रीं वाण्यै स्वाहेति ममपृष्ठं सदाऽवतु।
ॐ सर्ववर्णात्मिकायै पादयुग्मं सदाऽवतु।
ॐ रागाधिष्ठातृ देव्यै स्वाहा सर्वांगंमे सदाऽवतु।
ॐ सर्व कण्ठवासिन्यै स्वाहा प्राच्यां सदाऽवतु।
ॐ ह्रीं सर्वजिह्वाग्रवासिन्यै स्वाहाग्निदिशिरक्षतु।
ॐ ऐं ह्रीं श्रीं सरस्वत्यै बुधजनन्यै स्वाहा।

सततं मंत्रराजोऽयं दक्षिणे मां सदाऽवतु।
ॐ ह्रीं श्रीं त्र्यक्षरो मंत्रो नैर्ऋत्यां सर्वदाऽवतु।
ॐ कविजिह्वाग्रवासिन्यै स्वाहा मां वारुणेऽवतु।
ॐ सदम्बिकायै स्वाहा वायव्ये मां सदाऽवतु।
ॐ गद्यपद्य वासिन्यै स्वाहा मामुत्तरेवतु।
ॐ सर्वशास्त्रवासिन्यै स्वाहैशान्यां सदाऽवतु।
ॐ ह्रीं सर्वपूजितायै स्वाहाचोर्ध्वं सदाऽवतु।
ॐ ऐं ह्रीं पुस्तकवासिन्यै स्वाहाऽधो मां सदाऽवतु।
ॐ ग्रन्थवीजस्वरूपायै स्वाहा मां सर्वतोऽवतु।

इसको पांच लाख बार जप करनेसे वृहस्पतिके तुल्य वाक्य रचना में समर्थ होजावे तथा दशमांश हवन भी करे। ( ब्रह्मवै० प्र० खं० अ० ४ श्लोक ७३, ८५ )

इस सरस्वती देवीकी स्तुति ऋग्वेदने यों की है—

"यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवेकः"

अर्थ— हे सरस्वति तू अपने शरीरमें वर्त्तमान उस स्तनको इस समय हमारे पानके लिये कर जोकि संसारके विद्वान्‌रूप बच्चोंके लिये अलौकिक वैदिकरूप क्षीरको पिलाने वाला है। तथा ( मयोभूः ) रसास्वादियोंको सुखानुभव करानेवाला है ( रत्नधाः ) बहुत तरहके रत्नोंका धारण करनेवाला है ( वसुवित ) धनोंका धारण करनेवाला वा ज्ञाता है ( सुदत्तः ) कल्याणका देनेवाला है तथा ( येन विश्वा

वार्याणि पुष्यसि ) जिस रतनसे समस्त वार्योंको अर्थात् अभिमतरूप धनोंको पुष्ट करती है ।

४. स्मृतिः— भगवान् कहते हैं, कि स्मृतिभी मैं ही हूं अर्थात् स्मरण रखनेवाली शक्ति जिससे प्राणी भूतकालकी वीती हुई वार्त्ताओंको स्मरण रखता है सो मैं ही हूं यह भी सर्वशक्तियोंमें एक प्रवल शक्ति है । जिस किसी पुरुषमें यह प्रवल शक्ति रहती है उसका शास्त्रार्थमें पराजय नहीं होसकता ।

न्यायशास्त्रवालोंने बुद्धिके दो भेद माने हैं । स्मृति और अनुभूति । जिस पुरुषको स्मृतिसत्ता प्रवल करनेकी इच्छा हो वह कुछ दिन +ब्राह्मीघृतका सेवन करे तो यह सत्ता अवश्य प्रवल होजावेगी।

इस स्मृतिसत्ताकी प्रवलतासे मनुष्योंका अत्यन्त कल्याण और शुभ होता है।

५. मेधा— अर्थात् धारणाशक्तियुक्त जो बुद्धि है सो भगवान् कहते हैं, कि मैं ही हूं यह बुद्धिका एक विशेष गुण है । शंखपुष्पीके सेवन करनेसे यह शक्ति बढती है।

" शंखपुष्पी—मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्य क्षीरेण यष्टी मधुकस्य चूर्णम । रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शंख पुष्प्याः । आयुः प्रदान्यामयनाशनानिवलानि वर्णस्वरव-

+ब्राह्मीघृत— शंखपुष्पी वचा सोमा ब्राह्मी ब्रह्मसुवर्च्चला । अभया च गुडूची च अटरूषाकवाकुची ॥ एतैरक्षसमैर्भागैर्घृतं प्रस्थं विपाचयेत । कण्टकार्या रसं प्रस्थं बृहत्या च समन्वितम । एतद्ब्राह्मीघृतं नाम स्मृतिमेधाकरम्परम ॥ ( गारुडे अ० १९८ )

द्धनानि। सेव्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शंख-पुष्पी" । ( चरके चिकित्सास्थाने अ० १ )

छठीं धृति और सातवीं क्षमा इन दोनोंका वर्णन इसी अध्याय के श्लोक ४, ५ में होचुका है ।

श्रीगोलोकविहारी जगत्‌हितकारीने नारियोंमें ७ नारियोंको अर्थात् कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमाको अपनी श्रेष्ठ विभूतियोंमें वर्णन किया । ये विभूतियां जिस प्राणीके अंगमें निवास करती हों वह साक्षात् देवस्वरूप है और जीवन्मुक्त है ।

इसी कारण श्रीसच्चिदानन्द लक्ष्मीपतिने अपनेको इन सात शक्तियोंमें वर्णन किया । ये साधारण शक्तियां नहीं हैं वरु अद्भुत और अलौकिक शक्तियां हैं ॥ ३४ ॥

फिर कहते हैं—

मू०— बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः—साम्नाम् ( ऋगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणाम् ) बृहत्साम ×( ' त्वामिद्धि हवामहे ' इत्यस्यामृचिगीतिविशेषेण सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपम् अतिरात्रपृष्ठस्तोत्रम् ) तथा, छन्दसाम् ( नियताक्षरपादरूपच्छन्दोविशिष्टानामृचाम् ) गायत्री, अहम् [ अस्मि ]

× ऋग्वेद मं० ६ सू० ४६ का प्रथम मन्त्र "त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः" ( इस मंत्रसे आरम्भ है )

मासानाम, मार्गशीर्षः ( आग्रहायणमासः ) ऋतूनाम् ( हिमादिषरणां ऋतूनाम ) कुसुमाकरः ( वसन्तः ) अहम [ अस्मि ] ॥३५॥

**पदार्थ:—** ( साम्नाम ) ऋचाओंके अक्षरोंसे युक्त जो विशेष गीतियां सामवेदमें हैं उनमेंसे ( वृहत्साम ) सबसे श्रेष्ठ और वृहत गीति जो "त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य....''ऋचासे आरम्भ होता है जिसमें मेरे सर्वेश्वरत्वको इन्द्र नाम करके स्तुति की है और जिसे वृहत्साम कहते हैं सो ( अहम् ) मैं ही हूं और ( छन्दसाम ) अनुष्टुप् इत्यादि छन्दोंमें ( गायत्री ) गायत्री छन्द मैं ही हूं इसी प्रकार ( मासानाम् ) बारह महीनोंमें ( मार्गशीर्षः ) अगहनका महीना और ( ऋतूनाम ) हेमन्त इत्यादि छवों ऋतुओंमें ( कुसुमाकरः ) 'ऋतुराज' वसन्त ऋतु मैं ही हूं ॥ ३५ ॥

**भावार्थः—** अब भगवान् कहते हैं, कि [ **वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्** ] सामवेदस्थ गीतियोंमें वृहत्साम मैं ही हूं और अनुष्टुप इत्यादि छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं ही हूं पहले भगवान् कह आये हैं, कि "वेदानाम् सामवेदोऽस्मि" अर्थात् वेदोंमें सामवेद मैं ही हूं अब उस सामवेदमें भी श्रेष्ठ वृहत्साम कहा। एवम प्रकार अरुन्धती-दर्शनन्यायसे चारों वेदोंमें वृहत्सामकी श्रेष्ठता दिखलायी। तात्पर्य्य यह है, कि जो पुरुष इस वृहत्सामके मंत्रोंसे भगवत्की स्तुति करता है और गानकी रीतिसे सब गीतियोंमें श्रेष्ठ इस वृहत्साम गीतिको पूर्ण सप्तस्वरोंमें शिक्षाकी रीतिसे गान करता है तो श्यामसुन्दर अवश्य उसके समीप विराजमान होकर इस *गीतिको श्रवण करतेहैं।

*गीतिः= ( गै-गाने- क्तिन ) गानम

सामवेदकी श्रेष्ठता पहलेभी दिखला चुके हैं। इस वेदकी सहस्र शाखायें हैं इसी कारण यह बहुत बडा है। क्योंकि ऋग्वेदकी २१ शाखा और यजुर्वेदकी एकसौ शाखा तथा अथर्वकी केवल ६ शाखाएं हैं।

फिर इस सामवेदका नाम ' साम ' क्यों है सो कहते हैं— सामः ( स्यति छिनत्ति दुःखं गेयत्वात् ) जिसके गान करनेसे दुःखका नाश होवे उसे साम कहते हैं। इसी कारण भगवान् इस वेदसे अधिक प्रसन्न होते हैं।

अब कहते हैं, कि छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं ही हूं अर्थात् अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगति, पंक्ति इत्यादि जो अनेक प्रकारके छन्द हैं जिनमें अक्षरोंकी संख्या तथा मात्राओंकी संख्यासे पदोंकी, मंत्रोंकी और ऋचाओंकी रचना होती है उसे छन्द कहते हैं उन सब छन्दोंमें गायत्री छन्द मैं ही हूं। क्योंकि गान करनेसे जो सर्वप्रकार रक्षा करे उसे कहिये गायत्री इसलिये यह छन्द सब छन्दोंमें श्रेष्ठ है। यह गानमात्रसे प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला है इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि छन्दोंमें गायत्री मैं ही हूं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः** ] बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष जो आग्रहायणका महिना है सो मैं ही हूं और ऋतुओंमें ऋतुराज मैं ही हूं।

उक्त अगहन मास सब मासोंमें उत्तम इसलिये मानाजाता है, कि इसमें शीत और उष्ण सम रहता है पश्चात् उष्णताकी न्यूनता और शीतलताकी वृद्धि इसी महीनेसे आरंभ होजाती है। इसी कारण यह मास अत्यन्त सुहावना रहता है।

दूसरी बात यह है, कि कार्त्तिक शुक्लपक्ष देवोत्थापिनी एकादशीको विष्णुभगवान् शयनसे जग पडते हैं फिर सब देव देवी उनके पूजन और दर्शनके निमित्त क्षीरसागरमें जापहुंचते हैं। महीने भर क्षीरसागरमें स्तुतिही स्तुति होतीहुई देख पडती है । इसी कारण यह मास बारहों महीनोंमें श्रेष्ठ और पवित्र है ।

तीसरा कारण यह है, कि इसी मासमें सम्पूर्ण पृथिवीमंडलके मनुष्य तथा पशुपक्षियोंके जीवनको लौकिक और पारलौकिक कार्य्योंके सम्पादनका मूल संचय होता है । वह यों है, कि संपूर्ण पृथिवीमंडलके उच्चसे उच्च पर्वत हिमसे भरजाते हैं अर्थात आकाशसे उनपर हिमकी वर्षा होकर इतनी जमावट होजाती है, कि जिससे पर्वतोंके भिन्न-भिन्न छिद्रों द्वारा अनगिनत धाराएं निकल पडती हैं जिनके द्वारा पृथिवीभरके कृषि इत्यादिकी वृद्धि होती है और सर्वप्रकारके अन्न उत्पन्न होते हैं जो सब जीवोंके जीवनके कारण हैं । यदि पर्वतोंके ऊपर हिमका संचय न हो और छिद्र होकर जल नदियोंमें न आवे तो जितना जल उन नदियोंमें पहलेसे है उन सबोंके समुद्रमें गिरजानेके पश्चात् सब नदियां शुष्क होजावें और जलका कहीं नामभी नहीं रह जावे । फिर तो सारे पृथिवीमंडलमें हाहाकार मचजावे, जीव जन्तु सब भूखे रहजावें और धर्म्मकी भी बहुत बडी हानि हो । क्योंकि गंगा, यमुना, नर्मदा, सरस्वती, कावेरी, सिंधु इत्यादि नदियोंके दोनों किनारे ऐसे उत्तमोत्तम तीर्थोंके स्थान बनेहुए हैं जहां जाकर मनुष्य दर्शन, मज्जन और पान कर त्रिविध तापोंको मिटाते हैं और शुद्ध होकर भिन्न-भिन्न धर्म्मोंका सम्पादन करते हैं जिससे उनके पापोंका क्षय होकर बहुत बडा कल्याण

होता है इसलिये इन नदियोंके एक वारगी शुष्क होजानेसे तीर्थोंका भी अभाव होजावेगा। और गंगा यमुना इत्यादिके बीचकी उपजाऊ भूमिभी मरु भूमि हो जावेगी।

अब कहते हैं, कि " ऋतूनां कुसुमाकरः " छवों ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं ही हूं। क्योंकि यह वसन्त ऋतु ऐसी उत्तम ऋतु है जिसमें सर्वप्रकारकी वनस्पतियां हरी भरी लहलहातीहुई प्रफुल्लित होजाती हैं, उत्तम-उत्तम पुष्प और फल वृक्षोंमें लगजाते हैं। शिशिर ( पतझड ) ऋतुमें सब वृक्षोंकी पत्तियां सूखकर गिरजानेसे वृक्ष नंगे देख पडते हैं और सर्वत्र उजाडसा देख पडता है पर वसन्तके समागम होते ही वे सब वृक्ष नवपल्लवयुक्त होजाते हैं, नवीन पुष्पोंकी कलियां जहां तहां खिलखिलाकर हंस पडती हैं, कोयल, चातक, कीर इत्यादि पक्षीगण नवीन अमराइयोंपर बैठकर अपने मधुर स्वरोंसे पथिकोंको क्षणभरके लिये अवश्य बिलमा लेते हैं, आठों याम शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुके प्रवाहसे प्राणियोंको अनुपम सुखका लाभ होता है, कामदेव अपना पुष्पबाण सुधारकर योगियोंके ब्रह्मचर्य्यकी परीक्षा लेनेको यात्रा करता है और अप्सराएं नन्दनवनसे गान करतीहुई तपस्वियोंके समीप आबैठती हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि वसन्त ऋतु अत्यन्त सुहावनी और सुखदायिनी है इसमें अधिक उष्णता वा अधिक शीतलताका नाम भी नहीं रहता इन्हीं कारणोंसे इसे ऋतुराज कहते हैं— " मधुश्च माधवश्च वासन्तिका ऋतुः " अर्थात् चैत्र और वैशाखके महीनोंको वसन्त ऋतु कहते हैं।

इस ऋतुमें क्या क्या शोभा होती है ? सो फिर सुनलो—

"द्रुमाः सुपुष्पाः सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः, सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥
मुदितकोकिलकूजितकाननं, मदनसूचककिंशुकशोभितम् ।
कुसुमसौरभरंजितभूधरम्, कलितमत्तमधुव्रतलालसम् ॥

( अर्थ स्पष्ट है )

"वसन्ते ब्राह्मणमुपानीयात । वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्ते ज्योतिषा यजेत । तद्वै वसन्त एवारभेत् । वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः" । इत्यादि वचनोंसे वसन्तकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है ।

ऐसी शोभा अन्य किसी ऋतुमें नहीं होती इसी कारण माधव-भगवान् कहते हैं, कि ऋतुओंमें माधव मैं ही हूं ॥ ३५ ॥

लो और सुनो—

मू०—द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥
॥ ३६ ॥

पदच्छेदः— अहम् ( वासुदेवः ) छलयताम् ( परवञ्चन-कर्तॄणाम् ) द्यूतम् ( अक्षदेवनादिक्रिया । पाशकादिक्रिया वा ) तेजस्विनाम् ( अत्युग्रप्रभावानाम ) तेजः ( पराक्रमः । दीप्तिः ) अस्मि, जयः ( विजयः । जयनम ) अस्मि, व्यवसायः ( निश्चयात्मिकोद्यमः ) अस्मि [ तथा ] सत्त्ववताम ( सात्त्विकानाम )

सत्त्वम् ( धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यत्वलक्षणम् सत्त्वकार्य्यम् ) अहम् [ अस्मि ] ॥ ३६ ॥

**पदार्थः—** श्रीआनन्दकन्द कहते हैं, कि ( छलयताम् ) छलकरनेवालोंमें ( द्यूतम् ) जूआ और ( तेजस्विनाम् ) तेजस्वियोंमें ( तेजः ) पराक्रम ( अहमस्मि ) मैं ही हूं तथा युद्ध करनेवालोंमें ( जयः ) विजय फिर ( व्यवसायः ) है वह श्रेष्ठ और स्थिर व्यवहार ( अस्मि ) मैं ही हूं तथा ( सत्त्ववताम् ) सात्विक पुरुषोंमें जो ( सत्त्वम् ) धर्म, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि सत्त्वगुणके लक्षण हैं सो भी ( अहम ) [ अस्मि ] मैं ही हूं ॥ ३६ ॥

**भावार्थः—** अब श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं, कि [ **द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्** ] छल करनेवालोंमें जूआ और तेजस्वियोंमें तेज मैं ही हूं अर्थात् जिन व्यवहार और प्रपंचोंके द्वारा प्राणी परायेको ठगलेता है उनमें द्यूत अर्थात् जूआ मैं ही हूं। क्योंकि अन्य जितने उपाय एक दूसरेको धोखेमें डालकर ठगलेनेके हैं उन सब उपायोंमें जो पाशा अथवा कौडी फेंककर आंखोंके सामने सर्वस्व पर्य्यन्त हरलेनेकी शक्ति है वह केवल इसी द्यूत ( जूआ ) में है। अन्य किसी उपायसे जो प्राणी ठगा जाता है तो उसमें यथार्थभेदसे अज्ञान रहता है तो इस अज्ञानताके कारण धोखेमें आकर ठग जाता है पर इस द्यूतमें तो जानबूझकर ठगाजाना स्वीकार करके अपनी इच्छासे ठगाजाता है चाहे वह अपने सारे सर्वस्वसे क्योंन हाथ धो बैठे पर ठगनेवालेको ठग नहीं कहता। उसका ठगना

मानलेता है और सर्वस्व धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र सब ठगजाता है । इस कारण सर्वप्रकारसे छलकर ठगनेवाली क्रियाओंमें यह द्यूतक्रिया अत्यन्त प्रबला है इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि सब छलने वाली क्रियाओंमें द्यूत मैं ही हूं ।

शंका— भगवानने इस द्यूतको जो सर्वशास्त्रोंसे वर्जित है अपनी विभूतियोंमें क्यों गणना की ? द्यूतके विषय तो यहांतक लिखा है, कि "**द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा । तान् सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिंगिनः । द्यूतमेतत् पुराकल्पे स्टष्टं वैरकरं महत् । तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्** " ।

( मनु० अ० २ श्लो० २२४, २२७ )

अर्थ— मनु कहते हैं, कि राजाको चाहिये कि द्यूत ( जूआ ) * समाह्वय बटेर इत्यादिकी लडाई जो करे वा करावे उन सबोंको मारडाले फिर ऐसी दशामें भगवान्ने ' द्यूत ' की गणना अपनी विभूतियोंमें क्यों की ? अर्थात् अपनेको द्यूत क्यों कहा ? ।

समाधान— यहां शंकाका स्थान कुछ भी नहीं है । भगवान् तो यह नहीं कहते, कि मैं द्यूत हूं इसलिये तुम द्यूतक्रिया कियाकरो ठगो और ठगायाकरो, हारो और हराया करो वा किसीका सर्वस्व द्यूत करके

---

* द्यूत और समाह्वय— अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः । ( मनु० अ० ९ श्लोक २२३ )

अर्थ— जड वस्तु जैसे पाशा और कौडी इत्यादिसे जो खेलाजावे उसे द्यूत कहते हैं और जो चैतन्य अर्थात् मनुष्य वा पशु इत्यादि द्वारा खेलाजावे उसे समाह्वय कहते हैं । जैसे मल्लयुद्ध, हस्तियुद्ध, अश्वक्रीडा ( घुड़दौड ) कुक्कुटयुद्ध मेषयुद्ध इत्यादि ।

हरण करलिया करो ऐसा तो तात्पर्य भगवान्‌का नहीं है । भगवान् तो अपने विराट्स्वरूपके अन्तर्गत जो प्रधान सत्ताएँ हैं उनका वर्णन करते हैं। उनके विराट्स्वरूपमें विष और अमृत, विधि और निषेध, पाप और पुण्य, भला और बुरा, अन्धकार और प्रकाश, रचना और संहार, साधु और चोर, स्वर्ग और नरक, शीत और उष्ण, ब्राह्मण और चांडाल इत्यादि सब उत्तम और नीच वस्तु स्थित हैं । सो भगवान् पहले भी इसी अध्यायमें कहआये हैं, कि– " वसूनां पावकश्चास्मि " " आयुधानामहं वज्रम् " " सर्पाणामस्मि वासुकिः " " मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम् " "मृत्युः सर्वहरश्चाऽस्मि" अर्थात् पावक, वासुकी, सिंह और मृत्यु ये सब मैंही हूं। अब विचारना चाहिये, कि क्या पावक कहने से भगवान्‌का तात्पर्य यही है, कि मैं सबोंको भस्म कियाकरता हूं ? मैं पावक हूं इसलिये तुम अग्निमें गिरकर भस्म होजाया करो । फिर आयुधोंमें जो अपनेको वज्र कहा क्या ऐसा कहनेसे भगवान्‌का तात्पर्य यही है, कि मैं वज्र हूं इसलिये तुम वज्रसे अपनेको मारलिया करो । सर्पोंमें मैं वासुकी हूं इसलिये सर्पसे अपनेको डसवालिया करो तथा पशुओंमें मैं सिंह हूं इसलिये तुम सिंहके मुखमें चलेजाया करो। मैं मृत्यु हूं इसलिये तुम विष खाकर मरजाया करो । बुद्धिमान् विचार करेंगे, कि भगवान्‌का इनमें एक भी तात्पर्य नहीं है। यद्यपि ये अग्नि, वज्र, सर्प, सिंह इत्यादि मनुष्योंकेलिये हानिकारक हैं पर भगवान्‌का तात्पर्य उस हानिसे नहीं है वरु सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जितनी वस्तु गुण और अवगुणसे मिलीहुई हैं उन दोनोंमें अपनी प्रधानता दिखलानेसे भगवान्‌का तात्पर्य है ।

अभिप्राय यह है, कि भगवानके स्वरूप सबही हैं पर जिनसे बचना है उनसे बचो दूरहीसे उनका स्वरूप जानकर मस्तक झुकाओ वे तुमको दुःखदायी नहीं होगे। यदि सिंह, सर्प इत्यादिको भी भगवत्स्वरूपही जानकर मस्तक झुकादोगे तो वे तुमको कभी भी दुःख नहीं देवेंगे।

इसी प्रकार भगवान्ने छलकी क्रियाओंमें द्यूतको प्रधानता दी और यह दिखलादिया, कि सर्प और सिंहके समान द्यूतको भी मेराही स्वरूप जानकर दूरहीसे नमस्कार करलो तो तुम कभी भी द्यूतके फन्दे नहीं पड़ोगे। शंका मत करो!

अब श्रीगोलोकविहारी कहते हैं, कि 'तेजस्तेजस्विनामहम्' तेजस्वियोंमें जो तेज सो मैं ही हूं अर्थात् जो प्रतापी पुरुष हैं उनमें जो प्रताप वा पराक्रमकी विशेषता है सो मैं ही हूं। वेद भी कहता है, कि "तेजोऽसि शुक्रमसि" (यजु० १—३१)

फिर भगवान् कहते हैं, कि परस्पर युद्धकरनेवालोंमें 'जय' मैं ही हूं और व्यवहार करनेवालोंमें निश्चय और स्थिरता पूर्वक जो सत्यव्यवहार जिसमें किसी प्रकारका छल, धोखा वा कपट-मिश्रित कार्य्य न हो सो मैं ही हूं तथा सात्त्विकोंमें सत्त्व मैं ही हूं। यहां भगवान्ने 'जयोऽस्मि' ऐसा कहकर अर्जुनको माना! इसी अपनी विभूतियोंके कथनके मिससे यह भी सूचित करादिया कि मैं जो 'जयस्वरूप' हूं सो तेरे रथपर बैठा हुआ हूं इसलिये तू जयका निश्चयकरके स्थिरतापूर्वक युद्ध कर तू अवश्य जय पावेगा

अब कहते हैं, कि " सत्त्वं सत्त्ववतामहम् " जो लोग सात्त्विक हैं उनमें सत्त्व मैं ही हूं। यहां भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि सत्त्वगुणके जितने लक्षण धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, शम, दमादि शास्त्रोंमें कथन कियेगये हैं उनमें सदा सत्त्व ही प्रधान है। क्योंकि सत्त्व नहीं होनेसे प्राणीके शरीरमें इन शुभगुणोंका प्रवेश होही नहीं सकता है और यह सिद्धान्त है, कि जिन पुरुषोंमें ये शुभगुण होते हैं उनके साथ सदा श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र विहार करते हैं और उनके आगे-पीछे डोलते रहते हैं। उनको कभी परित्याग नहीं करते। क्योंकि १. प्रसाद, २. हर्ष, ३. प्रीति, ४. असन्देह, ५. धृति और ६. स्मृति ये छवों शुभगुण जो सत्त्वके प्रधानगुण हैं वे उसी पुरुषमें पाये जाते हैं और ये छवोंगुण भगवान् हीके स्वरूप हैं इसलिये आनन्दकन्द कहते हैं, कि सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषोंमें सत्त्व मैं ही हूं ॥ ३६ ॥

लो और सुनो—

मू०—वृष्णीनां वासुदेवोस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

पदच्छेदः— अहम्, वृष्णीनाम् ( यादवानाम् ) वासुदेवः ( कृष्णः ) पाण्डवानाम् ( पाण्डुवंशोत्पन्नानाम् ) धनंजयः (अर्जुनः) मुनीनाम् ( मौनशीलानाम्। वेदार्थमननशीलानाम् ) अपि, व्यासः ( कृष्णद्वैपायनः ) कवीनाम् ( सकलपदार्थविदाम्। काव्यदर्शिनाम्) उशना कविः ( शुक्रः ) [ अहम् ] अस्मि ॥ ३७ ॥

**पदार्थः—** अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि ( वृष्णीनाम् ) यदुवंशियोंमें ( वासुदेवः ) कृष्ण ( पाण्डवानम् ) महाराज पाण्डुके वंशमें उत्पन्न पुरुषोंके मध्य ( धनञ्जयः ) अर्जुन और ( मुनीनाम् ) वेदार्थके मनन करनेवालोंमें ( व्यासः ) वेदव्यास तथा ( कवीनाम् ) सर्वविषय जाननेवाले और काव्यशास्त्र प्रवीण पुरुषोंमें ( उशना कविः ) शुक्र ( अहमस्मि ) मैं ही हूं ॥ ३७ ॥

**भावार्थः—** अब भगवान् महान् पुरुषोंमें अपनी श्रेष्ठ विभूतियोंको दिखलातेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [ **वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः**] वृष्णिवंशियोंमें अर्थात् यादवोंमें वासुदेव जो वसुदेवका पुत्र सो तेरे सामने उपदेश करता हुआ तेरी रथवानी करनेको उद्यत और उस युद्धकी विजय करनेमें तत्पर इस तेरे रथपर खडा हुआ कृष्ण मैं ही हूं और मेरा परम प्रिय सखा पांण्डवोंमें जो तू **अर्जुन** सो भी मैं ही हूं।

इतना कहकर भगवान्ने अर्जुनको अपने लीलापुरुषोत्तम अवतार होनेकी सूचनाकर सर्वप्रकार निर्भय करदिया। इस वाक्यके सुनतेही अर्जुनने अपने हृदयमें युद्ध करनेका निश्चय करलिया, कि जब साक्षात् सर्वजित भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सहायक हैं तो मैं अवश्य विजय पाऊँगा।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ **मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः** ] मुनियोंमें व्यासदेव और कवियोंमें शुक्र भी मैं ही हूं। अर्थात् सृष्टिमें जितने वेदार्थके मनन करनेवाले मुनि-

गया आजतक उत्पन्न हुए उनमें महाबुद्धिमान और महापण्डित कृष्ण-द्वैपायन जिन्हें वेदव्यास करके प्रसिद्ध करते हैं सो मैं ही हूं। इसी कारण व्यासदेवकी गणना २४ अवतारोंके अन्तर्गत भी है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि "कवीनामुशना कविः" कवियोंमें उशनाकवि जो ( शुक्र ) सो मैं ही हूं। यद्यपि यह शुक्र राक्षसोंके गुरु हैं तथापि सर्वशास्त्रवेत्ता हैं और काव्यशास्त्रके तो आचार्य्य ही हैं इसी कारण भगवान् इनको कवियोंमें श्रेष्ठ बताकर कहते हैं, कि शुक्र मैं ही हूं॥ ३७॥

अब भगवान् कहते हैं—

मू०— दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥
॥ ३८॥

**पदच्छेदः**—अहम्, दमयताम् ( दमनकर्तृणाम्। अदान्तानुत्पथान्पथिप्रवर्त्तयताम् राज्ञाम ) दण्डः ( राज्ञां चतुर्थोपायः। दुर्दन्तानां दमनकारणम्। अनुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुः ) अस्मि, जिगीषताम् ( जेतुमिच्छताम् ) नीतिः ( सामाद्युपायरूपा नीतिः। जयहेतुनीतिर्वा। जयोपायस्य प्रकाशिका नीतिर्वा ) अस्मि, गुह्यानाम् ( गोप्यानाम्। रहस्यानाम ) मौनम् ( शब्दप्रयोगराहित्यम वाचंयमत्वमुत्तमा वा चतुर्थाश्रमवृत्तिः वाचो निग्रहः ) एव, च [ तथा ] ज्ञानवताम् ( ज्ञानिनाम् ) ज्ञानम् ( श्रवणमननादि द्वारा परिपक्वसमाधिजन्यं सम्यक् स्वस्वरूपबोधः ) अस्मि॥ ३८॥

पदार्थ— ( दमयताम् ) कुपंथियोंके कुपथ निवारणार्थ दमन करनेवालोंमें ( दण्डः ) दण्ड जो राजनीतिका चौथा अंग है सो ( अस्मि ) मैं ही हूं। फिर ( जिगीषताम् ) जयकी इच्छा करनेवालोंमें ( नीतिः ) जयके उपायको सिद्ध करदेनेवाली समदमादि नीति ( अस्मि ) मैं ही हूं । फिर ( गुह्यानाम् ) गुप्त रहनेवालोंमें ( मौनम् च ) समयपर वचनका निग्रह करनेवाली मौनावस्था भी ( एव ) निश्चय करके मैं ही हूं तथा ( ज्ञानवताम् ) ज्ञानियोंमें ( ज्ञानम् ) ज्ञान ( अहम् ) मैं ही हूं ॥ ३८ ॥

भावार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ] दमन करनेवालोंमें दण्ड मैं ही हूं और जयकी इच्छा करनेवालोंमें यथार्थ नीति मैं ही हूं अर्थात् संसारमें राजा तथा अन्य न्यायकारियोंके जो न्यायके साम, दाम, दण्ड और विभेद ये चार अंग हैं उन चारोंमें दण्ड मैं ही हूं । क्योंकि राजनीतिके सब अंगोंमें यह दण्ड ऐसा प्रबल है जिसके भयसे कोई पुरुष कुपथको नहीं चलसकता । चोर, डाकू तथा अन्य प्रकारके दुष्कर्मोंसे प्रजाकी रक्षा करनेके लिये यह दण्ड उत्तम अंग है इससे सब छोटे बडे भय खाते हैं। केवल यह दण्ड ही ऐसा है, कि जिसके भयसे बकरी और व्याघ्र एक घाटमें पानी पीते हैं । यही दण्ड है जिसके द्वारा निर्भय होकर रात्रिके समय हाथोंमें सोनेका थाल उछालते जाइये कोई कुछ भी नहीं बोल सकता । फिर तिस दण्डके तीन भेद हैं— १. वधः २. अर्थसंग्रहणम्, ३. बन्धनताडनादिश्च । १. वधः (फांसी शूली इत्यादि द्वारा मारडालना ) अर्थसंग्रह अर्थात्

द्रव्यादि लेकर ताडना करना जिसे इन दिनों जुरमाना इत्यादिके नामसे पुकारते हैं। तीसरा वन्धन वा ताडन ( दण्ड देना ) जैसे कारागार ( जेल ) में भेजदेना अथवा वेतोंसे मारना।

अदण्डयोग्य पुरुषोंको दण्ड देनेमें दोष—

" अधर्म्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्ज्जयेत् ॥
अदण्ड्यान दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति " ॥

( मनु० अ० ८ श्लो० १२७, १२८ )

" दण्डो दमयतामस्मि " का अर्थ दूसरे प्रकारसे यों भी करसकते हैं, कि अपनी इन्द्रियोंके दमन करनेवाले जो योगी, यति वा सन्न्यासी हैं उनके पास जो दण्ड है सो मैं ही हूं। लकडी वा बांस इत्यादिके दण्डसे यहां तात्पर्य्य नहीं है। यहां दण्डका तात्पर्य्य कायादण्ड, मनोदण्ड और वागुदण्डसे है। त्रिदण्डी सन्न्यासियोंके मुख्य यही तीनों दण्ड हैं सो भगवान् कहते हैं, कि योगियोंमें सन्न्यासियोंमें कायादण्ड इत्यादि तीनों दण्ड मैं ही हूं।

अब कहते हैं, कि "नीतिरस्मि जिगीषताम् " जयकी इच्छा करनेवालोंमें यथार्थ नीति मैं ही हूं अर्थात् जो कोई नरेश यह चाहता है, कि मैं युद्धमें विजयी होऊं अथवा दो पुरुष किसी प्रकारके शस्त्र वा शास्त्रकी विद्यामें परस्पर एक दूसरेको जय किया चाहें तो उनमें धर्मपूर्वक जो यथार्थ नीति है सो मैं ही हूं। अभिप्राय यह है, कि जो अधर्म्मसे छल

करके जयकी प्राप्ति है वह यथार्थ जय नहीं कहा जासकता। इसी कारण भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि धर्म्मसंयुक्त जो यथार्थ नीति है सो मैं ही हूं।

अब कहते हैं, कि [ मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ] गुह्य तत्त्वोंमें मौन मैं ही हूं और ज्ञानियोंमें ज्ञान मैं ही हूं। अर्थात् यदि कोई प्राणी चाहे, कि उसके मनकी दशा गुप्त रहे अन्य कोई जानने न पावे तो वह अपने वचनोंका निग्रह करे अर्थात् अपने होठोंसे उसको प्रकट करनेवाली वार्त्ता किसी प्रकार उच्चारण न करे। इसी कारण बुद्धिमान् समयपर मौनी बनजाते हैं और ऐसा होना भी चाहिये। बोल उठनेसे बोलनेके गुण और दोष प्रकट होजाते हैं तथा सब लोग उसे जान लेते हैं मौन रहनेसे मूर्खभी सभामें बैठाहुआ विद्वानकी गणनामें होजाताहै।

यदि कहो, कि ऐसा करना एक प्रकारकी धूर्त्तता वा ठगी है सो ऐसा नहीं है। यदि ऐसा करके किसीको हानि पहुंचे वा किसीसे निरर्थक कुछ प्राप्ति करनेमें आवे तबतो अवश्य यह धूर्त्तता है पर अन्य किसीको कुछ हानि न पहुंचाकर केवल अपने मान, मर्य्यादा तथा धन सम्पत्ति इत्यादिको अथवा किसीके प्राणको बचाले तो ऐसा मौन उत्तम है। इसी प्रकारका मौन साधन करना श्रेष्ठ है। कहावत है, कि 'मौनं सर्वार्थसाधनम्' मौन रहनेसे सब अर्थोंका साधन होजाता है इसलिये भगवान्‌ने अपनेको मौन कहा।

अब कहते हैं, कि "ज्ञानं ज्ञानवतामहम्" ज्ञानियोंमें ज्ञान भी मैं ही हूं। ज्ञान साक्षात् भगवान्‌का स्वरूपही है यह सिद्धान्त है। इस ज्ञानका वर्णन १८वें अध्यायमें पूर्णरीतिसे किया जावेगा॥ ३८॥

अब भगवान् अपनी विभूतियोंकी समाप्ति करते हुए कहते हैं—

मू०— यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९

पदच्छेदः—[ हे ] अर्जुन ! यत, च, सर्वभूतानाम् ( विश्वचक्रोत्पन्नानाम ) बीजम् ( प्ररोहकारणम् ) तत्, अहम् ( सच्चिदानन्दस्वरूपः ) [ अस्मि ] मया विना ( मद्व्यतिरेकेण ) यत्, चराचरम् ( स्थावरं जंगमं वा ) भूतम्, स्यात् ( भवेत् ) तत्, न ( नैव ) अस्ति ( विद्यते ) ॥ ३९ ॥

पदार्थः— भगवान कहते हैं, कि ( अर्जुन ! ) हे अर्जुन ! ( यत् , च ) जो कुछ भी ( सर्वभूतानाम् ) इस संसारचक्रमें उत्पन्न हुए भूतमात्र हैं उनका ( बीजम् ) बीज अर्थात् प्रकट होनेका आदि कारण ( अहम् ) एक मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूं ( मया, बिना ) और मेरे विना ( यत् चराचरम् ) जो कुछ स्थावर जंगम ( भूतम् ) वस्तु ( स्यात् ) होवे ( तत् ) सो ( न, अस्ति ) नहीं है अर्थात् यदि कोई ऐसा कहे, कि ऐसी भी कोई वस्तु है जिसका कारण मैं न होऊं तो यों उत्तर देना चाहिये, कि ऐसी कोई भी वस्तु संसारमें नहीं है जो मेरे विना होवे ॥३९॥

भावार्थः— अब भगवान् अधिक विस्तारके भयसे इस श्लोक में अपनी संक्षिप्त विभूतियोंका उपसंहार करतेहुए कहते हैं, कि [ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ] हे अर्जुन !

जो कुछ भी सर्वभूतमात्रका बीज है अर्थात् इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक पर्यन्त जितनी रचनाएं कीगयी हैं उनमें जितने जड चैतन्य हैं अर्थात् देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी कीट, पतंग, नदी, नद, सागर, पर्वत, गिरि, वृक्ष, तृण, वेलि इत्यादि जो कुछ भी विराट् में हैं सबोंका बीज अर्थात् प्ररोहस्थान ( उत्पन्न होनेका कारण ) मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हूं ।

भगवान्ने अपनी ७५ विभूतियोंको कहकर यह विचारा, कि मेरी विभुतियोंका तो अन्त है ही नहीं फिर जितना मैं कहता चलाजाऊंगा अर्जुन सुनता और आनन्द होता चलाजावेगा और इस समय युद्ध सिरपर उपस्थित है इसलिये थोडेमें सर्वविभूतियोंका संकेत करदेना उचित है एवम्प्रकार विचार भगवान्ने कहा, कि इस संपूर्ण विश्वरूप वृक्षका बीज मैं ही हूं मुझसे विलग कुछ भी नहीं है । इसी कारण भगवान् इस आधे श्लोकमें स्पष्टरूपसे कहते हैं, कि [ न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ] विना मेरे यदि किसी वस्तुकी कहीं भी स्थिति कही जावे तो जानलो, कि वह वस्तु-तत्त्व है ही नहीं । उसकी स्थितिका कहनेवाला मिथ्या-वादी हैं और निश्चय जानलो, कि वह विना सिर पैरकी बातें करता है और ऐसे प्राणीका बकवाद करना वितण्डा ही समझा जावेगा ।

प्रिय पाठको ! आजकल बहुतेरे नवीन प्रकाशवाले जो नाना प्रकारकी अन्यदेशीय शिक्षा पाकर बुद्धिके अधिक होजानेसे अर्थात्

बुद्धिके अजीर्ण रोगसे ग्रस्त होकर नास्तिक होरहे हैं वे ही प्रायः ऐसी बातें बका करते हैं, कि ईश्वर इत्यादि इस सृष्टिका कहीं भी कोई कारण नहीं है। ईश्वर है ही नहीं जो कुछ है आपसे आप बनगया है। ऐसी बुद्धिवाले आजही उत्पन्न नहीं हुए वरु पहिले भी चारवाक् इत्यादि इसी प्रकारके नास्तिक होगये हैं सो भगवानके इस वचनसे चारवाक् इत्यादिका तथा आजकलके नवीन बुद्धिवालोंकी बुद्धिका खंडन होता है और यह सिद्ध होता है, कि सर्वत्र उसी महा प्रभुकी सत्ता फैल रही है। जहां देखो तहां उसीकी सत्तासे सर्वप्रकारकी वस्तु तत्तु तथा प्राणीमात्रकी स्थिति है वरु एक वार सब मिलकर यह बोलो, कि सारी सृष्टिही वही है उसमें और सृष्टिमें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। प्रमाण श्रुतिः— "सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति"

( बृहदा० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० ५ )

अर्थ— जब सृष्टिकर्त्ताने अपनी अनन्त विभूतियोंको फैलाकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रचनाकी कलाओंकी ओर अवलोकन किया तब ( अवेद् ) ऐसा जाना, कि ( अहं वाव सृष्टिरस्मि ) मैं ही सृष्टि हूं मैंनेही इस संपूर्ण सृष्टिकी रचना की है इसलिये मुझसे भिन्न कुछभी नहीं है। इस कारण भगवान् अर्जुनसे कहरहे हैं, कि मुझसे इतर वस्तुओंका अभाव जानो ! मुझसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

इस विषयको भगवान् बार-बार इस गीताके भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें कथन करआये हैं। इस कारण यहां फिर इसके विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब भगवान् ऐसा विचारकर, कि अर्जुन फिर मुझे अपनी विभूतियोंके कहनेकेलिये व्यग्र न करे इस अगले श्लोकको कहकर उसे सन्तुष्ट करदेते हैं । क्योंकि इस थोडेसे समयमें भगवान्को यह उपासनाकाण्ड समाप्त करके ज्ञानकाण्ड तथा भक्तिके स्वरूपको भी कहदेना अतिही आवश्यक है इसलिये कहते हैं—

**मू०— नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप !।**
**एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥**

**पदच्छेदः—** [ हे ] परन्तप ! ( उक्तविभूतिपरिचिन्तनेन परान् रागद्वेषादीन् शत्रूंस्तापयतीति संबोधनाशयः ) मम, दिव्यानाम् ( दिव्यगुणविशिष्टानाम् ) विभूतीनाम् ( ऐश्वर्य्याणाम् ) अन्तः ( समाप्तिः ) न ( नैव ) अस्ति ( विद्यते ) तु, एषः + विभूतेः ( ऐश्वर्य्यस्य ) विस्तरः ( विस्तारः । समूहः ) उद्देशतः ( एकदेशेन । संक्षेपतः ) मया प्रोक्तः ( कथितः । प्रकर्षेणोक्तः ) ॥ ४० ॥

**पदार्थः—** ( परन्तप ! ) हे रागद्वेषादि शत्रुओंका नाश करनेवाला अर्जुन ! ( मम, दिव्यानाम् ) मेरे दिव्य अर्थात् अलौकिक ( विभूतीनाम् ) ऐश्वर्य्योंका ( अन्तः ) अन्त ( न, अस्ति ) नहीं है ( तु ) इसी कारण ( एषः ) यह ( विभूतेः ) ऐश्वर्य्योंका ( विस्तरः ) विस्तार ( उद्देशतः ) एकदेशिक करके अर्थात् संक्षिप्त करके ( मया ) मुझसे ( प्रोक्तः ) कथन कियागया ॥ ४० ॥

+ परात्परतरं तत्त्वं परं ब्रह्मैकमव्ययम् । नित्यानन्दं स्वयं ज्योतिरक्षयं तमसः परम् ॥
ऐश्वर्यं तस्य यन्नित्यं विभूतिरिति गीयते । ( कौर्म्मपु० अ० १ )

भावार्थः— अब सकलदुःखभंजन भक्तजनमनरंजन भगवान् कहते हैं, कि [ **नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप !** ] हे परन्तप ! ( अर्जुन ! ) मेरे दिव्य ऐश्वर्य्योंका कहीं भी अन्त नहीं है। वर्षाकालमें वर्षाकी बूंदोंका प्रमाणकरले तो करले पर हे परन्तप ! तू निश्चय जान, कि मेरी विभूतियोंका कोई भी अन्त नहीं पासकता । ब्रह्मादि देव भी मेरी विभूतियोंका विस्तार नहीं जानते फिर अन्य प्राकृत पुरुषोंका तो कहनाही क्या है ?

इसी वर्त्ताको वेद भी कह रहा है, कि " **पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** " ये चराचर सारे भूतमात्र जो इधर उधर देखनेमें आते हैं अर्थात् भूलोकादिसे अन्तरिक्षादि लोकोंतक जितनी भगवान्‌की विभूतियां हैं वे उनके ऐश्वर्यके एक पादमें अर्थात् चतुर्थांश हैं फिर जब इस चतुर्थांश रचनाकी ही विभूतियोंके विस्तारका कहीं अन्त नहीं है तो शेष जो दिव्य तीन पाद हैं उनका अन्त कौन पासकता है ? देखो ! केवल तारागणोंकीही रचनाकी ओर देखो, कि इनकी गणना कभी भी किसीसे नहीं होसकती अतएव भगवत्‌की विचित्र रचनाओंका थाह पाना दुस्तर है।

शंका— जब भगवत्‌के ऐश्वर्य्योंके वेदने चार खंड किये तब तो ऐश्वर्य्य परिमित होगया । क्योंकि जो अप्रमेय वस्तु है उसका प्रमाण नहीं होता और जिसका प्रमाण नहीं होसकता उसका खंड भी नहीं होसकता फिर जब ब्रह्मैश्वर्य्य अप्रमेय है तो वेदोंने चार पाद क्यों कहे ?

**समाधान**— जो सच पूछो तो वेदोंने यथार्थमें चार पाद नहीं कहे। जो कुछ कहा केवल सर्वसाधारणके बोध निमित्त वाचारंभण विकारके कारण अनुमान करके कहा क्योंकि जब किसी बच्चेको कोई वृद्ध कुछ समझाना चाहता है तो उस बच्चेके मस्तिष्कके योग्य जो वार्ता होती है उसीको कहकर बोध कराता है। अतएव यहांसमझानेवाला वेद तो वृद्धरूप है और सर्वसाधारण उसके बच्चोंके समान हैं इसी कारण वेद भगवत्के **अप्रमेय** ऐश्वर्योंका चार खंड कर एक खंडमें सर्व भूतोंमें अनुमान करता है शेष तीन दिव्य बताता है अर्थात् स्थूल ऐश्वर्य्योंसे सूक्ष्म ऐश्वर्योंका अधिक विस्तार है। इस कारण स्थूलको एक पाद और सूक्ष्म अर्थात् दिव्य विभूतियोंको तीन पाद कहा है यथार्थमें तो विभूतियां अनन्त हैं उनके पाद केवल समझनेही मात्र कहे-गये। इसलिये यहां वाचारंभण विकारमात्र है यथार्थमें भगवान्के ऐश्वर्य्योंके पाद नहीं बन सकते क्योंकि उसके विभव अमाता तथा अनन्त हैं। शंका मत करो!

भगवान्ने जो अर्जुनको यहां परन्तप कहकर सम्बोधन किया इसका कारण यह है, कि "**परान् शत्रून् तापयतीति परन्तपः**" अर्थात् शत्रुओंको जो ताप देवे उसे कहिये **परन्तप**। सो भगवान्का यहां मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुनको एक प्रकारका संकेत करके अपनी विभूतियोंकी दृढ उपासनाका उपदेश करें। अर्थात् अर्जुन इन उपर्युक्त ७२ विभूतियोंका पूर्णरूपसे अपने हृदयमें स्मरण कर अपने रागद्वेषादि शत्रुओंका नाश करे। इसी कारण उसे परन्तप कहकर पुकारा है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [ एष तूद्देशतः प्रोक्तः विभूतेर्विस्तरो मया ] यह जो कुछ मेरे द्वारा मेरी विभूतियोंका विस्तार कहागया वह केवल ( उद्देशतः ) एक देशकरके अर्थात् संक्षेपमात्र कहागया क्योंकि इस सिरपरे उपस्थित युद्धके समय समग्र विभूतियोंका विस्तार कहना नहीं बनसकता ॥ ४० ॥

अब भगवान् सर्वप्रकारके उत्तम शोभायमान और चित्ताकर्षण करनेवाली वस्तुओंको देखनेमात्रसे ही अपनी विभूतियोंके ग्रहण करलेनेका उपदेश करते हुए कहते हैं—

मू०— यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः— यत् यत्, सत्त्वम् ( वस्तुजातम् ) विभूतिमत् ( ऐश्वर्ययुक्तम् ) श्रीमत् ( श्रीः विद्यते यस्मिन् तत् । लक्ष्मीः शोभा वा तत्सहितम् संपद्युक्तम् ) वा, ऊर्जितम् ( बलातिशययुक्तम् । केनचिद्गुणविशेषेण अतिशयितम् ) एव, तत् तत्, एव, त्वम्, मम, तेजोंऽशसंभवम् ( तेजसः प्रभावस्य अंशः तस्मात्तेजोंऽशात् संभवति तत् ) अवगच्छ ( जानीहि ) ॥ ४१ ॥

पदार्थ—(यत् यत्) जो-जो (सत्त्वम्) वस्तु (विभूतिमत्) ऐश्वर्यसे युक्त तथा ( श्रीमत् ) लक्ष्मी, शोभा वा कान्तिसे युक्त ( वा ) अथवा (ऊर्जितम्) निश्चय करके अतिशय बलमे युक्त है ( तत् तत् ) तिस-तिसको ( त्वम् ) हे अर्जुन ! तू ( मम तेजोंऽशसंभवम् ) मेरे तेज़के अंशसे ही उत्पन्न (एव) निश्चय करके ( अवगच्छ ) जान ॥ ४१ ॥

भावार्थः— अब भगवान् संक्षिप्तरूपसे अपनी अन्य विभूति-योंका परिचय देतेहुए कहते हैं, कि [ यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ] अर्थात् जिन जिनमें ऐश्वर्य्ययुक्त तत्त्व देखेजाते हैं चाहे वे जड हों वा चेतन। जैसे जडमें त्रिशूल, अमृत, चिन्तामणि इत्यादि तथा चेतनमें बडे-बडे विद्वान, ऋषि, महर्षि, चक्रवर्त्ती वा व्याघ्र, सिंह इत्यादि। मुख्य तात्पर्य भगवान्के कहनेका यह है, कि जो वस्तु ऐश्वर्ययुक्त, प्रभावयुक्त तथा कान्तियुक्त है जैसे जडमें प्रचण्डजलकी वर्षा वा वायुका प्रबल वेग सरिता, सागर इत्यादिकी लहरें इत्यादि और चेतनमें बडे-बडे वीर योद्धा रणके सम्मुख प्राणदेनेवाले ये भीष्म, द्रोण तथा तू अर्जुन इत्यादि सबोंमें जो कुछ शक्ति और चमत्कार विशेषरूपसे देखपडते हैं तथा यों भी समझलो, कि जिन-जिनको देखकर प्राणियोंके चित्तमें एक विशेषप्रकारका शुद्धभाव उत्पन्न होकर उधरहीको आकर्षित होजाता है [ तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ] उन-उनको हे अर्जुन! तू मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न जान! अर्थात् उन-उनको तू मेरी ही विभूतियोंका अंश जान!।

प्रिय पाठको! प्राणियोंके शरीरमें जो लावण्य है वह उन्हींकी सौन्दर्यरूप विभूतिका अंश है। तहां ऋग्वेदका वचन है, कि "कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्" ( ऋग्वे० मं० ४ अ० १ सू० ७ मं० ९ )

अर्थ— हे ब्रह्मदेव! ( ते कृष्णं एम ) तेरे कृष्ण स्वरूपकी शरण हमलोग प्राप्त हों वह तेरा कृष्णरूप कैसा है? कि ( रुशतः पुरोभाः ) जिसके परम प्रकाशमय शरीरकी छवि भक्तोंके आगे शोभायमान होती है

और (चरिष्णुवर्चिः) जिसके तेजकी गमन करनेवाली चिनगारी (वपुष्मतामिदेकम्) शरीरधारियोंके शरीरमें सुन्दरताईका एक मुख्य कारण है अर्थात् जिसके तेजका एक अंश मात्रही रूपवानोंमें रूप है।

अब भगवान् अपनी विभूतियोंको अधिक कहना उचित न जानकर अगले श्लोकमें समाप्त करते हैं—

**मू०— अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन!।**
**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥**

पदच्छेद— अथवा (पक्षान्तरे) [हे] अर्जुन! एतेन (सत्त्वशेषेण) बहुना (बहुप्रकारेण। पृथक् २) ज्ञानेन (ज्ञानेन) तव, किम् (किं कार्यम्) अहम् (जगत्स्रष्टा। सच्चिदानन्दरूपः) इदम् (दृष्टश्रुतम्) कृत्स्नम (संपूर्णम) जगत् (विश्वम्) एकांशेन (एकदेशमात्रेण। एकावयवेन) विष्टभ्य (विशेषतः स्तम्भनं कृत्वा) स्थितः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(अथवा) अथवा (अर्जुन!) हे अर्जुन! (एतेन, बहुना, ज्ञानेन) इतना बहुत प्रकार जाननेसे (तव, किम्) तुम्हारा क्या कार्य सरेगा? तुम केवल इतना ही जानलो, कि (अहम्) मैं सृष्टिकर्त्ता (इदम्) इस (कृत्स्नम्) संपूर्ण (जगत) संसारको (एकांशेन) अपनी विभूतियोंके एक अंशमात्रसे (विष्टभ्य) धारण करके (स्थितः) स्थित हूं ॥ ४२ ॥

**भावार्थः**--- अब भगवान् अर्जुनको थोडेही अक्षरोमें अर्थात् एकही वाक्यमें अपनी अप्रमेय विभूतिका परिचय देतेहुए कहते हैं, कि

[ अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ! ] हे अर्जुन ! इन मेरी अनन्त विभूतियोंको बहुप्रकार पृथक् पृथक् जाननेसे तेरा क्या काज सरेगा ? कुछ भी नहीं ! इस कारण ऐसे थोडे समयमें केवल विभूतियोंके कहने सुननेमें हमलोगोंका फंस जाना और यहां अटककर अन्य आवश्यक विषयोंके कहने सुननेसे वंचित रहना उचित नहीं। मेरी विभूतियोंका जब कहीं पता ही नहीं है तो उनको पृथक् २ कर कहनेसे क्या लाभ होगा ? तू जितना एक ओरसे सुनता चला जावेगा दूसरी ओरसे भूलताचलाजावेगा क्योंकि स्मृतिसत्ताकी इतनी शक्ति कहां है, कि मेरी विभूतियोंको पृथक्-पृथक् स्मरण रखसके । ब्रह्मादि भी मेरी विभूतियोंका स्मरण नहीं रखसकते फिर मनुष्योंका तो कहनाही क्या है ? इसीलिये मैं तुझसे वारंवार कहता हूं, कि इन मेरी विभूतियोंको पृथक्-पृथक् सुननेसे तेरा कुछ भी कार्य्य नहीं सरेगा। यदि तू यह कहे, कि उपासनाके तात्पर्यसे तू मेरी अप्रमेय विभूतियोंको जानना चाहता है तो ऐसा हो नहीं सकता । क्योंकि जो वस्तु स्मरण नहीं रहसकती उसकी उपासना कैसे होसकती है ? अतएव ये ७२ विभूतियां जो मैंने तुझसे कही हैं इनहीमें जिसे तू चाहे उसकी उपासना करसकता है वरु उचित तो यह होगा, कि मैंने जो तुझसे कहा है, कि " वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि " सो तू मेरी इस वासुदेव मूर्त्तिहीकी उपासना कर । मैं जो मोरमुकुट मकराकृत कुण्डल धारण किये पीताम्बरे और वनमाला गलेमें दिये मन्द-मन्द मुसकानसे बार-बार तेरी ओर देख चुका हूं तू उसी मेरी मूर्त्तिकी उपासना करे ! और केवल इतना जानले, कि [ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ] मैं सच्चि-

दानन्दस्वरूप इस संपूर्ण चराचररूप जगत्को केवल अपने तेजके एक अत्यन्त अल्प अंशसे अर्थात् अपने तेजके अणुमात्रसे धारण करके स्थित हूं।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे एक महान् सागरकी रेतियोंमें एक छोटीसी रेती होती है ऐसे मेरी विभूतियोंको विस्तृत रेतियोंका एक भण्डार जान और तब यह विचार कर, कि सागरके किनारेकी अनगिनत रेतियोंमें एक रेती कितनी छोटी है। इसी प्रकार मेरी अनन्त विभूतिरूप सागरके किनारेकी असंख्य रेतियोंमेंसे एक छोटीसी रेतीपर यह सारा ब्रह्माण्ड वर्त्तमान है ॥ ४२ ॥

रेखां ललाटपटले हरिचन्दनीया-
मालोक्य भानुकिरणा लघुतां प्रयाताः
तिष्ठन्ति नैव धरणौ निवसन्ति दूरे,
गच्छन्ति रात्रिसमये वितलेतले ते ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां प्राकृतटीकायां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

## इति दशमोऽध्यायः

# शुद्धाशुद्धपत्रम्।

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २२४८ | १२ | प्रुपच्यते | प्रमुच्यते |
| २२५० | २० | वि ेक | विवेक |
| २२५२ | १६ | वे ोंकी | वेंतोंकी |
| २२५५ | १५ | यथार्थ | यथार्थ |
| ,, | २१ | चां ीमें | चांदीमें |
| २२५६ | २ | वत् | यत् |
| २२६० | ६ | रुपरिमेत | रुपरमेत |
| २२६४ | ऊपर | अ० ६ | अ० १० |
| २२६१ | ८ | तुष्टियां | तुष्टियां |
| २२७५ | ६ | वैष्णव्य | वैष्णवी |
| २२७८ | २० | वन्तु | वस्तु |
| २२७६ | ४ | वसिष्ठ | वसिष्ठं |
| ,, | ७ | प्सरंसो | प्सरसो |
| ,, | १६ | सृष्ट | सृष्टं |
| २२८१ | ६ | ऐश्वंर्यम् | ऐश्वर्यम् |
| २२८५ | १२ | तात्वं | तत्वं |
| २२८६ | २० | मनुभवन्ति | मनुभवन्ति |
| २३१३ | ११ | स्वरूका | स्वरूपका |
| २३१४ | ५ | प िपक्वता | परिपक्वता |
| ,, | ६ | त्र ामुक्त्वा | त्रयं मुक्त्वा |
| २३१६ | २१ | पराक्रमवाने | पराक्रमवाले |
| २३२० | १० | आकर्णयत: | आकर्णयतः |
| २३३० | ६ | प्रसि द्धाः | प्रसिद्धाः |
| ,, | १७ | नहीं सकता | नहीं कह सकता |
| २३३४ | ३ | 'गुडकाका' | 'गुडाका 'का |
| २३३५ | ७ | पालान | पालन |
| २३५४ | १५ | तपसोऽजा | तपसोऽग्यजा |
| ,, | ,, | रालचजा | रालिरजा |
| ,, | १६ | समुद्रोऽर्णवः | समुद्रो अर्णवः |
| ,,६० | १ | श्रेष्ठ | श्रेष्ठ |
| ,, ७१ | १३ | नामत्रा | नामका |
| ,, ७३ | १२ | शीर्श | शीर्ष |
| ,, ८० | ६ | ऋषिरतृप्दु | ऋषिस्त्रिष्टु |
| ,, ८३ | ४ | कलयात | कलयना |
| ,, ८४ | ६ | दैत्योंम | दैत्योंमें |
| ,, | १५ | कालकी | कालके |
| ,, ६१ | १ | गंगाया | गंगायां |
| ,, ,, | ७ | गंगामे | गंगामें |
| ,, ६२ | ३ | शंसय: | संशयः |
| २४०३ | १६ | रह यवा चि | रहस्यवाचि |
| २४२२ | १८ | ऋतु | ऋतु |
| २४३० | १४ | दुर्दन्तानां | दुर्दान्तानां |
| २४३५ | १० | संवेत | संकेत |
| २४३६ | १५ | मैंनेही | मैंने ही |
| २४३८ | ८ | वर्त्ताको | वार्ताको |
| २४४० | ११ | सत्त्वम | सत्वम |
| ,, | ,, | ,, | जातमू | जातम् |